॥ श्रीवीतरागाय नमः ॥

श्रीमत्पण्डितप्रवर आशाधर विरचित

सागारधर्मामृत

पूर्वार्द्ध।

अनुवादक—

पंडित लालाराम जैन-इन्दौर।

प्रकाशक—

मूलचंद किसनदास कापडिया-सूरत।

सूरतनिवासी शाह किसनदास पूनमचन्द कापडियाकी
सौ स्वर्गवासी पत्नी (हमारी माता) हीराकोरबाई
और
भावनगरनिवासी स्वर्गवासी सेठ मूलचंद गुलाबचंद
अमरजी बागड़ियाकी विधवा मणीबाईकी ओरसे
अपनी स्वर्गीय सौ पुत्री संतोकके
स्मरणार्थ
'दिगंबर जैन' के ग्राहकोंको आठवें वर्षका चौथा उपहार।

प्रथमावृत्ति — वीर सं २४४१ — प्रतियाँ २२५०

मूल्य डेढ़ रुपया।
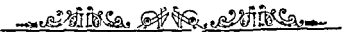
Irinted by
Matoobhai Bhaidas at the K A s Surat ' Jain" Printing
Press Khapatia Chakla-Surat

Published by
Moolchand Kisandas Kapadia Proprietor Digamber
Jain Poostakalaya and Hon Editor
Digambar Jain"

Published from
Khapatia Chakla, Chandawadi-Surat

प्रस्तावना।

जिसमें श्रावकाचार याने श्रावककी क्रियाओंका बहुत विस्तृत निरुपण किया गया हो ऐसा यदि कोई बडा महत्वका शास्त्रीय ग्रन्थ जैनोंमें है तो वह श्रीमत् पंडितप्रवर आशाधरजी विरचित श्री सागारधर्मामृत (संस्कृत) शास्त्र है जिसका मराठी भाषामें अनुवाद कई वर्ष हुए प्रकट हो चुका था और उसकी दूसरी आवृत्ति भी निकल चुकी है तो भी गुजराती और हिन्दी भाषामें इस ग्रंथका मूलसहित अनुवाद प्रकट नहीं हुआ था और श्रीयुत् नानचंद पुंजाभाई बी ए ने इस ग्रन्थका गुजराती अनुवाद तैयार करके कोइ तीन वर्ष हुए हमारी पास प्रकाशनार्थ भेजा था, परंतु गुजराती भाषामें विक्रियार्थ प्रकट किया जाय तो ज्यादे प्रतियां विकनेकी हमे आशा न थी क्योंकि गुजरातमें धार्मिक शास्त्रोंके पढनेकी रुचि बहुत कम है और यदि कोई ग्रंथ गुजराती भाषामें विक्रियार्थ प्रकट किया जाता है तो १०० २०० प्रतियांभी बिकती नहीं है इसलिये इस ग्रंथको गुजराती भाषामें प्रकट करके ' दिगंबर जैन ' के ग्राहकोंको उपहारस्वरुप बांटनेका हमारा पहले इरादा था जो हम खास सचित्र अंकके विज्ञापनमें प्रकट कर चुके थे, जिसको पढकर हमारे स्नेही मित्र पं नाथूरामजी प्रेमी (संपादक, 'जैनहितैषी')ने हमको सूचित किया कि आप इस ग्रन्थको गुजराती भाषामें प्रकट करना चाहते है सो ठीक है परंतु सर्वसाधारणके समक्षमें आनेवाली हिन्दी भाषामें यदि यह शास्त्रीय ग्रंथ प्रकट किया जायगा तो बहुतही उत्तम होगा और हिन्दी अनुवाद पं लालारामजी जैन ('आदिपुराण' ग्रंथके अनुवादक) ने कई वर्ष हुये तैयार करके रक्खा है, इसलिये आप

जहांतक हो सके इस ग्रंथको अभी मूल संस्कृत सहित हिन्दी भाषामें ही प्रकट कीजिये। यह सूचना मिलतेही हमारा भी ऐसा विचार हुआ कि यदि इस ग्रंथको हिंदी भाषामें प्रकट करेंगे तो 'दिगंबर जैन' के गुजराती, हिन्दी, मराठी आदि भाषाके जानकार सभी ग्राहक इसका लाभ आसानीसे ले सकेंगे इसलिये फिर हमने पं. लालारामजीसे पत्रव्यवहार किया तो आपने लिखा कि हमारे पास हिंदी अनुवाद तैयार तो है किन्तु प्रथमकी और अभीकी हमारी भाषामें बहुत अंतर होगया है इसलिये इस मन्तव्यके ग्रंथका हिन्दी भाषामें विस्तृत और सरल अनुवाद हम फिरसे लिखना चाहते हैं। यदि आप स्वीकार करें तो बहुत शीघ्रही सारे ग्रंथका अनुवाद लिख कर भेज सकते हैं। यह सूचना पसंद होनेपर हमने इस ग्रंथका हिन्दी भाषामें अनुवाद पं. लालारामजीसे शास्त्रीद्वारा तैयार कराया और अब मूल संस्कृत सहित यह प्रकट किया जाता है। यह ग्रंथ बहुत बड़ा होजानेसे दो विभागोंमें प्रकट किया जायगा जिसमें यह प्रथम भाग (पूर्वार्द्ध) चार अध्यायोंमें प्रकट किया जाता है और दूसरा भाग (उत्तरार्द्ध) शेष चार अध्यायोंमें आगामी वर्षमें प्रकट किया जायगा। इस शास्त्रीय ग्रंथके कर्ता श्रीमान् पंडितप्रवर आशाधरजी का परिचय पानेके लिये आपका विस्तृत और ऐतिहासिक जीवन चरित्र जो 'जैनहितैषी' में प्रकट हुआ था उसीको हमने इस ग्रंथकी आदिमें लगा दिया है और विषयानुक्रमणिका भी तैयार करके लगा दी गई है। इस ग्रंथकी सब मिलकर २२५० प्रतियां प्रकट की जाती हैं जिसमेंसे अंदाज २००० प्रतियां 'दिगंबर जैन' के ग्राहकोंको उपहारस्वरूप दी जाती हैं और शेष बिक्रीके लिये अलग निकाली गई हैं। 'दिगंबर जैन' के ग्राहकोंको जो प्रतियां उपहारस्वरूप दी जाती हैं

उनमेंसे आधी सूरतनिवासी साह किसनदास पूनमचद कापडिया-की स्वर्गीय सौ पत्नी हीराकोरबाई(हमारी माताजी)के स्मरणार्थ और आधी भावनगरनिवासी स्वर्गीय सेठ मूलचद गुलाबचद अमरजी वागडियाकी विधवा मणीबाईकी ओरसे अपनी स्वर्गीय स्त्री पुत्री सतोकके स्मरणार्थ वितरण की गई है और हीराकोरबाई तथा सतोकबाईका चित्र भी आधी प्रतियोंमें अलग २ प्रकट किया गया है। हम आशा है कि अब तो ऐसे शास्त्रदानका अनुकरण हमारे हिन्दी भाषाके जानकार अन्य भाई भी करेंगे।

हमारी मातृभाषा गुजराती है । हिंदी भाषाका कुछ साधारण परिचय होनेसे हमने इस ग्रन्थको प्रकट करनेका साहस किया है अतएव दृष्टिदोषसे कुछ अशुद्धिया रह गई हों, विद्वद् पाठकगण उन्हें शुद्ध करके पढेंगे ऐसी हम आशा है ।

वीरनिर्वाण सं २४४१
ज्येष्ठ शुक्ल ५ सं १९७१
ता १७–६–१५

जैनजातिका सेवक–
मूलचद किसनदास कापडिया–सूरत
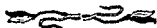
शुद्धिपत्र ।

पृष्ठ ।	पंक्ति ।	अशुद्ध ।	शुद्ध ।
७	१६	योगियोंमें	योनियोंमें
९	१७	सम्यक	सम्यग्
१७	१८	पापा	पापा
२४	१६	कभी	कभी न कभी
२	३	उत्तन	उत्पन्न
२	९	मनगा	मपवर्गा
२	१०	हामय	हीमय
२७	७	वैदक	वैद्यर
२७	१४	ययोग्य	व्ययोय
४३	१८	प्रतिभा	प्रतिमा
४३	२२	पधिम्यो	पधिभ्यो
८७	९	प्रायश्चित	प्रायश्चित्त
५१	९	पकारकी	प्रकारकी
५२	२१	सक्षप	सक्षप
५७	७	मधु	मधू
५८	११	द्युत	द्यत
६३	१	उस	इस
६५	८	धिकार	धिकार
६६	१८	इकट	इकट्ठे
७१	८	गाताका	माताका
७७	३	त्यध	त्यघ

पृष्ठ।	पंक्ति।	अशुद्ध।	शुद्ध।
७८	३	फल्गु	फल्गु
७८	११	मुक्ते	भुक्ते
७९	१	रात्री	रात्रि
८०	१८	जुआ	जूआ
८	७	सवैर	सवेरे
८२	१०	कामम	कामभ
८०	९	घिसी	घिसे
९०	८	त्यजेत	त्यजेत्
९१	३	चतुर्दशीको रात्रीको	चतुर्दशीकी रात्रिको
९२	९	शुद्र	शूद्र
९४	६	गुरुन्या	गुरुन्पा
९८	८	मुहूर्त	मुहूर्त
९८	२०	आादि	आदि
१०४	७	द्वार	द्वारा
,,	८	लगाके	लोगोंके
१०६	१४	स्वाधिन	स्वाधीन
१०८	१५	विधर्गी	विधर्मी
१०८	४	गृहस्य	गृहस्थ
१०८	९	अतरग	अतरग
१११	४	इकटा	इकट्ठा
१११	९	मयि	मपि
११५	१५	८०	४०
११९	१४	गूरवो	गुरवो
१२०	१४	अत करण	अतःकरण

पृष्ठ।	पंक्ति।	अशुद्ध।	शुद्ध।
१२८	३	ज्ञेरेखे	ज्ञारेखे
१२८	२०	पुप्य	पुण्य
१३३	१६	दपत्यो	दपत्यो
१४४	१५	भावानेक्षिप	भाव निक्षेप
१४८	१७	शुभ	शुभ
१४८	२०	वैसा	नैसे
१४०	०	मोगों	भोगों
१५०	५	वैन्या	वेश्या
१५०	१५	रुद्धियों	ऋद्धियों
१५१	१४	पापका	नाल्का
१५१	२१	मूखराया	मूपराया
१५२	३	मता	गता
,,	९	रिगते	रिंगते
१५२	६	उद्मम	उद्गम
१५५	१०	बुद्ध	बद्ध
१५७	१५	आर्जिका	आर्जिका
१५८	१	स्त्रियों	स्त्रिया
,,	६	तुआ	हुआ
१६०	१५	श्रेदमभय	श्वेदमय
१६४	१६	असावधानी	असावधानी
१६६	१५	आरमी	आरमी
१८०	६	दीन	दौन
१८३	१९	मेवाथो	मेवार्यात्
१८५	१४	पारन्ध	मारन्ध

पृष्ठ।	पंक्ति।	अशुद्ध।	शुद्ध।
१८६	२	तत्वन्	तन्वन्
१८९	४	द्रुत	द्रुत
१९२	१	जमडे	चमडे
२०६	१८	गृहस्थ	वैश्य
२०८	१७	सघ	सघ
२१७	१५	है	है
२२०	१९	अठाईस	अठाईस
२२८	२०	दया	दया
२२६	१५	विपय	विषय
२२९	११	उपवशन	उपवेशन
२३१	१६	घात	घात
२३१	१०	तालु	तावत्कु
२३८	४	उसे	उस
२३६	११	चिरना	चीरना
२४७	२०	स्वरूप स्वरूप	स्वरूप
२४७	२१	रूप	रूप पाप
२५७	१	त्यागके	त्यागके समान
२६३	६	कूरला	कुरला
२६३	२१	कर ता	करे तो
२६५	१	कन्यालोक	कन्यालोक
२६५	१८	इस	इसी
२६६	६	कमी	कभी
२६९	९	त्कल्ये	त्कल्ये
२७१	१७	दोनों मी	दोनोंमें

पृष्ठ।	पंक्ति।	अशुद्ध।	शुद्ध।
२७३	१८	घाड़े	घोड़े
२७६	११	मेरे	मरे
२७९	१३	जिन्द	जिल्द
२८०	१०	मूल	मूल्य
२८१	१	तराजू	तराजू
२८२	१८	उलथा	उलथा
२८५	१	अन्य	अन्य
२८७	२	वैश्या	वेश्या
२८०	१६	ब्रह्मचर्या	ब्रह्मचर्य
२९१	१	ह	है
२९४	१	स्त्री	जो स्त्री
२९६	६	और	भग और
२९८	६	सम्हाल्ने	सम्हाल्ने
३०२	१०	गीनाये	गिनाये
३०४	७	वास्तवादि	वास्तवादि
३०५	३	मोधि	मोधि
३०६	७	होम	होम
३०६	८	घीकी	घीकी
३०५	८	आहुति	आहुति दे
३०८	६	अपधा	अथवा
३१०	२०	लाभ	लोभ

स्वर्गवासी [illegible] उर्फ निर्मला

(भावनगरनिवासी स्वर्गीय शाह मूलचंद गुलाबचंद अमरजी नागडियानी स्वर्गस्थ की पुत्री)

जन्म विक्रम सं. ७२ मृत्यु विक्रम सं. १९७०

स्वर्गवासी श्रीमती हीराकोरबाई

(सूरतनिवासी शाह किसनदास पूनमचंद कापडियाकी स्वर्गवासी सौ० पत्नी और 'दिगंबर जैन' के संपादककी पूज्य माता)

जन्म विक्रम सं० १९१० मृत्यु विक्रम सं० १९७०

पंडितप्रवर आशाधरका परिचय।

" आशाधरो विजयतां कलिकालिदासः "

इस ऋषितुल्य विद्वान्‌का नाम आशाधर था। आशाधरके पिताका नाम सल्लक्षण (सलखण) और माताका नाम श्री-रत्नी था। जैनियोंकी ८४ जातियोंमें बघेरवाल नामकी एक जाति है। हमारे चरित्रनायकने इसी बघेरवाल जातिका मुख उज्ज्वल किया था। सपादलक्ष देशमें मंडलकर नामका एक नगर है। पंडित आशाधरका जन्म उसी मंडलकर नगरमें हुआ था[1]।

सपादलक्ष देशको भाषामें सवालख कहते हैं। नागोरके निकटका प्रदेश [2]सवालखके नामसे प्रसिद्ध है। इस देशमें पहले चाहमान (चौहान) राजाओंका राज्य था। फिर सांभर और अजमेरके चौहान राजाओंका सारा देश सपादलक्ष कहलाने लगा था और उसके सम्बन्धसे चौहान राजाओंके लिये "सपादलक्षीय नृपतिभूपति" आदि शब्द लिखे जाने लगे थे।

१—श्रीमानास्ति सपादलक्षविषयः शाकम्भरीभूषण—

स्तत्र श्रीरतिधाममण्डलकरं नामास्ति दुर्गं महत्।

श्रीरत्न्यामुदपादि तत्र विमलव्याघ्रेरवालान्वयात्

श्रीसल्लक्षणतो जिनेन्द्रसमयश्रद्धालुराशाधरः ॥१

२—प्राचीन कालमें 'रणथंभौर'-आसपासके देशको भी सपादलक्ष कहते थे।

आशाधरके समयमें सपादलक्ष देशमें साभरका राज्य भी शामिल था, यह उनके दिये हुए "शाकंभरीभूषण" विशेषणसे स्पष्ट होता है। शाकंभरी झील जिसमें कि नमक पैदा होता है और जिसे आजकल साभर कहते हैं, सवालख देशकी शृंगाररूप थी। मडलकरदुर्गको आजकल 'मांडलगढ़का किला' कहते हैं। यह इस समय मेवाड़ राज्यमें है। उस समय मेवाड़का सारा पूर्वीय भाग चौहानोंके आधीन था। चौहान राजाओंके बहुतसे शिलालेख वहां अबतक मिलते हैं। महाराजाधिराज पृथ्वीराजके समय तक माडलगढ़ सपादलक्ष देशके अन्तर्गत था और वहांके अधिकारी चौहान राजा थे। पीछे अजमेरपर मुसल्मानोंका अधिकार होनेपर वह किला भी उनके हस्तगत हो गया था।

आशाधरकी स्त्री सरस्वतीसे एक छाहड नामका पुत्र था, जिसने धाराके तत्कालीन महाराजाधिराज अर्जुनदेवको अपने गुणोंसे मोहित कर रक्खा था। वह अपने पिताका सुपूत पुत्र था। यद्यपि उसके कीर्तिशाली कार्योंके जाननेका कोई साधन नहीं है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि, वह होगा अपने पिता ही जैसा विद्वान्। इसीलिये पंडितराजने एक श्लोकमें अपने साथ उसकी तुल्ना की है कि "जिस तरह सरस्वतीके (शारदाके) विषयमें मैंने अपने आपको उत्पन्न किया, उसी तरहसे अपनी सरस्वती नामकी भार्याके

गर्भसे अपने अतिशय गुणवान् पुत्र छाहड़को उत्पन्न किया[१]।" छाहड़ सरीखे गुणवान् पुत्रको पानेका एक प्रकारसे उन्हें अभिमान था। जान पड़ता है, उनके छाहड़के अतिरिक्त और कोई पुत्र नहीं था। यदि होता, तो वे अपने ग्रन्थोंकी प्रशस्तिमें छाहड़के समान उसका भी उल्लेख करते। अनगारधर्मामृतकी भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका वि० सं० १३०० की बनी हुई है, जब कि उनकी आयु कमसे कम ६५ वर्षकी होगी, जैसा कि हम आगे सिद्ध करेंगे। इस अवस्थाके पश्चात् पुत्र उत्पन्न होनेकी संभावना बहुत कम होती है।

आशाधरने अपने ग्रन्थोंकी प्रशस्तियोंमें अपना बहुत कुछ परिचय दिया है। परन्तु किसीमें अपने जन्मका समय नहीं बतलाया है। तो भी उन्होंने अपने विषयमें जो बातें कही हैं, उनसे अनुमान होता है कि विक्रम संवत् १२३५ के लगभग उनका जन्म हुआ होगा।

जिस समय गजनीके बादशाह [२]शहाबुद्दीनगोरीने सारे

१— सरस्वत्यामिवात्मानं सरस्वत्यामजीजनत्।
क पुत्रं छाहडं गुण्यं रञ्जितार्जुनभूपतिम् ॥ २ ॥

२—म्लेच्छेशेन सपादलक्षविषये व्याप्ते सुवृत्तक्षति-
त्रासाद्विन्ध्यनरेन्द्रदोःपरिमलस्फूर्जत्त्रिवर्गौजसि।
प्राप्तो मालवमण्डले बहुपरीवारः पुरीमावसन्
यो धारामपठज्जिनप्रमितिवाक्शास्त्रे महावीरतः ॥ ५ ॥
प्रशस्तिकी टीकामें 'म्लेच्छेशेन'का अर्थ "साहबदीनतुरुष्केन" लिखा है।

सपादलक्ष देशको व्याप्त कर लिया था, उस समय सदाचार भग होनेके भयसे मुसलमानोंके अत्याचारके डरमें आशाधर अपने परिवारके साथ देश छोड़कर निकले थे, और मालवाकी धारा नगरीमें आ बसे थे। उस समय मालवाके परमारवशके प्रतापी राना विन्ध्यवर्माका राज्य था। वहा उनकी भुजाओंके प्रचड बलसे तीनों पुरुषार्थोंका साधन अच्छी तरहसे होता था। शहाबुद्दीन गोरीने ईस्वी सन् ११९३ में अर्थात् विक्रम सवत् १२४९ में पृथ्वीराजको कैद करके दिल्लीको अपनी राजधानी बनाई थी। उसी समय अर्थात् सवत १२४९ (ई० सन् ११९३) में उसने अजमेरको अपने आधीन करके वहाके लोगोंकी कतल कराई थी और इसी साल वह अपने एक सरदारको हिन्दुस्थानका सारा कारभार सौंप करके गजनीको लौट गया था। इसके पश्चात् सन् ११९४ और ९५में हिन्दुस्थानपर उसकी छठी और सातवीं चढ़ाई और भी हुई थी। छठी चढ़ाइमें उसने कन्नौज फतह की थी। और सातवींमें दिल्ली, गवालियर, बुन्देलखड, बिहार, बगाल, और गुजरातप्रदेश उसने अपने राज्यमें मिला लिये थे। फिर सन १२०२ में वह ग्यासुद्दीनगोरीके मरनेपर गज़नीके तख्तपर बैठा था, और सन् १२०६ में सिंध नदीके किनारे उसे गक्खर जातिके जगली लोगोंने मार डाला था। इससे मालूम पड़ता है कि, शहाबुद्दीन गोरीने पृथ्वीराज चौहानसे दिल्लीका सिंहासन छीनने ही अजमेरपर धावा किया होगा।

क्योंकि अजमेर पृथ्वीराजके ही अधिकारमें था और उसी समय अर्थात् सन् ११९३ ईस्वीमें सपादलक्षदेश शहाबुद्दीनके अत्याचारोंसे व्याप्त हो गया होगा। यही समय पंडितप्रवर आशाधरके मांडलगढ़ छोडकर धारा नगरीमें आनेका निश्चित होता है।

मांडलगढ़से धारानगरीमें आ बसनेके पश्चात् पंडित आशाधरने एक महावीर नामके प्रसिद्ध पंडितसे जैनेन्द्रप्रमाण और जैनेन्द्रव्याकरण इन दो ग्रन्थोंका अध्ययन किया। आशाधरके गुरु प. महावीर, वादिराज पंडित धरसेनके शिष्य थे। प्रसिद्ध विद्याभिलाषी महाराजा भोजको मरे हुए यद्यपि उन दिनों १९० वर्ष बीत चुके थे, तो भी धारानगरीमें संस्कृत विद्याका अच्छा प्रचार था। उन दिनों संस्कृतके कई नामी नामी विद्वान् हो गये हैं जिनमें वादीन्द्र विशालकीर्ति, देवचन्द्र, महाकवि मदनोपाध्याय, कविराज बिल्हण (मंत्री), अर्जुनदेव, केल्हण, आशाधर आदि मुख्य गिने जाते हैं।

वि० संवत् १२४९में जब कि पंडित आशाधर धारामें आये होंगे, उनकी अवस्था अधिक नहीं होगी। क्योंकि धारामें आनेके पश्चात् उन्होंने न्याय और व्याकरण शास्त्र पढ़े थे। हमारी समझमें उस समय उनकी अवस्था २० वर्षके भीतर भीतर होगी। और इस हिसाबसे उनका जन्म वि० सं० १२३०-२९ के लगभग हुआ होगा, जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं।

जिस समय आशाधर धारामें आये थे, उस समय मालवाके राजा विन्ध्यनरेन्द्र, विन्ध्यवर्मा, अथवा विजयवर्मा थे। प्रशस्तिकी टीकामें ' विन्ध्यभूपतिका ' अर्थ ' विजयवर्मा नाम मालवाधिपति ' किया है। जिससे मालूम होता है कि विन्ध्यवर्माहीका दूसरा नाम विजयवर्मा है। विन्ध्यवर्माका यह नामान्तर अभीतक किसी शिलालेख या दानपत्रमें नहीं पाया गया है। विजयवर्मा परमार महाराज भोजकी पाचवीं पीढ़ीमें थे। पिप्पलियाके अर्जुनदेवके [1]दानपत्रमें उनकी कुल परम्परा इस प्रकार लिखी है –' भोज–उदयादित्य–नरवर्मा, यशोवर्मा, अजयवर्मा, विन्ध्यवर्मा (विजयवर्मा), सुभटवर्मा, अर्जुनवर्मा।" अर्जुनवर्माके कोई पुत्र नहीं था। इसलिये उसके पीछे अजयवर्माके भाई लक्ष्मीवर्माका पौत्र देवपाल (साहसमल्ल) और देवपालके पीछे उसका पुत्र जैतुगिदेव (जयसिंह) राजा हुआ। आशाधर जिस समय धारामें आये, उस समय विन्ध्यवर्माका राज्य था और वि० स० १२९६ में जब उन्होंने सागरधर्मामृतकी टीका बनाई, तब जैतुगिदेव राजा थे। अर्थात् वे अपने समयमें धाराके सिंहासनपर पाच राजाओंको देख चुके थे। केवल ५० वर्षके बीचमें पाच राजाओंका होना एक आश्चर्यकी बात है। आशाधरका विद्याभ्यास समाप्त होते होते उनके पाण्डित्यकी कीर्ति चारों ओर फैलने लगी। उनकी विलक्षण प्रति-

---

१–बंगाल एशियाटिक सुसाइटीका जनरल जिल्द ५ पृष्ठ ३७८।

भाने विद्वानोंको चकित स्तंभित कर दिया। विन्ध्यवर्माके सान्धिवैग्रहिक मंत्री (फारेन सेक्रेटरी) विल्हण नामके एक महाकवि थे। उन्होंने आशाधरकी विद्वत्तापर मोहित होकर एकवार निम्नलिखित श्लोक कहा था,—

"आशाधर त्वं मयि विद्धि सिद्धं निसर्गसौन्दर्यमजर्यमार्य।
सरस्वतीपुत्रतया यदेतदर्थे परं वाच्यमयं[1] प्रपञ्चः॥"

जिसका आशय यह है कि "हे आशाधर! तथा हे आर्य! तुम्हारे साथ मेरी स्वाभाविक सहोदरपना (भ्रातृत्व) और श्रेष्ठ मित्रपना है। क्योंकि जिस तरह तुम सरस्वतीके (शारदाके) पुत्र हो उसी तरह मैं भी हूं। एक उदरसे पैदा होनेवालोंमें मित्रता और भाईपना होता ही है।" इस श्लोकसे इस बातका भी पता लगता है कि आशाधर कोई सामान्य पुरुष नहीं थे। एक बड़े भारी राज्यके महामंत्रीकी जिनके साथ इतनी गाढ मित्रता थी, उनकी प्रतिष्ठा थोड़ी नहीं समझना चाहिये। उक्त विल्हण कविका उल्लेख माण्डूके एक खंडित शिलालेखमें है। उसे छोड़कर न तो उनका बनाया हुआ कोई ग्रन्थ मिलता है और न आशाधरको छोड़कर उनका किसीने उल्लेख किया है। ऐसे राजमान्य प्रतिष्ठित कविकी जब यह दशा है तब पाठक सोच सकते हैं कि कालकी कुटिल गतिने

१—इत्युपश्लोकितो विद्वद्विल्हणेन कवीशिना।
श्रीविन्ध्यभूपतिमहासान्धिविग्रहकेण यः॥ ७॥

हमारे देशके ऐसे कितने विद्वानोंकी कीर्तिका नाम शेष न कर दिया होगा !

आशाधरकी प्रशस्तिमें बिल्हण कवीशका नाम देखकर पहले हमने समझा था कि काश्मीरके प्रसिद्ध कवि बिल्हण ही जिनकी उपाधि विद्यापति थी, आशाधरकी प्रशंसा करनेवाले हैं। परन्तु वह केवल एक भ्रम था। विद्यापति बिल्हण और मालवा राज्यके मन्त्री कवीश बिल्हणके समयमें लगभग डेढ सौ वर्षका अन्तर है। विद्यापति बिल्हण काश्मीरनरेश कलशके राज्यकालमें विक्रम संवत् ११२०के लगभग काश्मीरसे निकला था। जिस समय वह धारामें आया था,[1] भोजदेवकी मृत्यु हो चुकी थी। इससे स्पष्ट है कि विन्ध्यवर्माके मन्त्री बिल्हणसे विद्यापति बिल्हण भिन्न पुरुष थे।

बिल्हणचरित नामका एक काव्य बिल्हण कविका बनाया हुआ प्रसिद्ध है। परन्तु इतिहासज्ञोंका मत है कि उसका कर्ता बिल्हण नहीं है, किसी दूसरे कविने उसकी रचना की है और यदि बिल्हणने की हो, तो वह विद्यापति बिल्हणसे भिन्न होना चाहिये। परन्तु भिन्न होकर भी वह विन्ध्यवर्माका मन्त्री बिल्हण नहीं हो सकता। क्योंकि उक्त काव्यमें जिस वैरिसिंह

१–राजा भोजकी मृत्यु वि. सं. १११२के पूर्व हो चुकी थी और १११५में उदयादित्यको राज्य मिल चुका था, ऐसा परमार राजाओंके लेखोंसे सिद्ध हो चुका है।

राजाकी कन्या शशिकलाके साथ-बिल्हणका प्रेमसम्बन्ध होना वर्णित है, वह विक्रमसंवत् ९०० के लगभग हुआ है। इससे आशाधरके समयके साथ उसका भी ठीक नहीं बैठ सकता है।

शार्ङ्गधरपद्धति और सूक्तमुक्तावली आदि सुभाषित ग्रन्थोंमें बिल्हण कविके नामसे बहुतसे श्लोक ऐसे मिलते है, जो न तो विद्यापति बिल्हणके विक्रमांकदेवचरित तथा [1]कर्णसुन्दरी नाटिकामें है और न बिल्हणचरितमें हैं। क्या आश्चर्य है, जो उनके बनानेवाले आशाधरकी प्रशंसा करनेवाले बिल्हण ही हों।

आशाधरने अपनी प्रशंसा करनेवाले दो विद्वानोंके नाम और भी लिखे हैं, जिनमेंसे एकका नाम उदयसेन और दूसरेका नाम मदनकीर्ति है। ये दोनों ही दिगम्बर मुनि थे। क्योंकि इनके नामके साथ मुनि और यतिपति विशेषण लगे हुए हैं। देखिये, उदयसेन क्या कहते है —

1 कर्णसुंदरीनाटिकाके मंगलाचरणमें जिनदेवको नमस्कार किया गया है। इसका कारण यह नहीं हैं कि विद्यापति बिल्हण जैनी थे। किंतु उक्त नाटिका अणहिल्पाटनके राजा कर्णके जैन मंत्री सम्पत्करके बनवाये हुए आदिनाथ भगवान्के यात्रामहोत्सवपर खेलनेके लिये बनाई गई थी, इसलिये उसमें जिनदेवको नमस्कार करना ही उन्होंने उचित समझा होगा। पीछेसे अपने इष्टदेव शिवपार्वतीको भी नमस्कार किया है।

व्याघ्रेरवालवरवंशसरोजहंस
काव्यामृतौघरसपानसुतृप्तगात्र ।
सल्लक्षणस्य तनयो नयविश्वचक्षु—
राशाधरो विजयतां कलिकालिदास ॥ ३ ॥

अर्थात्—जो बघरवालोंके श्रेष्ठवंशरूपी सरोवरसे उत्पन्न हुआ हंस है, काव्यामृतके पानसे जिसका हृदय तृप्त है, जो सम्पूर्ण नयोंका जाननेवाला है और जो श्रीसल्लक्षणका पुत्र है, वह कलियुगका कालिदास आशाधर जयवन्त होवे।

इसी प्रकारसे श्रीमदनकीर्तिमुनिने कहा था कि—

इत्युदयसेनमुनिना कविसुहृदा योऽभिनन्दितः प्रीत्या ।
प्रज्ञापुञ्जोऽसीति च योऽभिहितो मदनकीर्तियतिपतिना ॥ ४ ॥

"अर्थात् आप प्रज्ञाके पुंज हैं अर्थात् विद्याके भंडार हैं।"

इन दोनों विद्वानोंमेंसे हमको उदयसेनके विषयमें तो केवल इतना ही मालूम है कि वे कविके मित्र थे और मदनकीर्तिके विषयमें इससे अधिक और कुछ नहीं कहा जा सकता कि वे एक 'यतिपति' या जैन मुनि थे। मदनोपाध्याय या बालसरस्वती 'मदन'से कुछ नामसाम्य देखकर भ्रम होता है कि मदनकीर्ति और मदनोपाध्याय (राजगुरु) एक होंगे। परन्तु इसके लिये कोई संतोषप्रद प्रमाण नहीं।

मालवाधीश महाराज अर्जुनदेव बड़े भारी विद्वान और कवि थे। अमरुशतककी उनकी बनाई हुई रससंजीविनी नामकी एक टीका काव्यमालामें प्रकाशित हुई है। इस टीकामें जगह जगहपर 'यदुक्तमुपाध्यायेन बालसरस्वत्यपरनाम्ना मदनेन' इस प्रकार लिखकर मदनोपाध्यायके अनेक श्लोक उदाहरणस्वरूप उद्धृत किये हैं और भव्यकुमुदचन्द्रिका टीकाकी प्रशस्तिके नवमश्लोकके अन्तिमपदकी टीकामें प० आशाधरने भी लिखा है, "आपु मासः, के बालसरस्वतिमहाकविमदनादय।" इससे स्पष्ट हो जाता है कि अमरुशतकमें जिनके श्लोक उदाहरणस्वरूप ग्रहण किये गए हैं, वे ही आशाधरके शिष्य महाकवि मदन हैं। इसके सिवाय प्राचीन लेखमालामें अर्जुनवर्मदेवका जो तीसरा दानपत्र प्रकाशित हुआ है, उसके अन्तमें "रचितामिद राजगुरुणा मदनेन" इस प्रकार लिखा हुआ है। इससे इस विषयमें भी शंका नहीं रहती है कि आशाधरके शिष्य मदनोपाध्याय जिनका दूसरा नाम 'बालसरस्वती' था, मालवाधीश महाराज अर्जुनदेवके गुरु थे।

अमरुशतककी टीकामें जो श्लोक उद्धृत किये गए हैं, उनसे मालूम पड़ता है कि महाकवि मदनोपाध्यायका बनाया हुआ कोई अलंकारका ग्रन्थ होगा जो अभीतक कहीं प्रसिद्ध नहीं है। हमारे एक विद्वान् मित्रने लिखा है कि बालसरस्वती मदनोपाध्यायकी बनाई हुई एक पारिजातमंजरी नामकी नाटिका

है। परन्तु इसके देखनेका हमको अभीतक सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ।

मदनकीर्तिके सिवाय आशाधरके अनेक शिष्य थे। व्याकरण, काव्य, न्याय, धर्मशास्त्र आदि विषयोंमें उनकी असाधारण गति थी। इन सब विषयोंमें उन्होंने अनेकों शिष्योंको निष्णात कर दिया था। देखिये, वे क्या कहते हैं —

> यो द्राग्व्याकरणाब्धिपारमनयच्छुश्रूषमाणान्न कान्
> षट्तर्कीपरमास्त्रमाप्य न यतः प्रत्यर्थिनः केऽक्षिपन्।
> चेरुः केऽस्खलितं न येन जिनवाग्दीपं पथि ग्राहिताः
> पीत्वा काव्यसुधां यतश्च रसिकेष्वापुः प्रतिष्ठां न के ॥ ० ॥

भावार्थ—शुश्रूषा करनेवाले शिष्योंमेंसे ऐसे कौन हैं, जिन्हें आशाधरने व्याकरणरूपी समुद्रके पार शीघ्र ही न पहुँचा दिया हो तथा ऐसे कौन हैं, जिन्होंने आशाधरसे षट्दर्शनरूपी परम शस्त्रको लेकर अपने प्रतिवादियोंको न जीता हो तथा ऐसे कौन हैं, जो आशाधरसे निर्मल जिनवचनरूपी (धर्मशास्त्र) दीपक ग्रहण करके मोक्षमार्गमें प्रवृत्त नहीं हुए हों, अर्थात् मुनि न हुए हों और ऐसे कौन शिष्य हैं, जिन्होंने आशाधरसे काव्यामृतका पान करके रसिक पुरुषोंमें प्रतिष्ठा नहीं पाई हो।

इस श्लोककी टीकामें पंडितवर्यने प्रत्येक विषयके पार पहुँचे हुए अपने एक २ दो २ शिष्योंका नामभी दे दिया है। पंडित देवचन्द्रादिको उन्होंने व्याकरणज्ञ बनाया था, वादीन्द्र

विशालकीर्ति आदिको षट्दर्शनन्यायका ज्ञाता बनाकर वादियों-पर विजय प्राप्त कराई थी, भट्टारक देवचन्द्र विनयचन्द्र आदिको धर्मशास्त्र पढ़ाकर मोक्षमार्गमें प्रवृत्त किया था और मदनोपाध्यायादिको काव्यके पंडित बनाकर अर्जुनवर्मदेव जैसे रसिक राजाओंकी प्रतिष्ठाका अधिकारी (राजगुरु) बना दिया था। पाठक इससे जान सकते है कि आशाधरकी विद्वत्ता, पढ़ानेकी शक्ति और परोपकारशीलता कैसी थी। गृहस्थ होने पर भी बड़े २ मुनि उनके पास विद्याध्ययन करके अपनी विद्यातृष्णाको पूर्ण करते थे। उस समयके इतिहासकी यह एक विलक्षण घटना है, जो नीतिके इस वाक्यको स्मरण कराती है "गुणा पूजास्थान गुणिषु न च लिङ्ग न च वय" अर्थात्, गुणवानोंमें उनके गुण ही पूजनेके योग्य होते है, उनकी उमर अथवा वेष नहीं।

विन्ध्यवर्माका और उनके पीछे उनके पुत्र सुभटवर्माका राज्यकाल समाप्त हो चुकनेपर आशाधरने धारानगरीको छोड दी और नलकच्छपुरको अपना निवासस्थान बनाया। नलकच्छपुरमें आ रहनेका कारण उन्होंने अपने प्यारे धर्मकी उन्नति करना बतलाया है,—

श्रीमदर्जुनभूपालराज्ये श्रावकसुकुले।
जिनधर्मोदयार्थं या नलकच्छपुरेऽवसत्॥ ८॥

है। परन्तु उसके देखनेका हमको अभीतक सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ।

मदनकीर्तिके सिवाय आशाधरके अनेक शिष्य थे। व्याकरण, काव्य, न्याय, धर्मशास्त्र आदि विषयोंमें उनकी असाधारण गति थी। इन सब विषयोंमें उन्होंने सैकड़ों शिष्योंको निष्णात कर दिया था। देखिये, वे क्या कहते हैं —

> यो द्राग्व्याकरणाब्धिपारमनयच्छुश्रूषमाणान्न कान्
> षट्तर्कीपरमास्त्रमाप्य न यतः प्रत्यर्थिनः केऽक्षिपन्।
> चेरुः केऽस्खलितं न येन जिनवाग्दीपं पथि ग्राहिताः
> पीत्वा काव्यसुधां यतश्च रसिकेष्वापुः प्रतिष्ठां न के ॥ ९ ॥

भावार्थ—शुश्रूषा करनेवाले शिष्योंमेंसे ऐसे कौन हैं, जिन्हें आशाधरने व्याकरणरूपी समुद्रके पार शीघ्र ही न पहुंचा दिया हो तथा ऐसे कौन हैं, जिन्होंने आशाधरसे षट्दर्शनरूपी परम शस्त्रको लेकर अपने प्रतिवादियोंको न जीता हो तथा ऐसे कौन हैं, जो आशाधरसे निर्मल जिनवचनरूपी (धर्मशास्त्र) दीपक ग्रहण करके मोक्षमार्गमें प्रवृत्त नहीं हुए हों, अर्थात् मुनि न हुए हों और ऐसे कौन शिष्य हैं, जिन्होंने आशाधरसे काव्यामृतका पान करके रसिक पुरुषोंमें प्रतिष्ठा नहीं पाई हो।

इस श्लोककी टीकामें पंडितवर्यने प्रत्येक विषयके पार पहुंचे हुए अपने एक २ दो २ शिष्योंका नामभी दे दिया है। पंडित देवचन्द्रादिको उन्होंने व्याकरणज्ञ बनाया था, वादीन्द्र

वेशालकीर्ति आदिको षट्दर्शनन्यायका ज्ञाता बनाकर वादियों-
र विनय प्राप्त कराई थी, भट्टारक देवचन्द्र विनयचन्द्र आदिको
र्मशास्त्र पढ़ाकर मोक्षमार्गमें प्रवृत्त किया था और मदनोपाध्या-
यादिको काव्यके पंडित बनाकर अर्जुनवर्मदेव जैसे रसिक
राजाओंकी प्रतिष्ठाका अधिकारी (राजगुरु) बना दिया था।
पाठक इससे जान सकते हैं कि आशाधरकी विद्वत्ता,
पढ़ानेकी शक्ति और परोपकारशीलता कैसी थी। गृहस्थ होने
र भी बड़े २ मुनि उनके पास विद्याध्ययन करके अपनी
वेद्यातृष्णाको पूर्ण करते थे। उस समयके इतिहासकी यह एक
वेलक्षण घटना है, जो नीतिके इस वाक्यका स्मरण कराती है
"गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः" अर्थात्,
गुणवानोंमें उनके गुण ही पूजनेके योग्य होते हैं, उनकी उमर
अथवा वेष नहीं।

विन्ध्यवर्माका और उनके पीछे उनके पुत्र सुभटवर्माका
राज्यकाल समाप्त हो चुकनेपर आशाधरने धारानगरीको छोड़
दी और नलकच्छपुरको अपना निवासस्थान बनाया। नलक-
च्छपुरमें आ रहनेका कारण उन्होंने अपने प्यारे धर्मकी उन्नति
करना बतलाया है,—

श्रीमदर्जुनभूपालराज्ये श्रावकसंकुले।
जिनधर्मोदयार्थं यो नलकच्छपुरेऽवसत् ॥ ८ ॥

इससे यह भी अनुमान होता है कि वे धारासे अकेले आये होंगे। गृहस्थाश्रमसे उन्होंने एक प्रकारसे सम्बन्ध छोड़ दिया होगा।

नलकच्छपुरको इस समय नालछा कहते है। यह स्थान धारसे १० कोसकी दूरीपर है। सुना है, इस समय वहांपर जैनियोंके थोड़ेसे घर और जैनमंदिर हैं। परन्तु आशाधरके समय वहांपर जैनियोंकी बहुत बड़ी बस्ती थी। जैनधर्मका जोर शोर भी वहां बहुत होगा। ऐसी हुए विना आशाधर सरीखे विद्वान् धारा जैसी महानगरीको छोडकर वहां रहनेको नहीं जाते। अवश्य ही वहांपर जैनधर्मकी उन्नति करनेके लिये धारासे अधिक साधन एकत्र होंगे।

जिस समय पंडितवर्य आशाधर नालछाको गये, उस समय मालवामें महाराज अर्जुनवर्मदेवका राज्य था। अर्जुनवर्मदेवके अबतक तीन दानपत्र प्राप्त हुए हैं, जिनमेंसे एक विक्रमसंवत् [1]१२६७का है, जो पिप्पलिया नगरमें है और मंडपदुर्गमें दिया गया था। [2]दूसरा वि. सं. १२७०का भोपालमें है और भृगुकच्छ (भरोंच)में दिया गया था और [2]तीसरा १२७२का है, जो अमरेश्वर तीर्थमें दिया गया था और भोपालमें है। इसके पश्चात् अर्जुनदेवके पुत्र देवपालदेवके राजत्वकालका एक शिलालेख

१–अमेरिकन् ओरियंटल सुसाइटीका जनरल भाग ७, पृष्ठ ३२।
२–अ० ओ० सु० का जनरल भाग ७, पृष्ठ २५।

हरसोदामें मिला है, जो वि स १२७५का लिखा हुआ है। इससे पालूम पडता है कि १२७२ और १२७५के बीचमें किसी समय अर्जुनदेवके राज्यका अन्त हुआ था और १२६७ के पहले उनके राज्यका प्रारम हुआ था। कब प्रारभ हुआ था, इसका निश्चय करनेके लिये विन्ध्यवर्मा और सुभटवर्मा इन दो राजाओंके राज्यकालके लेख मिलना चाहिये, जो अभीतक हमको प्राप्त नहीं हुए हैं। तो भी ऐसा अनुमान होता है कि १२६७के अधिकसे अधिक २–३ वर्ष पहले अर्जुनवर्माको राज्य मिला होगा। क्योंकि सवत् १२९०में जब आशाधर धारामें आये थे, तब भी विन्ध्यवर्माका राज्य था। और जब वे विद्वान् हो गये थे, तब भी विन्ध्यवर्माका राज्य था। क्योंकि मत्री बिल्हणने आशाधरकी विद्वत्ताकी प्रशसा की थी। यदि आशाधरके विद्याभ्यास कालके केवल ७–८ वर्ष गिन जावें, तो विन्ध्यवर्माका राज्य वि० स० १२९७–९८ तक समझना चाहिये। विन्ध्यवर्माके पश्चात् सुभटवर्माके राज्यके कमसे कम ७ वर्ष माने जावें, तो अर्जुनदेवके राज्यारभका समय वि० स० १२६५ गिनना चाहिये। इसी १२६९ के लगभग आशाधर नालछेमें आये होंगे।

पडितप्रवर आशाधरकी मृत्यु कब हुई इसके जाननेका कोई उपाय नहीं है। उनके बनाये हुए जो २ ग्रन्थ प्राप्य हैं, उनमेंसे अनगारधर्मामृतकी भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका कार्तिक

सुदी ९ सोमवार स० १३०० को पूर्ण हुई है । इसके पीछेका उनका कोई भी ग्रन्थ नहीं मिलता है । इस ग्रन्थके बनानेके समय हमारे ख्यालमें पंडितराजकी आयु ६५-७० वर्षके लगभग होगी । क्योंकि उनका जन्म वि० स० १२३०-३१ के लगभग सिद्ध किया जा चुका है । इस ग्रन्थकी प्रशस्तिसे यह भी मालूम होता है कि वे उस समय नालछेमें ही थे । और शायद स० १२६५ के पश्चात् उन्होंने कभी नालछा छोड़ा भी नहीं । क्योंकि उनके १२६५ और १३०० के मध्यके जो दो ग्रन्थ मिलते हैं, वे भी नालछेके बने हुए हैं । एक वि० स० १२८५ का और दूसरा १२९६ का । नालछेमें कविवर जैनधर्मका उद्योत करनेकेलिये आये थे, फिर क्या प्रतिज्ञा पूरी किये बिना ही चले जाते ? अत समय तक वे नालछेमें ही रहे और वहीं उन्होंने अपने अपूर्व ग्रन्थोंकी रचना करके जैनधर्मका मस्तक उंचा किया ।

वर्तमानमें प० आशाधरके मुख्य तीन ग्रन्थ सुलभ हैं और प्राय. प्रत्येक भंडारमें मिल सकते हैं । एक जिनयज्ञकल्प, दूसरा सागरधर्मामृत और तीसरा अनगारधर्मामृत । इन तीनों ही ग्रन्थोंमें वे अपनी विस्तृत प्रशस्ति लिखके रख गये हैं । वि० सवत् १३०० तक उन्होंने जितने ग्रन्थोंकी रचना की है, उन सबके नाम उक्त तीनों प्रशस्तियोंमें लिखे हुए हैं । हम उन्हें यहा क्रमसे प्रकाशित करते हैं :—

स्याद्वादविद्याविशदप्रसाद प्रमेयरत्नाकरनामधेय ॥
तर्कप्रबन्धो निरवद्यपद्यपीयूषपूरो वहतिस्म यस्मात् ॥ १० ॥

सिद्ध्यङ्कं भरतेश्वराभ्युदयसत्काव्य निबन्धोज्ज्वलम्
यस्त्रैविद्यकवीन्द्रमोदनसह स्वश्रेयसेऽरीरचत् ।
योऽर्हद्वाक्यरस निबन्धरुचिर शास्त्र च धर्मामृतम्
निर्माय व्यदधान्मुमुक्षुविदुषामानन्दसान्द्र हृदि ॥ ११ ॥

आयुर्वेदविदामिष्टा व्यक्तु वाग्भटसंहिताम् ।
अष्टाङ्गहृदयोद्योत निबन्धमसृजच्च य ॥ १२ ॥

यो मूलाराधनेष्टोपदेशादिषु निबन्धनम् ।
विधत्तामरकोशे च क्रियाकलापमुज्जगौ [1] ॥ १३ ॥

(जिनयज्ञकल्प)

भावार्थ–स्याद्वादविद्याका निर्मल प्रसादस्वरूप [2]प्रमेयरत्नाकर नामका न्यायग्रन्थ जो सुन्दर पद्यरूपी अमृतसे भरा हुआ है, आशाधरके हृदयसरोवरसे प्रवाहित हुआ । [3]भरतेश्वराभ्युदय नामका उत्तम काव्य अपने कल्याणके लिये बनाया, जिसके प्रत्येक सर्गके अतमें ' सिद्ध ' शब्द रक्खा गया है, जो तीनों विद्याओंके जाननेवाले कवीन्द्रोंको आनन्दका देनेवाला है और स्वोपज्ञटीकासे

1–ये १३ श्लोक तीनों प्रशस्तियोंमें एकसे हैं। अनगारधर्मामृतकी टीकामें बारहवाँ श्लोक १९ वें नम्बरपर है और तेरहवा चौदहवें नम्बर पर है। उनके स्थानपर जो दूसरे श्लोक हैं, वे आगे लिखे गये हैं।
२–३ ये दोनों ग्रन्थ सोनागिरके भट्टारकके भण्डारमें हैं।

प्रकाशित है। धर्मामृतशास्त्र जो कि जिनेन्द्र भगवानकी वाणीरूपीरससे युक्त है और टीकासे सुन्दर है, बनाकर मोक्षकी इच्छा करनेवाले विद्वानोंके हृदयमें अतिशय आनन्द उत्पन्न किया। आयुर्वेदके विद्वानोंकी प्यारी वाग्भट्टसंहिताकी [1]अष्टांगहृदयोद्योतिनी नामकी टीका बनाई, मूल आराधना और मूल [2]इष्टोपदेश (पूज्यपादकृत) आदिकी टीकाएँ बनाईं और अमरकोषपर क्रियाकलाप नामकी टीका बनाई। इसमें जो आदि शब्द दिया है, उससे आराधनासार, भूपालचतुर्विंशतिका आदिकी टीकाएँ समझनी चाहिये। अर्थात् इन ग्रन्थोंकी टीकाएँ भी पंडितवर्यने बनाईं।

ये सब ग्रन्थ विक्रम संवत् १२८५ के पहलेके बने हुए हैं। जिनयज्ञकल्पकी प्रशस्तिमें इतने ही ग्रन्थोंका उल्लेख है। इनके पश्चात् सं० १२९६ तक अर्थात् सागारधर्मामृतकी टीका बनानेके समय तक निम्नलिखित ग्रन्थोंकी रचना और भी हुई –

> रौद्रटस्य व्यधात् काव्यालङ्कारस्य निबन्धनम्
> सहस्रनामस्तवनं सनिबन्धं च योऽर्हताम् ॥ १४ ॥

१ इससे जान पड़ता है कि आशाधर वैद्यविद्याके भी बड़े भारी पंडित थे।

२ पूज्यपादका मूल इष्टोपदेश बम्बईके मन्दिरमें है। इसकी भाषाटीका भी किसी जयपुरी पंडितकी बनाई हुई है।

सनिबन्ध यश्च जिनयज्ञकल्पमरीरचत् ।
त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्रं यो निबन्धालङ्कृतं व्यधात् ॥ १५ ॥
योऽर्हन्महाभिषेकार्चाविधिं मोहतमोरविम्
चक्रे नित्यमहोद्योतं स्नानशास्त्रं जिनेशिनाम् ॥ १६ ॥
(सागारधर्मामृत टीका)

भावार्थ—रुद्रट कविके [1]काव्यालंकार ग्रन्थकी टीका बनाई, अरहंत देवका [2]सहस्रनाम टीकासहित बनाया, जिनयज्ञकल्प सटीक बनाया, त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र (संक्षिप्त) टीकायुक्त बनाया और [3]नित्यमहोद्योत नामक अभिषेकका ग्रन्थ बनाया, जो भगवान्‌की अभिषेकपूजाविधि सम्बन्धी अंधकारको नाश करनेके लिये सूर्यके समान है।

वि० संवत् १२९६ के पीछे बने हुए ग्रन्थोंके नाम अनगारधर्मामृतकी टीकामें इस प्रकार मिलते हैं—

राजीमतीविप्रलम्भं नाम नेमीश्वरानुगम् ।
व्यधात्त खण्डकाव्यं यः स्वयंकृतनिबन्धनम् ॥ १२ ॥
आदेशात्पितुरध्यात्मरहस्यं नाम यो व्यधात् ।
शास्त्रं प्रसन्नगम्भीरं प्रियामारब्धयोगिनाम् ॥ १३ ॥
रत्नत्रयविधानस्य पूजामाहात्म्यवर्णकम् ।
रत्नत्रयविधानाख्यं शास्त्रं वितनुतेस्म यः ॥ १४ ॥
(अनगारधर्मामृत टीका)

१ यह भी सोनागिरके भंडारमें है। २ आशाधरकृत मूल सहस्रनाम प्रायः सब जगह मिलता है। बुंदेलखंडमें प्रायः इसी सहस्रनामका प्रचार है। ३ नित्यमहोद्योत बम्बईके भंडारमें है।

भावार्थ—राजामती विप्रलभ नामका खडकाव्य स्वोपज्ञ टीकासहित बनाया, पिताकी आज्ञासे अध्यात्मरहस्य नामका ग्रन्थ बनाया, जो शीघ्र ही समझनेमें आने योग्य, गभीर और प्रारभके योगियोंका प्यारा है और रत्नत्रय विधानक पूजा तथा माहात्म्यका वर्णन करनेवाला रत्नत्रयविधान नामका ग्रन्थ बनाया।

सवत् १३०० के पश्चात् यदि पडितवर्य दश ही वर्ष जीवित रहे होंगे, तो अवश्य ही उनके बनाये हुए और भी बहुतसे ग्रन्थ होंगे। ग्रन्थरचना करना ही उन्होंने अपने जीवनका मुख्य कर्तव्य समझा था।

आशाधरके बनाये हुए ग्रथ बहुत ही अपूर्व हैं। उन सरीखे ग्रन्थकर्ता बहुत कम हुए है। उनका बनाया हुआ "सागारधर्मामृत" ग्रन्थ बहुत ही अच्छा है। जिसने एकवार भी इस ग्रन्थका स्वाध्याय किया है, वह इसपर मुग्ध हो गया है। अनगारधर्मामृत और जिनयज्ञकल्प ग्रन्थ भी ऐसे ही अपूर्व हैं।

अध्यात्मरहस्य कविवरने अपने पिताकी आज्ञासे बनाया। इससे मालूम पड़ता है कि उनके पिता स० १२९६ के पीछे भी कुछ काल तक जीवित थे। क्योंकि इस ग्रन्थका पहले दो ग्रन्थोंकी प्रशस्तिमें उल्लेख नहीं है, अनगारधर्मामृतकी टीकामें ही उल्लेख है और उसमें जो अधिक ग्रन्थ बतलाये गये हैं, वे १२९६ के पीछेके हैं।

महाराज अर्जुनदेवके वि० संवत् १२७२के दानपत्रके अन्तमें लिखा हुआ है—" रचितमिद महासान्धि० राजा सलखणसमतेन राजगुरुणा मदनेन " इससे ऐसा मालूम होता है कि प० आशाधरके पिता सलखण (सल्लक्षण) महाराजा अर्जुनदेवके सन्धिविग्रह सम्बन्धी मंत्री थे। यद्यपि आशाधरके पिता महाजन थे और दानपत्रमें सम्मति देनेवाले सलखणके साथ 'राजा' पद लगा हुआ है, इससे अन्य किसी सलखण नामक राजाकी भी संभावना भी हो सकती है, परन्तु आशाधरके पिताका संधिविग्रहको मंत्रियोंका राजा होना कुछ आश्चर्यकी बात भी नहीं है। क्योंकि उस समय प्रायः महाजन लोग ही राज्यमंत्री होते थे।

अब हम यहापर तीनों ग्रंथोंकी प्रशस्तियोंके बाकी श्लोक जो ऊपर कहीं नहीं लिखे गये हैं, भावार्थसहित उद्धृत करते हैं —

प्राच्यानि संवर्ज्य जिनप्रतिष्ठाशास्त्राणि दृष्ट्वा व्यवहारमैन्द्रम्।
आम्नायविच्छेदतमश्छिदोऽयं ग्रन्थः कृतस्तेन युगानुरूपम्॥१४॥
खण्डिल्यान्वयभूषणाल्हणसुतः सागारधर्मे रतो
वास्तव्यो नलकच्छचारुनगरे कर्ता परोपक्रियाम्।
सर्वज्ञार्चनपात्रदानसमयोद्योतप्रतिष्ठाग्रणी
पापासाधुरकारयत्पुनरिमं कृत्वोपरोधं मुहुः॥१५॥
विक्रमवर्षसपञ्चाशीतिद्वादशशतेष्वतीतेषु।
आश्विनसितान्त्यदिवसे साहसमल्लापराख्यस्य—॥१६॥

श्रीदेवपालनृपते प्रमारकुलशेखरस्य सौराज्ये ।
नलकुच्छपुरे सिद्धो ग्रन्थोऽयं नेमिनाथचैत्यगृहे ॥१७॥
अनेकार्हत्प्रतिष्ठाप्तप्रतिष्ठैः केल्हणादिभिः ।
सद्यः सूक्तानुरागेण पठित्वाऽयं प्रचारितः ॥ १८ ॥

अलमतिप्रसङ्गेन---

यावत्त्रिलोक्या जिनमन्दिराचाः तिष्ठन्ति शक्रादिभिरर्च्यमानाः ।
तावज्जिनादिप्रतिमाप्रतिष्ठा शिवार्थिनोऽनेन विधापयन्तु ॥१९॥
नन्द्याखाण्डिल्यवंशोत्थः केल्हणो न्यासवित्तरः ।
लिखितो येन पाठार्थमस्य प्रथमपुस्तकम् ॥ २० ॥

इत्याशाधर विरचितो जिनयज्ञकल्पः ।

भावार्थ---प्राचीन प्रतिष्ठापाठोंको वांचेत करके और इंद्रसम्बन्धी व्यवहारको देखकर यह वर्तमान युगके अनुकूल ग्रंथ बनाया, जो कि आम्नायविच्छेदरूपी अंधकारको नाश करनेवाला है । खंडेलवाल वंशके भूषणरूप अल्हणके पुत्र, श्रावकधर्ममें लवलीन रहनेवाले, नलकच्छपुरनिवासी, परोपकारी, देवपूजा, पात्रदान तथा जिनशासनका उद्योत करनेवाले और प्रतिष्ठाग्रणी,पापासाधुने वारवार अनुरोध करके यह ग्रंथ बनवाया। आसोज सुदी १५ वि स १२८५के दिन परमारकुलके मुकुट देवपाल उर्फ साहसमल्ल राजाके राज्यमें नलकच्छपुर नगरके नेमिनाथ चैत्यालयमें यह ग्रंथ समाप्त हुआ। अनेक जिनप्रतिष्ठाओंमें प्रतिष्ठा पाये हुए केल्हण आदि विद्वानोंने नवीन सूक्तियोंके

अनुरागसे इस ग्रथका प्रचार किया । जबतक तीन लोकमें जिन मदिरोंकी पूजा इन्द्रादिकोंके द्वारा होती है, तब तक कल्याणकी इच्छा करनेवाले इस ग्रन्थसे जिनप्रतिमाओंकी प्रतिष्ठा करावें। खंडेलवालवशमें उत्पन्न हुए और न्यासग्रथको अच्छी तरहसे जाननेवाले केल्हणने पाठ करनेके लिये जिनयज्ञकल्पकी पहली पुस्तक लिखी ।

सोऽह आशाधरो रम्यामेता टीका व्यरीरचम् ।
धर्मामृतोक्तसागारधर्माष्टाध्यायगोचराम् ॥ १७ ॥
प्रमारवशवार्धीं दु-देवपालनृपात्मजे ।
श्रीमज्जैतुगिदेवेसि स्थाम्नावन्तीमवत्यलम् ॥ १८ ॥
नलकच्छपुरे श्रीम ामिचैत्यालयेऽसिधत् ।
टीकेऽय भव्यकुमुदचन्द्रिकेत्युदिता बुधै ॥ १९ ॥
षण्णवद्व्येकसख्यानविक्रमाङ्कसमात्यये ।
सप्तम्यामसिते पौषि सिद्धेय नन्दताच्चिरम् ॥ २० ॥
श्रीमानश्रेष्ठिसमुद्धरस्य तनय श्रीपौरपाटान्वय—
व्योमेन्दु सुकृतेन नन्दतु महीचन्द्रोदयाभ्यर्थनात् ।
चक्रे श्रावकधर्मदीपकमिम ग्रन्थ बुधाशाधरो—
ग्रथस्यास्य च लेखितो मलभिदे येनादिम पुस्तकम् ॥२१॥

अलमितिप्रसगेन—

यावत्तिष्ठति शासन जिनपतेश्छेदानमन्तस्तमो—
यावच्चार्कनिशाकरौ प्रकुरुत पुसा दृशामुत्सवम् ।
तावत्तिष्ठतु धर्मसूरिभिरिय व्याख्यायमानानिश—
भव्याना पुरतोऽत्र देशविरताचारप्रबोधोद्धुरा ॥ २२ ॥

इत्याशाधरविरचिता स्वोपज्ञधर्मामृतसागारटीका भव्यकुमुदचन्द्रिकानाम्नी समाप्ता ।

भावार्थ—मैंने (आशाधरने) सागारधर्मामृतकी यह सुन्दर टीका बनाई जिसके आठ अध्याय हैं । जब परमारवशशिरोमणि देवसेन राजाके पुत्र श्रीमान् जैतुगिदेव अपने खड्गके बलसे माल्वाका शासन करते थे, तब नलकच्छपुरके नेमिनाथ चैत्यालयमें यह भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका पौषवदी ७ स० १२९६ को पूर्ण हुई । यह श्रावकधर्मदीपक ग्रन्थ पंडित आशाधरने बनाया और पोरवाडवशरूपी आकाशके चन्द्रमा श्रीमान् समुद्धरश्रेष्ठीके पुत्रने महीचन्द्रकी प्रार्थनासे इसकी पहिली पुस्तक लिखी । उस श्रेष्ठीपुत्रके पुण्यकी बढवारी हो। अन्तरगके अधकारको नष्ट करनेवाला जिनेन्द्रदेवका शासन जब तक रहे और जबतक चन्द्रसूर्य लोगोंके नेत्रोंको आनन्दित करते रहें, तब तक यह श्रावकधर्मका ज्ञान करानेवाली टीका भव्य जनोंके आगे धर्माचार्योंके द्वारा निरन्तर पढी जावे ।

सोऽहमाशाधरोऽकार्षं टीकामेता मुनिप्रियाम् ।
स्वोपज्ञधर्मामृतोक्तयतिधर्मप्रकाशिनिम् ॥ २० ॥

शब्दे चार्थे च यत्किञ्चिदत्रास्ति स्खलित मम ।
छद्मस्थभावात्तच्छोध्य सूरयस्तत्पठन्त्विमाम् ।
नल्कच्छपुरे पौरपौरस्त्य परमार्हत ।
जिनयज्ञगुणौचित्यकृपादानपरायण ॥ २२ ॥

खाण्डिल्यान्वयकल्याणमाणिक्य विनयादिमान्।
साधु पापाभिध श्रीमानचीत्तापपराङ्मुख ॥ २३ ॥
तत्पुत्रो बहुदेवोऽभूदाद्य पितृभरक्षम ।
द्वितीय पद्मसिंहश्च पद्मालिंगितविग्रह ॥ २४ ॥
बहुदेवात्मजाश्चास हरदेव स्फुरद्गुण ।
उदयिस्तम्भदेवश्च त्रयस्त्रैवर्गिकादृता ॥ २५ ॥
मुग्धबुद्धिप्रबोधार्थं महीचन्द्रेण साधुना ।
धर्मामृतस्य सागारधर्मटीकास्ति कारिता ॥ २६ ॥
तस्यैव यतिधर्मस्य कुशाग्रीयधियामपि ।
सदुर्बोधस्य टीकायै प्रसाद क्रियतामिति ॥ २७ ॥
हरदेवेन विज्ञप्तो धनचन्द्रोपरोधत ।
पण्डिताशाधरश्चक्रे टीका क्षोदक्षमामिमाम् ॥ २८ ॥
सिद्धद्भिर्भव्यकुमुदचन्द्रिकेत्याख्ययोदिता ।
द्विष्टाप्याकल्पमेषाम्ना चिन्त्यमाना मुमुक्षुभि ॥ २९ ॥
प्रमारवंशवार्धीन्दुदेवपालनृपात्मजे ।
श्रीमज्जैतुगिदेवेसि स्थाम्नावन्तीमवत्यलम् ॥ ३० ॥
नलकच्छपुरे श्रीमन्नेमिचैत्यालयेऽसिधत् ।
विक्रमाब्दशतेष्वेषा त्रयोदशसु कार्तिके ॥ ३१ ॥
अनुष्टुप्छन्दसामस्या प्रमाण द्विशताधिकै ।
सहस्रैर्द्वादशमितैर्विज्ञेयमनुमानत ॥ ३२ ॥

अलमतिप्रसगेन—

शान्ति श तनुता समस्तजगत सगच्छता धार्मिकै
श्रेय श्री परिवर्धतां नयधुराधुर्यो धरित्रीपति ॥

सद्विद्यारसमुद्गिरन्तु कवयो नामाप्यधन्यास्तु मा

प्राथ्यँ वा कियदेक एव शिवकृद्धर्मोजयत्वर्हताम् ॥ ३२ ॥

इत्याशाधरविरचिताभव्यात्महरदेवानुमताधर्मामृतयतिधर्मटीका समाप्ता ॥

भावार्थ—मुझ आशाधरने यह अनगारधर्मामृतकी मुनियोंको प्यारी लगनेवाली और यतिधर्मका प्रकाश करनेवाली स्वोपज्ञटीका बनाई। यदि इसमें कहींपर कुछ शब्द अर्थमें भूल हुई हो तो उसे मुनिजन पडितजन सशोधन करके पढें, क्योंकि मैं छद्मस्थ हू। नलकच्छपुरमें (नालछेमें) पापानामके एक सज्जन जैनी हैं, जो कि खडेलवालवशके हैं, नगरके अगुए है, जिनपूजा कृपादानादि करनेमें तत्पर हैं, विनयवान् हैं, पापसे पराङ्मुख हैं और श्रीमान् हैं। उनके दो पुत्र हैं एक बहुदेव और दूसरे पद्मसिंह। बहुदेवके तीन पुत्र हैं—हरदेव, उदय और स्तभदेव (?)।

धर्मामृत ग्रन्थके सागारभागकी टीका महीचन्द्र नामके साधुने बालबुद्धि जनोंके समझनेके लिये बनवाई और उसी धर्मामृतके अनगारभागकी टीका बनानेके लिये हरदेवने प्रार्थना की और धनचन्द्रने आग्रह किया। अतएव इन दोनोंकी प्रार्थना और आग्रहसे पण्डित आशाधरने यह टीका जिसका कि नाम भव्यकुमुदचन्द्रिका है कुशाग्रबुद्धिवालोंके लिये बनाई।

यह मोक्षाभिलाषी जीवोंके द्वारा पठन पाठनमें आती हुई कल्पान्त कालतक ठहरे ।

परमार वंशीय महाराज देवपालके पुत्र जैतुगिदेव जिस समय अवन्ती (उज्जैनमें) राज्य करते थे, उस समय यह टीका नलकच्छपुरके नेमिनाथ भगवानके चैत्यालयमें वि० संवत् १३०० के कार्तिक मासमें पूर्ण हुई । इसमें लगभग बारह हजार श्लोक (अनुष्टुप्) है ।

पं० आशाधरके विषयमें जितना परिचय मिल सका, वह हमने पाठकोंके आगे निवेदन कर दिया । इससे अधिक परिचय पानेके लिये आशाधरके दूसरे ग्रन्थोंकी खोज करना चाहिये । मालवामें प्रयत्न किया जावे, तो हमको आशा होती है कि, उनके बहुतसे ग्रन्थ मिले जावेंगे ।

इस लेखके लिखनेमें हमको सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझासे बहुत कुछ सहायता मिली है, इस लिये हम उनका हृदयसे आभार मानते है ।

“ जैन हितैषी ”से उद्धृत ।

विषयानुक्रमणिका ।

—>>❀<<—

विषय। (२९)	पृष्ठ।	श्लोक।
कर्मोंसे फलकी मदता	३३	१३
यशकी आवश्यकता	३८	१४
सम्यग्दर्शन होनेपर सकलसयमी होनेकी सामग्रीके अभावमें देशसयमी या श्रावक होनेकी आवश्यकता	४०	१५
ग्यारह प्रतिमाओंमेंसे एक प्रतिमा धारण करनेवालेकी प्रशसा	४२	१६
ग्यारह प्रतिमाओंके नाम	४३	१७
नित्य पूजा आदि धर्मक्रियाओंके लिये खेती व्यापार आदि आजीविका और पक्ष प्रायश्चित्त आदिके द्वारा उसके दोष दूर करनेका उपदेश	४६	१८
पक्ष, चर्या और साधनका स्वरूप	५०	१९
श्रावकके पाक्षिकादि तीन भेद	५३	२०
दूसरा अध्याय।		
सागारधर्मको स्वीकार करने योग्य भव्य पुरुषका लक्षण	५४	१
श्रावकके आठ मूलगुण	५७	२
अन्य आचार्योंके मतमें मूलगुणोंमें भेद	५८	३
मद्यके त्याग करनेका उपदेश	६१	४
मद्य पीनेमें हिंसा और उसके सेवन करनेवाले तथा त्याग करनेवालोंको कैसे फलकी प्राप्ति होती है उसका उदाहरण	६१	५
विशुद्ध आचरणोंका घमड करते हुये भी मास भक्षण करनेवालोंकी निंदा	६४	६
स्वय मरे हुये जीवोंका मास खानेमेंभी हिंसाका निरूपण	६५	७

विषय।	पृष्ठ।	श्लोक।
सत्याणुव्रतके अतिचार	२७३	४५
अचौर्याणुव्रतका लक्षण	२७६	४६
प्रमत्तयोगसे एक तृण भी लेने अथवा उठाकर किसीको देनेसे अचौर्यव्रतका भंग होना	२७७	४७
पड़े या गड़े धनके त्यागका उपदेश	२७८	४८
जिसमें अपना संदेह है ऐसे धनके त्यागका भी उपदेश	२७९	४९
अचौर्याणुव्रतके अतिचार	२७९	५०
स्वदारसंतोष अणुव्रत धारण करनेकी विधि	२८५	५१
स्वदारसंतोष किसके हो सकता है	२८६	५२
अब्रह्मके दोष	२८९	५३
परस्त्रीसेवनमें भी सुखका अभाव	२९१	५४
स्वस्त्रीसेवनमें भी हिंसा	२९१	५५
ब्रह्मचर्यकी महिमाकी स्तुति	२९२	५६
पतिव्रता स्त्रीकी पूज्यता	२९३	५७
ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतिचार	२९८	५८
परिग्रहपरिमाणाणुव्रत	३०१	५९
अंतरंग परिग्रहके त्याग करनेका उपाय	३०२	६०
बहिरंग परिग्रहके त्याग करनेकी विधि	३०३	६१-६२
परिग्रहके दोष	३०५	६३
परिग्रहपरिमाणके अतिचार	३०६	६४
परिग्रहपरिमाणका उदाहरण सहित फल	३११	६५
अणुव्रतियोंका प्रभाव	३१२	६६

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

श्रीमत्पंडितप्रवर आशाधर विरचित

सागारधर्मामृत ।

प्रथम अध्याय ।

सस्कृत टीकाका मगलाचरण ।

श्रीवर्द्धमानमानम्य मन्दबुद्धिप्रबुद्धये
धर्मामृतोक्तसागारधर्मटीका करोम्यहं ।
समर्थनादि यन्नात्र ब्रुवे व्यासभयात्क्वचित्
तज्ज्ञानदीपिकाख्यैतत्पंजिकायां विलोक्यता ॥

अर्थ — मैं श्रीवर्द्धमान स्वामीको नमस्कार कर अल्पबुद्धियोंको समझानेकेलिये धर्मामृतमें कहे हुये सागारधर्मामृतकी टीका करता हू । इसमें विस्तार होजानेके डरसे समर्थन आदि जो कुछ नहीं कहागया है वह इसकी ज्ञानदीपिका-पंजिका नामकी टीकामें देख लेना चाहिये ।

आगे—धर्मामृतके चौथे अध्यायमें—

सुदृग्बोधो गलद्वृत्तमोहो विषयनिःस्पृहः ।
हिंसादेर्विरतः कार्त्स्न्याद्यतिः स्याच्छ्रावकोऽशतः

अर्थात्—" जिसके सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान विद्यमान है, जिसके चारित्रमोहनीय कर्मका क्षयोपशम हुआ है और जो विषयोंसे निस्पृह है ऐसा पुरुष यदि हिंसा आदि पांचों पापोंका पूर्णरीतिसे त्याग करे तो वह यति वा मुनि होता है और यदि वह इन्हीं हिंसादि पापोंका एकदेश त्याग करे तो वह श्रावक कहलाता है " ऐसा कह चुके हैं। इसकारण शिष्योंके लिये ग्रंथके मध्यमें मंगलाचरण कहकर सागारधर्मामृतको कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं।

अथ नत्वाऽर्हतोऽक्षूणचरणान् श्रमणानपि ।
तद्धर्मरागिणां धर्मः सागाराणां प्रणेष्यते ॥ १ ॥

अर्थ—मोहनीय कर्मके अत्यंत क्षय होनेसे जिनका यथाख्यात चारित्र पूर्ण हो गया है ऐसे अरहंत तीर्थंकर परम देवको नमस्कार कर तथा अतिचार रहित सामायिक छेदोपस्थापना आदि चारित्रको धारण करनेवाले और बाह्य आभ्यंतर तपश्चरण करनेवाले आचार्य उपाध्याय साधुगणको शुद्ध भावोंसे नमस्कार कर सकल चारित्ररूप मुनियोंके धर्ममें लालसा रखनेवाले ऐसे श्रावकोंका धर्म निरूपण किया जाता है। भावार्थ—जो शक्तिरहित अथवा हीन संहनन होनेके कारण मुनिव्रत धारण नहीं कर सकते किंतु उसके धारण करनेके लिये जिनकी लालसा सदा बनी रहती है उन्हें ही श्रावक कहते हैं, जिनके मुनिव्रत धारण करनेका अनुराग नहीं है

उनका देशव्रत भी किसी कामका नहीं है। क्योंकि महाव्रत धारण करनेका अनुराग रखना ही देशव्रत धारण करनेवाला परिणाम कहलाता है। जिसके ऐसे परिणाम हैं उन्हीं गृहस्थोंका धर्म इस ग्रंथमें प्रतिपादन किया जायगा ॥१॥

अब सागार अर्थात् गृहस्थका लक्षण लिखते है—

अनाद्यविद्यादोषोत्थ चतु सज्ञा ज्वरातुरा ।
शश्वत्स्वज्ञानविमुखा सागारा विषयोन्मुखा ॥२॥

अर्थ—जो अनादि कालके अविद्यारूप वात पित्त कफ इन तीन दोषोंसे उत्पन्न हुये आहार भय मैथुन और परिग्रह इन सज्ञारूप चार प्रकारके ज्वरोंसे दुखी हैं, और इसलिये ही जो अपने आत्मज्ञानसे सदा विमुख है तथा स्त्री भोजन आदि इष्ट अनिष्ट पदार्थोंमें रागद्वेष करनेवाले है उन्हें सागार अर्थात् सकल परिग्रह सहित घरमें निवास करनेवाले गृहस्थ कहते हैं।

भावार्थ—वात पित्त और कफके दोषोंसे साध्य प्राकृत, असाध्य, प्राकृत साध्य वैकृत और असाध्य वैकृत ये चार प्रकार ज्वर उत्पन्न होते है उसी तरह अनित्य पदार्थोंको नित्य मानना, दुखके कारणोंको सुखरूप मानना, अपवित्रको पवित्र मानना और शरीर स्त्री पुत्र आदि अपने (आत्माके) नहीं है उन्हें अपना मानना अविद्या कहलाती है, उसी अविद्यारूप दोषसे आहार

भय मैथुन और परिग्रह रूप चार प्रकारका ज्वर उत्पन्न होता है, जिस प्रकार ज्वरसे मूर्च्छा (बेहोशी) और संताप होता है उसी तरह इन संज्ञाओंसे भी मूर्च्छा (ममत्व) और संताप होता है । इसप्रकारके संज्ञारूप ज्वरसे जो दुखी हैं और इसलिये जो—

एगो मे सासदो आदा णाणदंसण लक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥

अर्थात्—"मेरा यह आत्मा ज्ञानदर्शनस्वरूप, नित्य तथा एक है और शेष रागद्वेष आदि कर्मके संयोगसे होनेवाले बाह्यभाव अर्थात् विभाव है," इस प्रकारके आत्मज्ञानको भूल गये है तथा भोजन वस्त्र स्त्री आदि विषयोंमें सदा लीन रहते हैं, 'मेरा आत्मा स्वपर प्रकाशक है' इस बातको जो भूले हुये हैं वे सागार वा गृहस्थ कहलाते है ॥२॥

आगे-सागारका लक्षण फिर भी दूसरीतरहसे कहते हैं—

अनाद्यविद्याऽनुस्यूतां ग्रन्थसंज्ञामपासितुं ।
अपारयंत सागारा प्रायो विषयमूर्छिता ॥ ३ ॥

अर्थ— जिसप्रकार बीज से वृक्ष और वृक्षसे बीज उत्पन्न होता है उसीप्रकार अनादिकालसे चले आये अज्ञानसे जो परिग्रहसंज्ञा उत्पन्न होती है अर्थात् परिग्रहसे अज्ञान और अज्ञानसे परिग्रह रूपी संज्ञा उत्पन्न होती है इसप्रकारकी अनादि कालसे विद्यमान परिग्रह रूपी संज्ञाको जो छोड़ नहीं

सकते हैं और इसलिये ही जो स्त्री धन धान्य आदि विषयोंमें [१]मूर्छित हैं अर्थात् जो समझते हैं कि ये स्त्री धन धान्य आदि सब मेरे हैं, मैं इनका स्वामी हू, इस प्रकारके ममत्वके जो आधीन हैं, उन्हें सागार अर्थात् गृहस्थ कहते हैं। इस श्लोक में जो प्राय शब्द है उससे ग्रथकारने गृहस्थोंके विषयोंमें मूर्छित होनेका विकल्प दिखलाया है, अर्थात् कितने ही सम्यग्दृष्टि पुरुष चारित्रमोहनीयकर्मके उदयसे विषयोंमें मूर्छित हो जाते हैं परतु जिन्होंने पहिले जन्मोंमें रत्नत्रयका अभ्यास किया है उस रत्नत्रयके प्रभावसे यद्यपि बड़ी भारी राज्यलक्ष्मीका उपभोग करते हैं तथापि तत्त्वज्ञानके साथ२ देशसयमको धारण करते हुये उदासीन रूपसे उन विषयोंका सेवन करते है। इसलिये जिस प्रकार जिसकी स्त्री व्यभिचारिणी है वह पुरुष उसका त्याग भी नहीं कर सकता परतु उदासीन होकर उपभोग करता है उसी प्रकार वे सेवन करते हुये भी सेवन न करनेवालोंके ही समान हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि कोई सम्यग्दृष्टि तो विषयोंमें

१ मूर्छितका लक्षण—

वपुर्गृह धन दारा पुत्रामित्राणि शत्रव ।
सर्वथान्य स्वभावानि मूढ स्वानि प्रपद्यते ॥१॥

अर्थ—देह, घर, धन, स्त्री, पुत्र, मित्र, और शत्रु आदि जिनका स्वभाव आत्मासे सर्वथा भिन्न है उन्हें अपना माननेवाला मूर्छित कहलाता है ॥१॥

मूर्छित है और रत्नत्रयके अभावसे कोई नहीं भी हैं। यही प्राय शब्दसे सूचित होता है ॥ ३ ॥

आगे सागारपना होनेका कारण विद्या अर्थात् सम्यक्त्व है तथा सागारपना न होनेका कारण अविद्या अर्थात् मिथ्यात्व है यही बात दिखलाते हैं—

नरत्वेपि पशूयते मिथ्यात्वग्रस्तचेतसः ।
पशुत्वेपि नरायते सम्यक्त्वव्यक्तचेतना ॥ ४ ॥

अर्थ—सब जीवोंमें मनुष्य यद्यपि हित अहितका विचार करनेमें चतुर हैं तथापि यदि उनका चित्त विपरीत श्रद्धान करनेरूप मिथ्यात्वसे भरा हुआ हो तो फिर उनसे हित अहितका विचार नहीं हो सकता, फिर वे पशुके समान हैं। अपि शब्दसे यह सूचित होता है कि जब मिथ्यादृष्टि मनुष्य ही पशुओंके समान हैं तब पशुओंकी तो बात ही क्या है? इसी प्रकार पशु हित अहितके विचार करनेमें चतुर नहीं है तथापि जिनमें [1]प्रशम [2]संवेग [3]अनुकंपा और [4]आस्तिक्य ये गुण

१—रागादिषु च दोषेषु चित्तवृत्ति निबर्हणम् ।
तं प्राहु प्रशमं प्राज्ञा समस्तव्रतभूषणम् ॥१॥

अर्थ—रागादि दोषोंमें अपने चित्तकी वृत्ति रोकना ही प्रशम है, यह प्रशम गुण सब गुणोंका भूषण है ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं।

२—शारीरमानसागन्तु वेदनाप्रभवाद्भयात् ।
स्वप्नेंद्रजालसंकल्पाद्भीतिं संवेग उच्यते ॥

प्रगट हो रहे हैं ऐसे तत्त्वोंके श्रद्धान करने रूप सम्यग्दर्शनसे जिनकी चेतना रूपी संपत्ति साफ दिखाई दे रही है ऐसे पशु भी मनुष्योंके ही समान हैं अर्थात् वे भी अपने आत्माका हित अहित विचार सकते हैं। अपि शब्दसे यह अर्थ निकलता है कि सम्यग्दर्शनके माहात्म्यसे जब पशु भी अपने हेय (छोड़ने योग्य) उपादेय (ग्रहण करने योग्य) तत्त्वोंको जानने लगते हैं तब मनुष्योंकी तो बात ही क्या है? अभिप्राय यह है कि सम्यग्दर्शन ज्ञानका कारण है और मिथ्यादर्शन-अज्ञानका कारण है ॥ ४ ॥

अर्थ—जिसमें शरीर संबंधी, मानसिक आगंतुक इस तरहके अनेक दुःख बारबार उत्पन्न होते हैं और जिसकी स्थिति स्वप्नके समान अथवा इन्द्रजालके समान अस्थिर है ऐसे संसारसे भय उत्पन्न होना संवेग कहलाता है।

३—सत्त्वे सर्वत्र चित्तस्य दयार्द्रत्वं दयालवः ।
धर्मस्य परमं मूलमनुकंपा प्रचक्षते ॥

अर्थ—अनेक योनियोंमें परिभ्रमण करनेसे सदा दुःखी ऐसे समस्त प्राणियोंमें दया करना अर्थात् उनके दुःखसे अपना चित्त दयासे भीग जाना, इसीको दयालु मुनि अनुकंपा कहते हैं। यही अनुकंपा धर्मका मुख्य कारण है।

४—आप्ते श्रुते व्रते तत्त्वे चित्तमस्तित्वसंयुतं ।
आस्तिक्यमास्तिकैरुक्तं मुक्तियुक्तिधरे नरे ॥

अर्थ—मोक्षमार्गाभिलाषी पुरुषमें आप्त अर्थात् हितोपदेशी सर्वज्ञ वीतराग परमेश्वर, शास्त्र, व्रत और जीवादि तत्त्वोंमें जो अस्तित्व बुद्धि है उसको आस्तिक पुरुष आस्तिक्य कहते हैं।

इसप्रकार सामान्यरीतिसे मिथ्यात्वका प्रभाव दिखलाकर अब आगे उसी मिथ्यात्वके दृष्टांत दिखलाकर तीन भेद दिखलाते हैं—

केषाञ्चिदन्धतमसायतेऽगृहीतं ग्रहायतेऽन्यथा ।
मिथ्यात्वमिह गृहीतं शल्यति सांशयिकमपरेषां ॥५॥

अर्थ— मिथ्यात्वके तीन भेद हैं अग्रहीत, ग्रहीत और सांशयिक । परोपदेशके विना अनादिकालसे संतान दर संतानरूपसे चले आये ऐसे तत्त्वोंमें श्रद्धान न करनेरूप जीवोंके परिणामोंको अग्रहीत मिथ्यात्व कहते हैं । परोपदेशसे तत्त्वोंका श्रद्धान न करना अथवा अतत्त्वोंका श्रद्धान करना ग्रहीत मिथ्यात्व है । इसीतरह मिथ्यात्व कर्मके उदय होनेपर ओर ज्ञानावरण कर्मके विशेष उदय होनेपर "वीतराग सर्वज्ञके द्वारा कहे हुये अरहंतके मतमें जीवादि पदार्थोंका स्वरूप जो अनेक धर्मात्मक माना है वह यथार्थ है अथवा नहीं है" ऐसी चचल प्रतीतिको सांशयिक मिथ्यात्व कहते हैं । इस संसारमें एकेंद्रियसे लेकर कितने ही सज्ञी पर्यंत जीवोंके अग्रहीत मिथ्यात्व गाढ अंधकारके समान काम करता है, क्योंकि जिसप्रकार गाढ अंधकारमें किसी पदार्थका विश्वास नहीं होता उसी प्रकार अग्रहीत मिथ्यात्वमें भी गाढ अज्ञानताका परिणाम होनेसे किसी पदार्थका विश्वास वा श्रद्धान नहीं होता । दूसरा ग्रहीत मिथ्यात्व कितने ही सज्ञी पचेंद्रिय जीवोंको चढ़े हुये भूतके समान उ-

न्मच बना देता है, क्योंकि वह परोपदेश पूर्वक होनेसे अनेक तरहके विकार उत्पन्न कर देता है। तथा तीसरा सांशयिक-मिथ्यात्व श्वेताबरादिकोंके हृदयमें बाणके समान दुःख देता है, जिसप्रकार हृदयमें लगेहुये बाणसे अधिक दु ख होता है उ-सीप्रकार सांशयिक मिथ्यात्वीके सब पदार्थोंमें अनिश्चय होने-से सदा ही दु ख बना रहता है ॥ ५ ॥

आगे—अविद्याका मूलकारण मिथ्यात्व है उसके नाश करनेकी सामर्थ्य सम्यग्दर्शनमें है उस सम्यग्दर्शन परिणामोंके उत्पन्न होनेकी सामग्री कितने प्रकारकी है यही दिखलाते हैं—

आसन्नभव्यताकर्महानिसंज्ञित्वशुद्धिभाक् ।
देशनाद्यस्तमिथ्यात्वो जीव सम्यक्त्वमश्नुते ॥६॥

अर्थ—जिस जीवके रत्नत्रय व्यक्त होनेकी योग्यता है उसे भव्य कहते है और जो थोड़े ही भव धारणकर मुक्त होगा उसे आसन्न कहते है, जो जीव आसन्न होकर भव्य हो उसे आसन्नभव्य अथवा निकटभव्य कहते है। जो जीव आसन्न भव्य है, जिसके सम्यक्त्व नाश करनेवाले अनतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ तथा मिथ्यात्व सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक प्रकृतिमिथ्यात्व इन मिथ्यात्व कर्मोंका यथासंभव उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय हो चुका है, जो [1]शिक्षा, क्रिया

---

१ मनोवष्टभत शिक्षाक्रियालापोपदेशवित् ।
येषा ते सज्ञिनो मर्त्या वृषकीरगजादय ॥
अर्थ—जिनके शिक्षा क्रिया आलाप और उपदेशको अच्छी

आलाप उपदेशरुप सन्ताको धारण करनेवाला सञ्ज्ञी है और जिसके परिणाम विशुद्ध हैं तथा सद्गुरुके उपदेशसे और आदि शब्दसे जातिस्मरण, देवागमन, जिनप्रतिमादर्शन आदिसे जिसका मिथ्यात्वकर्म नष्ट हो गया है ऐसे जीवके सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। भावार्थ–आसन्नभव्यता, कर्मोंका क्षयोपशमादि होना, सञ्ज्ञी होना और परिणामोंकी विशुद्धि होना ये सम्यक्त्वके अतरग कारण हैं और गुरुका उपदेश, जातिस्मरण जिनप्रतिमादर्शन आदि बाह्य कारण हैं, इनमे मिथ्यात्व नष्ट होकर सम्यक्त्व उत्पन्न होता है।

इस श्लोकमें ग्रथकारने चार लब्धियोंका स्वरूप दिखलाया है। 'जो निकट भव्य है और जिसके मिथ्यात्व आदि

तरह जाननेवाला मन है ऐसे मनुष्य बैल तोते हाथी आदि सञ्ज्ञी कहलाते हैं।

भावार्थ—सञ्ज्ञीके मुख्य चार भेद हैं। जिस कार्यसे अपना हित हो वह करना और जिससे हित न हो वह नहीं करना इसप्रकारके ज्ञानको शिक्षा कहते हैं। इस शिक्षाको मनुष्य ग्रहण कर सकता है। हाथ पैर मस्तक आदिके हिलानेको क्रिया कहते हैं, यह क्रिया यदि बैल वगैरहको सिखलाई जाय तो वे इसे सीख सकते हैं जैसे सरकसके घोड़े अथवा नादी बैल आदि। श्लोक अथवा शब्द आदिके पढ़नेको आलाप कहते हैं, इस आलापको तोता मैना आदि जीव सीख सकते हैं। सकेतवाचक शब्द अथवा सकेत आदिके द्वारा हिताहित जाननेका नाम उपदेश है, इस उपदेशको हाथी कुत्ते आदि जीव सीख सकते हैं।

सूर्यका प्रकाश न होनेसे खद्योत (जुगुनू) जरासा प्रकाश करते हुये कहीं कहीं पर चमकते हैं उसी प्रकार इस दु खम पचमकालमें अनेकातरूप सम्यक् उपदेश बौद्ध नैयायिक आदि सर्वथा एकाती मिथ्यादृष्टियोंके उपदेशमे ढक रहा है। इसका कारण यह है कि चतुर्थकालमें जैसे केवली श्रुतकेवली आदि सूर्यके समान तत्त्वोंको प्रकाश करते हुये सब जगह विहार करते थे वैसे केवली श्रुतकेवली वर्तमान समयमें नहीं [1]हैं, केवल सुगुरु आदि सदुपदेशक खद्योतके समान तत्त्वोंका थोड़ासा स्वरूप प्रगट करते हुये कहीं कहीं पर दिखलाई देते हैं। ग्रथकारने इसी विषयका शोक और अतरगका सताप कष्टार्थक हा शब्दसे प्रगट किया है।

---

१ विद्वन्मन्यतया सदस्यतितरामुद्दण्डवाग्डबरा
शृगारादिरसै प्रमोदजनक व्याख्यानमातन्वते।
ये तेच प्रतिसद्म सति बहवो व्यामोहविस्तारिणो
येभ्यस्तत्परमात्मतत्त्वविषय ज्ञान तु ते दुर्लभा ॥

अर्थ— आपको विद्वान मानकर जो सभाआमे शब्दोंका घटाटोप दिखलाते हुये बहुत आडम्बर करते हैं तथा जो शृगार आदि रसोंके द्वारा आनद देनेवाले अनेक व्याख्यान देते हैं और लोगोंको मोहजालमें फसाते हैं ऐसे उपदेशक तो बहुत हैं, प्रत्येक घरमें मौजूद हैं, परतु जिनसे कुछ परमात्म तत्त्वका ज्ञान हो ऐसे उपदेशक बहुत दुर्लभ हैं।

आगे—इस पचमकालमें जैसे सदुपदेशक दुर्लभ है वैसे ही दर्शनमोहनीयकर्मके उदयसे जिनके चित्तपर परदा पड़ा हुआ है ऐसे श्रोता लोग भी उपदेश सुननेके योग्य नहीं है इसलिये भद्र पुरुष ही उपदेश सुननेके योग्य हों ऐसी आशा करते हुये पडितवर्य कहते हैं—

नाथामहेच भद्राणामप्यत्र किमु सद्दृशा ।
हेम्न्यलभ्ये हि हेमाश्मलाभाय स्पृह्येन क ॥८॥

अर्थ—इस भरतक्षेत्रके आज इस पचमकालमें हम भद्रपुरुषोंसे ही ऐसी आशा रखते है कि वे उपदेश सुननेके योग्य हों। जब हम भद्रपुरुषोंसे ही ऐसी आशा रखते है तब फिर सम्यग्दृष्टियोंसे तो कहना ही क्या है, उनसे तो भद्र-पुरुषों से भी अधिक आशा रखते ही हैं। जिस समय सुवर्णका मिलना असभव है उस समय यदि सुवर्ण पाषाण ही मिलजाय तो भला कौन पुरुष उसकी अभिलाषा नहीं करता ? अर्थात् सब ही करते है। भावार्थ—सम्यग्दृष्टी उपदेश सुननेके योग्य हों तो बहुत अच्छा है, यदि सम्यग्दृष्टी न हों तो भद्रपुरुष ही इसके योग हों।

आगे भद्रका लक्षण कहकर वही उपदेश सुननेके योग्य है ऐसा दिखलाते हैं—

कुधर्मस्थोपि सद्धर्मं लघुकर्मतयाऽद्विषन् ।
भद्र स देश्यो द्रव्यत्वान्नाभद्रस्तद्विपर्ययात् ॥ ९ ॥

अर्थ—जिसका सद्धर्म अर्थात् जैनधर्मसे द्वेष करनेका

कारण मिथ्यात्व कर्म बहुत थोड़ा रह गया है और इसलिये ही जो प्रमाणसे बाधित ऐसे कुधर्ममें तल्लीन होकर भी स्वर्ग मोक्षका कारण और प्रत्यक्षपरोक्ष आदि प्रमाणोंसे अबाधित ऐसे समीचीन धर्मसे (जैन धर्मसे) द्वेष नहीं करता है उसे भद्र कहते हैं। अपि शब्दसे यह भी सूचित होता है कि जो कुधर्म सद्धर्म दोनोंमें मध्यस्थ होकर भी जैन धर्मसे द्वेष नहीं करता है वह भी भद्र कहलाता है। ऐसे भद्रको समीचीन धर्ममें लानेके लिये उपदेश देना चाहिये क्योंकि वह द्रव्य सम्यग्दृष्टी है। आगामी कालमें सम्यक्त्व गुणके उत्पन्न होनेकी योग्यता रखता है। तथा जो अभद्र है अर्थात् कुधर्ममें तल्लीन होता हुआ मिथ्यात्व कर्मके प्रबल उदयसे सद्धर्मकी निंदा करता है ऐसे जीवको उपदेश देना [1]व्यर्थ है, क्योंकि उसके आगामी कालमें भी सम्यक्त्व गुण प्रगट होनेकी योग्यता नहीं है।

१—यहांपर अभद्र अर्थात् जिनमुनसे पराङ्मुखको उपदेश देनेकी मनाई लिखनेसे शास्त्रकारके हृदयकी संकीर्णता नहीं समझ लेना चाहिये, क्योंकि 'अभद्रोंको उपदेश नहीं ही देना' यह उनका अभिप्राय नहीं है किंतु उनका अभिप्राय यह है कि अभव्योंको दिया हुआ उपदेश व्यर्थ जाता है। जैसे कोरडू मूंग हजार अग्नि देनेपर भी गल नहीं सकता इस लिये उसका पकाना व्यर्थ है इसी तरह अभद्र भी उपदेशों द्वारा कभी मोक्षमार्गके अनुकूल नहीं हो सकता इस लिये उसको उपदेश देना व्यर्थ ही है।

आगे—जो पुरुष वीतराग सर्वज्ञके उपदेशसे सुश्रूषा आदि गुणोंको धारण करता है वह यद्यपि सम्यक्त्व रहित हो तथापि व्यवहारमें वह सम्यक्त्वी जीवके समान ही जान पड़ता है, इसी बातको दृष्टांत देकर दिखलाते हैं—

शलाकयेवाप्तगिराप्तसूत्र प्रवेशमार्गो मणिवच्च य स्यात्।
हीनोऽपि रुच्या रुचिमत्सु तद्वद् भूयादसौ सांव्यवहारिकाणाम् ॥१०॥

अर्थ—जिस प्रकार एक मोती जो कि कांति रहित है उसमें भी यदि सलाईके द्वारा छिद्रकर सूत (डोरा) पिरोने योग्य मार्ग कर दिया जाय और उसे कांतिवाले मोतियोंकी मालामें पिरो दिया जाय तो वह कांति रहित मोती भी कांतिवाले मोतियोंके साथ वैसा ही अर्थात् कांति सहित ही सुशोभित होता है। इसीप्रकार जो पुरुष सम्यग्दृष्टी नहीं है वह भी यदि सद्गुरुके वचनोंके द्वारा अरहंतदेवके कहे हुये शास्त्रोंमें प्रवेश करनेका मार्ग प्राप्त करले अर्थात् शास्त्रोंके समझने योग्य सुश्रूषा आदि गुण प्रगट करले तो वह सम्यक्त्व रहित होकर भी सम्यग्दृष्टियोंमें नयोंके जाननेवाले व्यवहारी लोगोंको सम्यग्दृष्टीके समान ही सुशोभित होता है। यदि वह सम्यग्दृष्टी हो तो वह तो अत्यंत सुशोभित होती ही है यह अपि शब्दसे सूचित होता है। अभिप्राय यह है कि जो सम्यग्दृष्टी नहीं है परंतु शास्त्रोंके सुनने आदिके लिये सुश्रूषा आदि गुणोंको धारण करनेवाला है उसे सम्यग्दृष्टिके समान ही गिनना चाहिये और उसीतरह उसका आदर सत्कार करना चाहिये ॥१०॥

अपनी अपनी जातिके अनुसार सदाचाररूप जो द्रव्य कमानेके उपाय है उन्हें न्याय कहते हैं, ऐसे लोकमान्य न्यायसे जो द्रव्य कमाया जाता है वह न्यायोपात्त अर्थात् न्यायसे कमाया हुआ कहलाता है। जो द्रव्य न्यायसे कमाया जाता है वह इस लोक और परलोक दोनोंमें सुख देनेवाला होता है क्योंकि उसे इच्छानुसार खर्च करने और भाई बंधु कुटुंब आदिको बांट देनेमें किसी तरहकी [1]शंका नहीं होती। चोरी आदि निंद्य कार्योंसे इकट्ठे किये हुये धनके खर्च करनेमें जैसा भय होता है वैसा भय इसमें नहीं है। जो [2] अन्यायसे धन कमाता है उसे राजा भी दंड देता है, लोकमें भी उसका अपमान होता है तथा और भी अनेक तरहके दुःख भोगने पडते हैं। इसलिये न्यायसेही धन कमाना चाहिये, इसीसे यह जीव इस लोकमें सुखी रह

१–सर्वत्र शुचयो धीराः सुकर्मबलगर्विताः। कुकर्मनिहितात्मानः पापाः सर्वत्र शंकिताः॥ अर्थ–जो धीर पुरुष अच्छे काम करनेके गर्वसे अभिमानी हैं उनका चित्त सब जगह निर्मल रहता है उन्हें कहीं किसी तरहका भय नहीं होता। तथा जो दुराचारी हैं उन पापीयोंको सब जगह शंका (भय) बनी रहती है।

२–अन्यायोपार्जितं वित्तं दश वर्षाणि तिष्ठति। प्राप्ते त्वेकादशे वर्षे समूलं च विनश्यति॥ अर्थ–अन्यायसे कमाया हुआ धन अधिकसे अधिक दश वर्ष तक ठहरता है, ग्यारहवें वर्ष मूलसहित नाश हो जाता है।

सकता है, [1] न्यायसे कमाया हुआ धन ही सत्पात्रको देने और दुखी जीवोंके दुख दूर करनेमें काम आता है और ऐसा करनेसे यह जीव परलोकमें भी सुखी [2] होता है। विना धनके गृहस्थधर्म चल नहीं सकता इसलिये ही ग्रंथकारने श्लोकमें सबसे पहिले इसे लिखा है।

[3] सदाचार, सुजनता, उदारता, चतुरता, स्थिरता और प्रियवचन

१—यान्ति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यंचापि सहायताम्। अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति॥ अर्थ—न्यायमार्गमें चलते हुये पुरुषको पशु पक्षी भी सहायता देते हैं और अन्याय मार्गमें चलनेवालेको सगा भाई भी छोड देता है।

२ वर्तमानमें लोगोंके पास हजारों लाखों करोडों रुपये होते हुये भी धर्मकार्योंमें खर्च करनेके लिये उनका जी नहीं चाहता, कोई कोई लज्जासे अथवा केवल अभिमान या यशके लिये थोडाबहुत काम करते हैं परन्तु वे इसतरह वा ऐसे काम करते हैं कि जिसमें उनका रुपया तो अधिक लग जाताहै और फल बहुत थोडा होता है। इसका मुख्य कारण यही है कि ऐसे लोगोंका धन न्यायसे कमाया हुआ नहीं है। यह नीति है कि जिस रीतिसे धन कमाया जाता है प्राय उसी रीतिसे वह खर्च होता है। यदि न्यायसे कमाया जायगा तो अवश्यही धर्मकार्योंमें लगेगा, यदि अन्यायसे कमाया हुआ होगा तो वह अवश्यही अधर्म कार्योंमें लगेगा, अथवा जिसतिसतरह खर्च हो जायगा। इसलिये कहना चाहिये कि धर्मोन्नति, जात्युन्नति, विद्योन्नति आदि करनेके लिये मुख्य कारण न्यायसे धन कमाना है।

३ लोकापवादभीरुत्वं दीनाभ्युद्धरणादरः। कृतज्ञता सुदाक्षिण्यं सदाचारः प्रकीर्तितः॥ अर्थ—लोकापवादसे भय होना, दीन पुरुषोंके उद्धार करनेमें

आदि अपने और दूसरेके उपकार करनेवाले आत्माके धर्म गुण कहलाते हैं, सत्कार, प्रशंसा, सहायता आदिसे उन गुणोंको पूज्य मानना अथवा बढाना गुणपूजा है। माता पिता और आचार्यको गुरु कहते हैं, इनको तीनों समय अर्थात् सवेरे, दोपहर और शामको प्रणाम करना, इनकी आज्ञा मानना तथा और भी विनय करना [1]गुरुपूजा है। अथवा जो ज्ञान संयम आदि गुणोंसे गुरु अर्थात् बडे वा पूज्य हैं उनको गुणगुरु कहते हैं। ऐसे पुरुषोंकी सेवा करना, आते हुये गुरुको देखकर खडे हो जाना, उन्हें ऊंचा आसन देना, नमस्कार करना आदि गुणगुरुओंकी पूजा कहलाती है।

सद्गी —जो मधुर, प्रशंसनीय और उत्कृष्ट वचन कहता है, दूसरेकी [2]निंदा और [3]अपमान करनेवाले तथा कठोर

प्रीति रखना, दूसरेके कियेहुये कार्यका उपकार मानना, और दाक्षिण्य रखना अर्थात् कठोरता और दुराग्रह नहीं करना सदाचार कहलाता है।

१ यं मातापितरौ क्लेशं सहेते संभवे नृणां। न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥ अर्थ—हमारे जन्म लेनेके समय हमारे माता पिता जो दुःख और क्लेश सहन करते हैं यदि उसका कोई बदला चुकाना चाहे तो वह उनकी सौ वर्ष सेवा करने पर भी नहीं चुका सकता।

२ यदिच्छसि वशीकर्तुं जगदेकेन कर्मणा। परापवादसस्येभ्यो गां चरन्तीं निवारय॥ अर्थ—हे जीव! यदि तू समस्त संसारको एक ही उपायसे वश करना चाहता है तो वह उपाय यही है कि तू अपनी वाणीरूपी

अप्रिय आदि बचन कभी नहीं कहता, वही सद्भी अर्थात् सत्य व मधुर बचन कहनेवाला कहलाता है।

त्रिवर्ग—अर्थात् धर्म अर्थ काम। जिससे अभ्युदय अर्थात् देवेंद्र नागेंद्र चक्रवर्ती आदि पद और नि श्रेयस अर्थात् मोक्षपदकी सिद्धि होती है उसे [1] धर्म कहते है। जिसके द्वारा लौकिक समस्त कार्योंकी सिद्धि होती है उसे अर्थ कहते है। इसीके द्रव्य धन सपत्ति आदि नाम है। स्पर्शन रसना आदि पाचों इंद्रियोंकी स्पर्श रस आदि विषयोंमें जो प्रीति है उसे काम कहते है। इस प्रकार धर्म अर्थ काम इन तीनों पुरुषार्थोंको त्रिवर्ग कहते हैं। इन तीनों पुरुषार्थोंका सेवन गृहस्थको नित्य [2] करना चाहिये, परतु वह सेवन इसप्रकार

गायको परनिंदारुपी धानके खानेसे रोक, अर्थात् किसीकी निंदा मत कर।

१ परपरिभवपरिवादादात्मोत्कर्षाच्च बध्यते कर्म। नीचैर्गोत्र प्रतिभवमनेकभवकोटिदुर्मोच ॥ अर्थ—यह जीव परकी निंदा और अपमान करनेसे तथा अपनी प्रशसा करनेसे प्रत्येक भवमें नीचगोत्रकर्मका ऐसा बध करता है कि जिसका छूटना करोडो भवोंमें भी कठिन हो। भावार्थ— दूसरेकी निंदा और अपनी प्रशसा करनेसे इस जीवको करोडो वर्षोंतक चाडाल आदि नीच गोत्रोंमें जन्म लेना पडता है।

१ 'ससारदु खत सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे' जो ससारके दु खो से निकालकर जीवोंको उत्तम सुखमें पहुचादे वही धर्म है।

२ यस्य त्रिवर्गशून्यानि दिनान्यायाति याति च। स लोहकारभस्त्रेव

किया जाय कि जिससे एकके सेवन करनेसे दूसरेकी हानि न हो। इसका अभिप्राय यह है कि धर्म और अर्थका सर्वथा नाश करके विषयादिक सुखोंका अनुभव नहीं करना चाहिये, क्योंकि कामकी प्राप्ति अर्थ अर्थात् धनसे होती है और अर्थकी प्राप्ति धर्मसे[3] होती है, इसलिये जैसे बीजके नाश होनेपर वृक्ष नहीं उग सकता उसीतरह धर्म और अर्थके नाश होनेपर कामकी प्राप्ति भी नहीं हो सकती। जो पुरुष केवल कामसेवनमें ही लगा रहता है वह अवश्य ही धर्मसे भ्रष्ट होता है, उसके सब धनका भी नाश हो जाता है और उसके शरीरकी भी बड़ी भारी हानि होती है।

इसलिये धर्म अर्थकी रक्षा करतेहुये कामका सेवन करना उचित है। इसीतरह जो पुरुष धर्म और कामका उल्लंघन कर अर्थात् नाश कर केवल धन कमानेमें लगा रहता है वह भी मूर्ख ही है, क्योंकि हमारा कमाया हुआ धन यदि धर्मकार्यमें खर्च न होगा

श्वसन्नपि न जीवति ॥ अर्थ–धर्म अर्थ काम इन तीनों पुरुषार्थोंके सेवन किये बिना ही जिसके दिन आते और चले जाते हैं वह पुरुष लुहारकी भातीके समान श्वास लेता हुआ भी मरे हुयेके समान है।

३ त्रिवर्ग ससाधनमंतरेण पशोरिवायुर्विफलं नरस्य। तत्रापि धर्मं प्रवरं वदंति न तं विना यद्भवतोर्थकामौ॥ अर्थ– त्रिवर्ग सेवन किये बिना मनुष्यकी आयु पशुके समान व्यर्थ है। उस त्रिवर्गमें भी आचार्योंने धर्मको ही मुख्य बतलाया है क्योंकि धर्मके बिना अर्थ और कामकी प्राप्ति नहीं होती।

तो वह आगेके जन्मके लिये अथवा आगामी कालके लिये सु-
खका साधन नहीं हो सकेगा। यदि यहां धन धर्मकार्योंमें न
लगाया जायगा तो उस धनके द्वारा उपार्जन किये हुये धर्मके
सम्बन्धसे आगेके जन्मोंमें भी अनेक तरहके सुखोंकी प्राप्ति होगी।
इसीतरह यदि इस भवमें भी धनका उपयोग न किया जायगा
अर्थात् कमाये हुए धनसे कामसेवन न किया जायगा तो वह
ईंट पत्थरोंकी तरह पड़ा व गड़ा रह जायगा और हमारे मर-
नेके पीछे अवश्यही किसी दूसरेका हो जायगा, उसके कमाने
में जो हिंसा झूठ आदि पाप हमने किये हैं वे केवल हमको ही
भोगने पड़ेंगे। इसलिये मनुष्यको उचित है कि धर्म और का-
मको यथायोग्य रीतिसे सेवन करताहुआ धन कमावे। अर्थ
और कामको छोड़कर केवल धर्मसेवन करना मुनियोंका काम है,
गृहस्थोंके पास तो धन होना ही चाहिये, बिना धनके गृहस्थ
धर्म ही नहीं चल सकता परन्तु धर्म और कामको सर्वथा छोड़-
कर धन कमाना उचित नहीं है। किसी पुरुषको पूर्वोपार्जित
धर्मके प्रभावसे अतुल सम्पत्तिकी प्राप्ति हो और यदि वह
उस सम्पत्तिका कोई भी भाग धर्मकार्यमें खर्च न
करे तो वह जीव अगिले जन्ममें इसतरह दुखी होगा

१ पादमायान्निधिं कुर्यात्पादं वित्ताय कल्पयेत्। धर्मोपभोगयोः पादं पादं भर्त्तव्यपोषणे॥ [illegible] अपने कमाये हुये धनके चार भाग करे, उसमेंसे एक भाग तो जमा रक्खे, दूसरे भागसे बर्तन वस्त्र आदि घरकी

कि जैसे वह किसान दुखी होता है जिसके यहा बहुत अनाज उत्पन्न होनेपर भी जिसने अगिली फसलके बोनेके लिये बीज नहीं रक्खा है या बीज खरीदनेके लिये धन नहीं रक्खा है। ससारमें वही जीव सुखी समझना चाहिये कि जो परलोकके सुख भोगता है। जो पुरुष अपना सब धन खर्चकर केवल धर्म और कामका सेवन करता है वह भी अतमें दुखी होता है, तथा जो पुरुप कामसेवन न करता हुआ केवल धर्म और अर्थका सेवन करता है वह तो गृहस्थ ही नहीं कहला सकता क्योंकि श्री सोमदेवने लिखा है कि 'गृहिणी गृहमुच्यते न पुनः काष्ठसंग्रह' अर्थात् स्त्रीका नाम ही घर है। ईंट पत्थर, काठ आदिके समुदायको घर नहीं कहते।

धनी पुरुषोंके तीन भेद है तादात्विक, मूलहर और कदर्य। ये तीनों ही ऐसे हैं कि इनके हाथसे धर्मकी रक्षा और कामसेवन नहीं हो सकता। जो पुरुष आगेका कुछ विचार न कर मिले हुये धनको केवल अयोग्य कार्योंमें खर्च करता है उसे तादात्विक कहते हैं, जो पूर्वजोंके कमाये हुये धनको

चीजें खरीदे, तीसरा भाग धर्मकार्य और अपने भोग उपभोगामें खर्च करे और चौथे भागसे अपने कुटुबका पालन करै॥ अथवा—आयार्द्धं च नियुजीत धम समाधिक तत। शेषेण शेष कुर्वीत यत्नतस्तुच्छमैहिक॥ अर्थ—अपने कमाये हुये धनका आधा अथवा कुछ अधिक धर्मकार्यमें खर्च करे और बचे हुये द्रव्यसे यत्नपूर्वक कुटुब

अन्याय मार्गसे केवल खाने पीनेमें उडा देता है उसे मूलहर कहते हैं और जो पुरुष आपको तथा अपने कुटुंब सेवक आदि लोगोंको अत्यंत दु ख देकर धन बचाता है, किसी भी कार्यमें उसे खर्च नहीं करता वह [१]कदर्य (कृपण) है। इन तीनोंमेंसे तादात्विक और मूलहरका तो सब धन खर्च हो जाता है। धन खर्च होनेपर वह धर्म और काम इन दोनों पुरुषार्थोंका सेवन नहीं कर सकता, इसलिये उसका कल्याण नहीं हो सकता। कदर्य अर्थात् कृपणका द्रव्य या तो राजा ले लेता है अथवा चोर चोरी कर ले जाते है, इसलिये उसे दोनों नहीं मिल सकता। इसलिये धर्म अर्थ काम इन तीनों पुरुषार्थोंको परस्पर बाधा रहित सेवन करना चाहिये। किसी अशुभ कर्मके उदयसे कदाचित इनमें कोई विघ्न आजाय तो जहांतक बने पहिले पहिलेके पुरुषार्थोंकी रक्षा करनी चाहिये। भावार्थ–तीनोंमें विघ्न आनेकी संभावना हो तो धर्म और अर्थकी रक्षा करना चाहिये, क्योंकि इन दोनोंकी रक्षा होनेसे कामकी सिद्धि कभी अपनेआप हो जायगी। कदाचित् इन दोनोंकी भी रक्षा न हो सके तो धर्मकी ही रक्षा करना चाहिये क्योंकि अन्य दोनों पुरुषार्थोंका मूल कारण धर्म ही है। इस

आदिका पालन पोषण करे। क्योंकि इस लोकका सुख तुच्छ है इसलिये इसमें अधिक धन खर्च करना योग्य नहीं है।

१ कुत्सित अर्थ स्वामी कदर्य। नीचे मालिक।

प्रकार गृहस्थको धर्म अर्थ काम इन तीनों पुरुषार्थोंका सेवन परस्परके [1] अनुरोधसे करना चाहिये।

गृहिणी स्थान आलय–जो अपने समान कुलमें उत्पन्न हुई हो, अग्नि, माता, पिता, गुरु और सभ्यजनोंके सामने जिसके साथ विवाह हुआ हो ऐसी [2] सदाचारसे चलनेवाली स्त्रीको गृहिणी कहते है, घरकी स्वामिनीका नाम ही गृहिणी हैं। घरमें ऐसी स्त्री होनेसे धर्म अर्थ व काम ये तीनों ही पुरुषार्थ अच्छी तरह सध सकते हे। जो पतिके साथ किसी

---

१ परस्परानुरोधेन त्रिवर्गो यदि सेव्यते। अनर्गलमतः सौख्यमपवर्गो प्यनुक्रमात्॥ अर्थ—यदि धर्म अर्थ कामका सेवन परस्परके अनुरोधसे किया जाय तो इस भवमें भी निरंतर सुख मिलता है और अनुक्रमसे मोक्षकी प्राप्ति भी होती है।

२ अभ्युत्थानमुपागते गृहपतौ तद्भाषणे नम्रता तत्पादार्पितदृष्टिरासनविधौ तस्योपचर्या स्वयं। सुप्ते तत्र शयीत तत्प्रथमतो जह्याच्च शय्यामिति प्राच्यैः पुत्रि निवेदिताः कुलवधूसिद्धांतधर्मा इमे॥ अर्थ—सीता जिससमय अपनी सुसरालको चलने लगी उस समय राजा जनकने उसको यह उपदेश दिया था कि हे पुत्रि! अपने पतिके आनेपर उसका सत्कार करनेके लिये उठकर खडा होना, जो वह कहे उसे विनयके साथ सुनना, पतिके बैठने पर अपनी दृष्टि उसके चरणोंपर रखना, पतिकी सेवा स्वयं करना, पतिके सोनेके पीछे सोना और उससे पहिले उठना ये सब कुलवधुओंके सिद्धांतकर्म हैं अर्थात् कुलीन स्त्रियोंको अवश्य करना चाहिये ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं।

तरहका छल कपट न करे, दौरानी जिठानी ननद सासु आदिकी सेवा करे, अन्य कुटुम्बी लोगोंको स्नेहकी दृष्टिसे देखे, सेवकलोगोंपर दया रक्खे और सौतके साथ किसी तरहका विरोध न करै वही स्त्री गुणवती और अच्छी कहलाती है। इसतिरह गृहस्थको ऐसे गाव अथवा नगरमें रहना चाहिये कि जहा जिनमदिर, शास्त्रभडार, जैन पाठशाला, और सज्जन पुरुषोंकी सगति आदि धर्मवृद्धिके साधन हों तथा अपने कुटुब आदिके अच्छीतरह निर्वाह करनेके लिये धन कमानेकी भी अनुकूलता हो। ऐसे गाव अथवा शहरमें गृहस्थको अपना घर बनाना चाहिये। घर भी ऐसा होना चाहिये जिसमें उसको किसी भी ऋतुमें किसी तरहकी तकलीफ न हो, तथा जिन प्रतिमा विराजमान करनेके लिये, धर्मध्यान स्वाध्याय आदि करनेके लिये जिसमें स्वतत्र एकात स्थान हो। इसप्रकार गृहस्थके लिये त्रिवर्ग सेवन करने योग्य स्त्री, गाव व शहर और घर होना चाहिये।

ह्रीमय —अर्थात् लज्जासहित। लज्जावान् गृहस्थको अपने ऐश्वर्य, वय (उमर) अवस्था, देश, काल, और कुलके अनुसार वस्त्र अलकार आदि पहनना चाहिये। निर्लज्ज होकर अपने देश कुल और जातिमें निंद्य ऐसे आचरण करना उचित नहीं है।

युक्ताहार विहार—अर्थात् जिसके भोजन और आने जानेके स्थान दोनों ही यथायोग्य हों, शास्त्रानुसार हों। धर्म

शास्त्रमें जिन पदार्थोंके खानेका निषेध किया हैं उनको नहीं खाना चाहिये तथा वैदकशास्त्रके अनुसार भोजन करना चाहिये, योग्य देश तथा योग्य कालमें घूमना फिरना आदि विहार करना चाहिये कि जिसमें रत्नत्रयधर्मकी हानि न हो।

आर्यसमिति–अर्थात् गृहस्थको सदाचारी और [1] सज्जनोंकी संगति करना चाहिये। जुआरी, धूर्त, व्यभिचारी, मिथ्यात्वी, भाड, मायावी और नट आदि दुष्ट पुरुषोंकी सगति कभी नहीं करना चाहिये।

प्राज्ञ–अर्थात् ऊहापोहरुप [2] विचार करनेवाला। जो विचारवान है वह बल अकलका विचार करता है, दीर्घदर्शी

---

१ यदि सत्सगानिरतो भविष्यसि भविष्यसि। अथ सज्ञानगोष्ठीपु पतिष्यसि पतिष्यसि॥ अर्थ–जो तू सज्जनकी सगति करेगा तो निश्चय ही उत्तम ज्ञानकी गोष्ठीमें पडेगा अर्थात् ज्ञान सपादन करगा।

२ इद फलमिय क्रिया करणमेतदेष क्रमो व्ययोप्यमनुषगज फलमिद दशैषा मम। अय सुहृदय द्विषत्प्रियतदेशकालाविमाविति प्रतिवितर्कयन् प्रयतते बुधो नेतर। अर्थ–यह फल है, इसके उत्पन्न करनके लिये यह क्रिया करनी पडती है, उस क्रियाका यह साधन है, उसका क्रम ऐसा है, उसके करनेमें इतना खर्च होगा, उसके सबधसे यह फल मिलेगा, मेरी दशा ऐसी है, यह मेरा शत्रु है, यह मेरा मित्र है, यह देश ऐसा है, समय ऐसा है इन सब बातोंका विचार करके किसी कार्यमें प्रवर्त होना बुद्धिमानका ही काम है, मूर्खोंको इतना विचार नहीं हो सकता।

अर्थात् आगेको दूरतक सोचनेवाला होता है, और सब मनुष्यासे विशेष जानकार होता है।

बल चारप्रकार है द्रव्यबल, क्षेत्रबल, कालबल और भावबल। ये चारों ही बल आपमें कितने है और दूसरेमें कितने है इसके विचार करनेको बलाबलविचार कहते हैं। जो कार्य बल अबलके विचार किये बिना ही किया जाता है उसमें सदा विपत्ति आनेकी संभावना रहती है। जो मनुष्य किसी कार्यको प्रारंभ अथवा समाप्त करके आगामी कालमें होनेवाले उसके हानि लाभको भी उसी समय समझ लेता है अथवा विचार कर लेता है उसे दीर्घदर्शी कहते है। वस्तु अवस्तुमें, कृत्य अकृत्यमें, आप और दूसरेमें क्या अंतर है इसको जो जानता है वही [1]विशेषज्ञ है। इसप्रकार जिसको बल अबलका विचार है, जो दूरदर्शी है और विशेष जानकार है उसे प्राज्ञ कहते हैं।

कृतज्ञ—जो दूसरेके किये हुये उपकारको [2] मानता है तथा उपकार करनेवालेके हित और कुशलकी इच्छा रखता है

---

१ प्रत्यह प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मन । किं नु मे पशुभिस्तुल्य किं नु सत्पुरुषैरपि ॥ मनुष्यको प्रतिदिन अपने आचरण देखने चाहिये और विचार करना चाहिये कि पशुओंके समान है अथवा सज्जनोंके ?।

२ विधित्सुरेन यदिहात्मवश्य कृतज्ञताया समुपैहि पार । गुणैरुपेतोप्यपरिस्लै कृतघ्न समस्तमुद्वेजयते हि लोक ॥ यदि तू इस

उसे कृतज्ञ कहते है। ऐसा पुरुष सब लोगोंको प्रिय होता है और सब लोग आवश्यक समयपर उसकी सहायता करते है।

वशी--जो इष्ट पदार्थोंमें अधिक आसक्त नहीं है, जिसकी प्रवृत्ति विरुद्ध पदार्थोंमें नही है, जो पांचों इन्द्रियोंके विकारोंको रोकनेवाला और काम क्रोध आदि अतरग शत्रुओं-को निग्रह (वश) करनेवाला है उसे वशी कहते है। काम क्रोध लोभ मान मद और हर्ष ये छह अतरग शत्रु है, स्वस्त्रीमें अत्यत आसक्त रहना तथा विवाहित अविवाहित परस्त्रीकी अभिलाषा करना काम कहलाता है। अपना अथवा दूसरेके नाश व हानिका कुछ विचार न करके क्रोध करना क्रोध है। सत्पात्रको दान न देना तथा बिना कारण ही परद्रव्य ग्रहण करना लोभ है। अभि-मान करना, योग्य वचन न मानना, और अन्य लोगोंको अ-पनेसे छोटा मानना मान है। यौवन, सुदरता, ऐश्वर्य, और बलके होनेसे उन्मत्त होना, हित अहितका विचार न करना तथा इच्छानुसार क्रिया करना आदिको मद कहते है। विना कारण किसी दूसरेको दुख देकर अथवा जूआ शिकार आदि पापकर्म कर प्रसन्न होना, खुशी मानना हर्ष कहलाता है। इन

परिवारको और समस्त लोगोंको अपने वश करना चाहता है तो कृतज्ञताका पारगामी हो अर्थात् कृतज्ञ बन, कृतघ्न मत हो क्योंकि संपूर्ण गुणोंसे भरपूर होनेपर भी कृतघ्न पुरुष सब लोगोंको क्षोभित कर देते है, अर्थात् सब लोग उससे प्रीति छोड देते हैं।

छहों अतरग शत्रुओंको सदा वश रखनेवाला ही वशी अथवा जितेंद्रिय कहलाता है।

धर्मविधिको [1]सुननेवाला—स्वर्ग मोक्षके सुखके प्राप्त होनेका जो कारण है उसे धर्म कहते हैं, उस धर्मकी जो विधि है अर्थात् युक्ति और आगमके अनुसार उसकी जो स्थिति है उसका जो मार्ग अथवा कारण है उसे धर्मविधि कहते है। उस धर्मविधिको अर्थात् धर्मसाधन करनेके कारणोंको जो सदा सुनता रहता है वह धर्मविधिको सुननेवाला कहलाता है।

दयालु [2]—दुखी जीवोंके दुख दूर करनेकी जिसकी सदा इच्छा रहती है उसे दयालु कहते हैं। दया धर्मका मूल

---

१ भव्य किं कुशल ममेति विमृशन् दु खाद्भृश भीतिवान् सौख्यैषी श्रवणादिबुद्धिविभव श्रुत्वा विचार्य स्फुट। धर्म शर्मकर दयागुणमय युक्त्यागमाभ्या स्थित गृह्णन् धर्मकथाश्रुतावधिकृत शास्यो निरस्ताग्रह ॥ जो अपने हितका विचार करता रहता है, ससारके दुखोंसे डरता है, सुखकी इच्छा करता है, शास्त्र आदिके सुननेसे जिसकी बुद्धि निर्मल हो गई है, जो युक्ति और आगमसे सिद्ध और कल्याण करनेवाले ऐसे दयामयी धर्मको सुनकर तथा उसका दृढ विचार कर ग्रहण करता है, जो दुराग्रह रहित और भव्य है वही धर्मशास्त्रके सुननेका अधिकारी है ऐसे मनुष्यको अवश्य उपदेश देना चाहिये।

२ प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा। आत्मौपम्येन भूताना दया कुर्वीत मानव ॥ जिसप्रकार तुम्हें अपने प्राण

है। जिसके दया नहीं है उसे जैनधर्म धारण करनेका अधिकार नहीं है। यदि शत्रु भी हो तथापि उसपर दया करनी चाहिये। जो दयालु है उसमें सब गुण आकर निवास करते हैं।

अघभी—अर्थात् पापभीरु–जो हिंसा झूठ चोरी शराब जूआ आदि बुरे कामोंसे डरता है उसे पापभीरु वा पापोंसे डरनेवाला कहते हैं।

इसप्रकार ऊपर लिखे हुये चौदह गुण जिस पुरुषमें विद्यमान हैं वही सागार धर्मके पालने योग्य है ॥ ११ ॥

जैसे है उसीप्रकार सब जीवोंको अपने अपने प्राण प्रिय हैं। इसलिये मनुष्योंको अपने आत्माकी तरह उन जीवोंकी दया करनी चाहिये।

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्। आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥ भो भव्यजन हो! धर्मका मुख्यसार सुनो और सुनकर उसे धारण करो अर्थात् उसके अनुसार चलो। वह धर्मका मुख्यसार यही है कि अपने आत्माके प्रतिकूल जो दुःख आदि हैं उन्हें किसी दूसरे जीवको मत होने दो अर्थात् किसीको दुःख मत दो, सबपर दया करो।

अवृत्तिव्याधिशोकार्तानुवर्तेत शक्तितः। आत्मवत्सततं पश्येदपि कीटपिपीलिकाः ॥ जिनकी कोई जीविका नहीं है तथा जो रोग शोक आदिसे दुःखी हैं ऐसे जीवोंपर दयाकर उनका दुःख दूर करना चाहिये और कीड़े चिउटी आदि छोटे छोटे जीवोंको भी सदा अपने समान देखना चाहिये।

अब मंदबुद्धिवाले शिष्योंको सहज ही स्मरण रहे इस लिये पूर्ण सागारधर्मको कह देते हैं—

सम्यक्त्वममलममलान्यणुगुणशिक्षाव्रतानि मरणांते।
सल्लेखना च विधिना पूर्णः सागरधर्मोयम् ॥ १२ ॥

अर्थ—जिसमें शंका, आकांक्षा आदि कोई दोष नहीं है ऐसा निर्मल सम्यग्दर्शन धारण करना, अतिचार रहित अणुव्रत, अतिचाररहित गुणव्रत, और अतिचाररहित शिक्षाव्रतोंका पालन करना तथा मरनेके अंतिम समयमें विधिपूर्वक सल्लेखना अर्थात् समाधिमरण धारण करना यह पूर्ण सागारधर्म कहलाता है।

भावार्थ—पूर्ण सागारधर्ममें सम्यक्त्व और सब व्रत अतिचाररहित होने चाहिये, जबतक अतिचार सहित व्रत है तबतक उसका धर्म अपूर्ण कहलाता है। सम्यक्त्व, अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत और सल्लेखना इनके सिवाय देवपूजा स्वाध्याय आदि और भी श्रावकके धर्म हैं परंतु वे सब इन्हींमें अंतर्भूत (शामिल) हो जाते हैं इसलिये उन्हें अलग नहीं कहा है, अथवा श्लोकमें जो च शब्द है उससे देवपूजा स्वाध्याय आदि जो इस श्लोकमें नहीं कहे हैं उन सबका ग्रहण हो जाता है। सल्लेखना व्रत मरणके अंतिम समयमें धारण करना चाहिये। जिसमें शरीर नष्ट हो जाय वही मरण यहांपर लिया है, सल्लेखनामें आवीचिमरणका ग्रहण नहीं किया है क्योंकि

आवीचिमरण तो सब जीवोंके प्रत्येक समयमें होता रहता है। (प्रत्येक ससारी जीवके प्रत्येक समयमें जो आयुकर्मके निषेक खिरते रहते हैं उसे आवीचिमरण कहते है) किसी वस्तुके लाभकी इच्छा न करके बाह्य तथा आभ्यतर तपश्चरणके द्वारा शरीर और कषायोंको कृश करना अर्थात् घटाना सल्लेखना कहलाती है। पुत्र, मित्र, स्त्री, विषय आदिके सुख, क्रोध आदि कषाय इन सब परिग्रहोंको छोडकर शात चित्तसे धर्मध्यानमें लीन हो जाना ही सल्लेखना है। यह सल्लेखनाव्रत सागारधर्मरूपी राजमदिर पर कलशके समान है। अभिप्राय यह है कि विना सल्लेखनाके सागारधर्मकी शोभा नहीं है। इस सल्लेखनाकी विधि इसी ग्रथके अतिम अध्यायमें लिखेंगे। ॥ १२ ॥

आगे—असयमी सम्यग्दृष्टि जीवोंके भी अशुभ कर्मोंका फल मद होता है यही दिखलाते हैं—

भूरेखादिसदृक्कषायवशगो यो विश्वदृश्वाज्ञया
हेयं वैषयिकं सुखं निजमुपादेयं त्विति श्रद्दधत्।
चौरो मारयितुं धृतस्तलवरेणेवात्मनिंदादिमान्
शर्माक्षं भजते रुजत्यपि परं नोत्तप्यते सोप्यघैः ॥ १३ ॥

अर्थ—"भगवान सर्वज्ञ वीतरागदेवकी आज्ञा कभी उल्लघन करने योग्य नहीं है क्योंकि सर्वज्ञ वीतरागदेव कभी मिथ्या उपदेश नहीं दे सकते" इसप्रकारके दृढ विश्वाससे जो उनकी आज्ञा मानता है अर्थात् *जिसके गाढ सम्य-*

ग्दर्शन विद्यमान है ऐसा जो पुरुष "आपको अच्छे लगनेवाले स्त्री आदिके विषयसुख छोडने योग्य हैं, कभी सेवन करने योग्य नहीं हैं, क्योंकि इनके सेवन करनेसे दुःख देनेवाले अशुभ कर्मोंका बंध होता है। तथा अपने आत्मासे उत्पन्न हुआ नित्य अविनाशीक मोक्षसुख ग्रहण करनेयोग्य है अर्थात् रत्नत्रयरूप उपयोगके द्वारा आत्मामें प्रगट करने योग्य है" इसप्रकारका गाढ श्रद्धान करता है, कभी स्वप्नमें भी इसके प्रतिकूल विचार नहीं करता, तथा जिसप्रकार मारनेकेलिये कोतवालके द्वारा पकडा हुआ चोर कोतवालकी आज्ञानुसार काला मुंह करना, गधेपर चढकर शहरमें फिरना आदि निंद्य कार्य करता है उसीप्रकार जो [1]पृथ्वीकी रेखा आदिके समान अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और

---

१ अनंतानुबंधी क्रोधका उदाहरण—पत्थरकी रेखा, अप्रत्याख्यानक्रोध—पृथ्वीकी रेखा, प्रत्याख्यानक्रोध—बालू अथवा धूलिकी रेखा, संज्वलन क्रोध—जलकी रेखा, इसप्रकार चारों क्रोधके ये चार दृष्टांत हैं। इसीतरह मानके उदाहरण—पाषाणका स्तंभ, हड्डी, लकडी और लता हैं। मायाके उदाहरण—बांसकी जड, मेंढेका सींग, गोमूत्रिका (चलते हुये बैलका पेशाब करना) और खुरपेमें घासकी टिढाई है। लोभके उदाहरण—मजीठका रंग, काजल, कीचड और हल्दीका रंग है। यहांपर अनंतानुबंधी कषायको छोडकर शेष तीनोंका उदाहरण बतलाया है क्योंकि अविरत सम्यग्दृष्टिके इन तीनोंका ही उदय है। सम्यग्दर्शन हो जानेसे अनंतानुबंधीका उदय नहीं है।

संज्वलन संबंधी क्रोध मान माया लोभ इन मुख्य बारह कषाय रूप चारित्रमोहनीयकर्मके उदयसे अर्थात् उस चारित्रमोहनीय कर्मके उदयके परवश होकर जो इंद्रियोंमें उत्पन्न हुये सुखोंका अनुभव करता है, चक्षु रसना आदि इंद्रियोंके रूप रस आदि इष्ट पदार्थोंका सेवन करता है इतना ही नहीं किंतु त्रस और स्थावर जीवोंको भी वह पीडा देता है, दुख पहुंचाता है। परंतु इन कार्योंसे वह अपनी निंदा अवश्य करता है, वह समझता है कि "मेरा आत्मा हाथमें दीपक लेकर भी अंधे कूएमें पड रहा है, मुझे बार बार धिक्कार हो" इसप्रकार जो अपनी निंदा करता है तथा गुरुके समीप जाकर भी इसप्रकार अपनी निंदा करता है कि "हे भगवन्! मैं इसप्रकारके कुमार्गमें जा रहा हूं, नरक आदि दुर्गतियोंके दुःख मुझसे कैसे सहे जायगे"। अभिप्राय यह है कि जैसे पकडा हुआ चोर जानता है कि काला मुंह करना गधेपर चढना आदि निंद्य काम है तथापि कोतवालकी आज्ञानुसार उसे सब काम करने पडते है इसीप्रकार सम्यग्दृष्टी पुरुष जानता है कि त्रस स्थावर जीवोंको दुख पहुंचाना इंद्रियोंके सुख सेवन करना निंद्य और अयोग्य कार्य है, तथापि चारित्रमोहनीयकर्मके उदयसे उसे ये सब काम करने पडते हैं, द्रव्यहिंसा भावहिंसा भी करनी पडती है, क्योंकि अपने समयके अनुसार जो कर्मोंका उदय आता है वह किसीसे रोका नहीं जा सकता, उसका फल भोगना ही

पडता है। भावार्थ यह है कि जिसके सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो गया है परतु चारित्रमोहनीयकर्मके प्रबल उदयसे, जो इद्रिय सुखोंको छोड नहीं सकता, त्रस स्थावर जीवोंकी हिंसाका त्याग नहीं कर सकता ऐसा [1]अविरत सम्यग्दृष्टी जीव भी पापोंसे [2]अत्यत क्लेशित नहीं होता है। जब अविरत सम्यग्दृष्टी जीव ही अनेक पापोंसे अधिक दुखी नहीं है तो जिसने विषयसुख सब छोड दिये हैं अथवा जिसने एकदेश किंवा सर्वदेश हिंसा दिका त्याग कर दिया है ऐसा जीव भी पापोंसे क्लेशित नहीं हो सकता। यह श्लोकमें दिये हुये अपि शब्दसे सूचित होता है। इससे यह भी अभिप्राय निकलता है कि सम्यग्दर्शन उत्पन्न

१ णो इदियेसु विरदो णो जीवे थावरे तसे चावि। जो सद्दहदि जिणुत्त सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥ जो न तो इद्रियोंके विषयोंसे विरक्त हुआ है और न त्रस स्थावर जीवोंकी हिंसासे विरक्त हुआ है परतु जिनेंद्रदेवके कहे हुये पदार्थोंपर पूर्ण श्रद्धान करता है उसे अविरत सम्यग्दृष्टी कहते हैं।

२ न दु खबीज शुभदर्शनक्षितौ कदाचन क्षिप्रमपि प्ररोहति। सदाप्यनुप्त सुखबीजमुत्तम कुदर्शने तद्विपरीतमिष्यते ॥ सम्यग्दर्शनरूपी भूमिमे यदि दुखके बीज पड भी जाय तो व शीघ्र उत्पन्न नहीं होते, और सुखके बीज यदि न भी पडे हों तो भी सुख उत्पन्न होता है। मिथ्यादर्शनरूपी भूमिमें ठीक इसके प्रतिकूल फल उत्पन्न होते हैं, अर्थात् उसमें यदि सुखके बीज पड भी जाय तो भी वे उत्पन्न नहीं होते और दुखके न पडते हुये भी दु ख उत्पन्न होता ही है।

होनेके पहिले जिसके आयुकर्मका बध नहीं हुआ है ऐसा सम्यग्दृष्टी जीव भी श्रेष्ठ देव और उत्तम मनुष्य होनेके सिवाय अन्य गतियोंमें परिभ्रमण नहीं कर सकता अर्थात् उसका अन्य ससारके परिभ्रमणका क्लेश सब दूर हो जाता है। तथा जिसने सम्यग्दर्शन उत्पन्न होनेके पहिले आयुकर्मका बध कर लिया हो और वह [2]नरकायुका बध हुआ हो तो वह जीव रत्नप्रभा भूमिमें अर्थात् पहिले नरकमें ही जघन्य अथवा मध्यम स्थितिका ही अनुभव करेगा, उसे वहा अधिक दिनतक दुख सहन नहीं करने पड़ेंगे। इसलिये जो भव्य जीव ससारके दु खोंसे [1]भयभीत हैं उन्हें जबतक सयमकी प्राप्ति न हो तबतक

२ दुर्गतावायुषो बधात्सम्यक्त्व यस्य जायते। आयुश्छेदो न तस्यास्ति तथाप्यल्पतरा स्थिति ॥ दुर्गतिमे आयुबध होनेके पीछे जिसके सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ है उसके यद्यपि आयुकर्मका छेद नहीं होता तथापि स्थिति घटकर बहुत थोड़ी रहजाती है। इसलिये उसे थोड़े दिन ही दु ख भोगने पड़ते हैं। यह सम्यक्त्वकी महिमा है।

१ जन्मोन्मार्ज्यं भजतु भवत पादपद्म न लभ्य
तच्चेत्स्वैर चरतु न च दुर्देवता सेवता स ।
अश्नात्यन्न यदिह सुलभ दुर्लभ चेन्मुधान्ते
क्षुद्व्यावृत्त्यै कवलयति क कालकूट बुभुक्षु ॥ १ ॥

हे देव ! जन्मभरणरूपी दु खोंके नाश करनेकी जिसकी इच्छा है वह दुर्लभ ऐसे आपके चरणकमलोंकी भक्ति करे आपमें दृढ भक्ति रखकर यदि वह स्वेच्छानुचारी भी हो अर्थात् किसी भी चारित्रको

सम्यग्दर्शनकी आराधना करनेके लिये नित्य प्रयत्न करते रहना चाहिये। इसी विधिको कहनेके लिये यह उपरका सूत्र कहा गया है ॥ १३ ॥

आगे–धर्म और सुखके समान यश भी मनको प्रसन्न करनेवाला है, इसलिये शिष्ट पुरुषोंको उसका भी अवश्य समह करना चाहिये अर्थात् यश फैलाना चाहिये ऐसा उपदेश देते हैं–

धर्मं यशः शर्म च सेवमानाः
केप्येकशो जन्म विदुः कृतार्थं ।
अन्ये द्विशो विद्म वयं त्वमोघा-
न्यहानि यांति त्रयसेवयैव ॥ १४ ॥

अर्थ––ससारमे कितने ही ऐसे जीव हैं कि जो पुण्य यश और सुख इन तीनोंमेंसे किसी एकके सेवन करनेसे अपना जन्म कृतार्थ मानते हैं। सब लोगोंकी रुचि एकसी नहीं होती अलग अलग होती है इसलिये कोई तो केवल धर्मसाधन करनेसे ही अपना जन्म सफल मानकर केवल उसीका सेवन करते है यश और सुखको छोड देते हैं। कोई अपना यश फैलाकर ही

धारण न कर तथापि कुछ हानि नहीं है, क्योंकि जो सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ है तो उसे चारित्र भी कभी न कभी अवश्य मिल जायगा। परंतु उस कुदर्शनका सेवन नहीं करना चाहिये। क्योंकि भूखे पुरुषको यदि अन्न मिलना सुलभ है तो उससे उसकी भूख मिटही जायगी। यदि कदाचित् अन्नका मिलना दुर्लभ हो तो उस समयमें भी ऐसा कौन भूखा पुरुष है जो अन्नके बदले विष खाना चाहता हो?

अपना जन्म सफल मानते हैं और कोई केवल सुखका सेवन करनेसे ही अपना जन्म सफल मानते है। इसीतरह लोक और वेदको माननेवाले तथा आपको शास्त्रोंका जानकार माननेवाले ऐसे बहुतसे पुरुष हैं जो इन तीनोंमेंसे दो दोको सेवन करनेसे अपना जन्म सफल मानते हैं अर्थात् कितने ही धर्म और यशको, कितने ही धर्म और सुखको तथा कितने ही यश और सुखको सेवन करनेसे ही अपना जन्म सफल मानते हैं। परंतु लोक और शास्त्रोंके जानकार इन दोनोंको संतोष देनेवाले हम लोगोंका तो यह ही मत है कि धर्म यश और सुख इन तीनोंको सेवन करनेसे ही मनुष्यजन्मके दिन सफल गिने जाते हैं अर्थात् तीनोंके सेवन करते हुये जो दिन निकलते है वेही सफल हैं। सूत्रमें दिये हुये एवकारका यह अभिप्राय है कि इन तीनोंमेंसे एक एक अथवा दो दोके सेवन करनेसे मनुष्यजन्मकी सफलता कभी नहीं हो सकती। इसके कहनेसे ग्रथकारका यह अभिप्राय है कि प्रत्येक मनुष्यको प्रतिदिन अपनी शक्तिके अनुसार इन तीनोंका सेवन करना चाहिये, मनुष्यका यह एक कर्तव्य है ॥ १४ ॥

आगे—सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेके पीछे यदि सकलसंयमी होनेकी सामग्री न मिले तो काललब्धि आदिके मिलनेपर संयतासंयत अर्थात् एकदेश संयमी अवश्य होना चाहिये इसीका उपदेश देते हैं—

मूलोत्तरगुणनिष्ठामधितिष्ठन् पचगुरुपदशरण्य ।
दानयजनप्रधानो ज्ञानसुधा श्रावक पिपासु स्यात् ॥१५॥

अर्थ—जो गुरु आदिसे धर्मका उपदेश सुनता है उसे श्रावक कहते हैं। जो उत्तरगुणोंके उत्पन्न होनेमें कारण हो और जिन्हें सयम धारण करनेवाले प्रथम ही धारण करें उन्हें मूलगुण कहते है। जो मूलगुणोंके पीछे धारण किये जाय और जो उत्कृष्ट हों उन्हें उत्तरगुण कहते हैं। मूलगुण और उत्तर गुण ये दोनों ही सयमके भेद हैं। जो श्रावक अर्थात् देशसयमी पुरुष अरहत आदि पांचों परमेष्ठियोंके चरणकमलोंको ही शरण मानता है, उन्हींको अपना दुख दूर करनेवाला समझता है उन्हींमें अपना आत्मा समर्पण करता है ऐसा पुरुष अर्थात् पांचों परमेष्ठियोंपर श्रद्धा रखनेवाला सम्यग्दृष्टी जो पुरुष लौकिक सुखोंकी इच्छा न करके निराकुलतासे मूलगुण और उत्तरगुणोंको धारण करता है, जो [1]पात्रदान आदि चार प्रकारके दान और नित्यमह आदि पाचप्रकारके यज्ञ (पूजन) इन दोनों क्रियाओंको मुख्य रीतिसे करता है और जो स्वपर अर्थात् आत्मा और शरीर आदि पुद्गलोंको भिन्न भिन्न जाननेवाले ज्ञानरूपी अमृतको सदा पीनेकी इच्छा रखता है उसे श्रावक कहते हैं। इससे

[1] ध्यानेन शोभते योगी सयमेन तपोधन । सत्येन वचसा राजा गेही दानेन शोभते ॥ मुनि ध्यानसे, तपस्वी सयमसे, राजा सत्य वचनोंसे और गृहस्थ पात्रको दान देनेसे ही शोभायमान होता है।

यह भी सिद्ध होता है कि श्रावकके खेती व्यापार आदि आजीविकाके कार्य २गौण हैं, तथा दान पूजा पढना आदि कार्य मुख्य हैं, श्रावकको इन्हें अपना कर्तव्य समझकर करना चाहिये। दूसरी यह बात सिद्ध होती है कि सम्यग्दर्शनपूर्वक ही देश संयम धारण किया जाता है और देशसंयमीको दानपूजन अवश्य करना चाहिये ॥ १९ ॥

इसप्रकार पांचवें गुणस्थानका वर्णन किया। अब आगे पांचवें गुणस्थानके द्रव्य भावरूप जे ग्यारह भेद हैं अर्थात् श्रावकको जो ग्यारह प्रतिमा हैं उनमेंसे महाव्रत पालन करनेकी उत्कट इच्छा रखनेवाला जो सम्यग्दृष्टि श्रावक अपनी

२ आयुश्रीवपुरादिकं यदि भवेत्पुण्यं पुरोपार्जितं, स्यात्सर्वं न भवेन्न तच्च नितरामायासितेऽप्यात्मनि। इत्यार्याः सुविचार्य कार्यकुशलाः कार्येऽत्र मंदोद्यमा द्रागागामिभवार्थमेव सततं प्रीत्यौ यतन्ते तराम् ॥ अर्थ–जो पूर्व जन्ममें पुण्यकर्म उपार्जन किये हैं तो इस जन्ममें दीर्घ आयु, लक्ष्मी, सुंदर व नीरोग शरीर आदि संसारके सुखोंकी समस्त सामग्री प्राप्त होती ही है। तथा जो पूर्वजन्ममें पुण्य नहीं किया है तो अत्यंत प्रयत्न करनेपर भी सुख नहीं मिलता। इसलिये जो आर्यपुरुष विचार पूर्वक कार्य करनेमें कुशल हैं वे लोग इस लोक संबंधी कार्योंमें साधारण प्रयत्न करते हैं और आगामी भवकी सुखसामग्रीके लिये निरंतर अधिकसे अधिक प्रयत्न करते रहते हैं, अर्थात् दान पूजा, अध्ययन आदि धर्म क्रियाओंको मुख्य मानते हैं और खेती व्यापार आदि लौकिक क्रियाओंको गौण मानते हैं।

शक्तिके अनुसार किसी एक प्रतिमाको धारण करता है उसकी प्रशंसा करते हैं—

> रागादिक्षयतारतम्यविकसच्छुद्धात्मसंवित्सुख ।
> स्वादात्मस्वनहिर्बहिस्त्रसवधाद्यंहोव्यपोहात्मसु ॥
> सद्दृग्दर्शनिकादिदेशविरतिस्थानेषु चैकादश- ।
> स्वेकं यः श्रयते यतिव्रतरतस्तं श्रद्दधे श्रावकम् ॥ १६ ॥

अर्थ—आगे जो ग्यारह प्रतिमा कहेंगे उनमें अनुक्रमसे उत्तरोत्तर रागद्वेष मोहका अधिक अधिक क्षयोपशम होता जाता है, ज्यों ज्यों राग द्वेष मोहका अधिक अधिक क्षयोपशम होता जाता है त्यों त्यों निर्मल चैतन्यरूपी अनुभूति प्रगट होती जाती है। वह निर्मल चैतन्यरूपी अनुभूति ही एक प्रकारका आनंद है अथवा उस अनुभूति (ज्ञान) से एक प्रकारका आनंद उत्पन्न होता है। उस निर्मलचैतन्यरूपी अनुभूतिसे उत्पन्न हुये आनंदका अनुभव करना अथवा उस अनुभूति स्वरूप आनंदका अनुभव करना ही उन ग्यारह प्रतिमाओंका अंतरंग स्वरूप है। अभिप्राय यह है कि रागद्वेष मोहके उत्तरोत्तर अधिक अधिक क्षयोपशम होनेसे जो शुद्ध आत्माकी अनुभूति प्रगट होती है उसके आनंदका अनुभव करते जाना ही ग्यारह प्रतिमायें कहलाती हैं। तथा मन वचन कायसे त्रस जीवोंकी (संकल्पी) हिंसा स्थूल झूठ चोरी मैथुन परिग्रह आदि पापोंका देव गुरु और सधर्मियोंके सामने विधि

पूर्वक त्याग करना तथा उत्तरोत्तर अधिक अधिक त्याग करते जाना उन प्रतिमाओंका बाह्य स्वरूप कहलाता है। इसप्रकार जिनका अंतरंग और बाह्य स्वरूप है ऐसे दर्शनिक व्रत आदि देशसंयमी श्रावकके ग्यारह स्थानोंमेंसे अर्थात् ग्यारह प्रतिमाओंमेंसे मुनियोंके महाव्रतोंमें अर्थात् हिंसादि पापोंका पूर्णरूपसे त्याग करनेरूप परिणामोंमें आसक्त हुआ सम्यग्दृष्टी पुरुष एक प्रतिमा भी धारण करता है उस श्रावकको बहुत धन्यवाद है, वह बहुत ही अच्छा करता है। यहांपर प्रतिमाओंको धारण करनेवाले सम्यग्दृष्टी श्रावकका महाव्रतोंमें आसक्त होना विशेषण दिया है, उसका यह अभिप्राय है कि जैसे मंदिर बनाकर उस पर कलश चढाते हैं उसी प्रकार श्रावकोंके व्रत धारण कर अंतमें महाव्रत अवश्य धारण करने चाहिये। कलशोंके विना जैसे मंदिरकी शोभा नहीं उसीप्रकार अंतमें मुनिधर्म धारण किये विना श्रावकधर्मकी शोभा नहीं है। श्रावकधर्मरूपी मंदिरके शिखर पर महाव्रतरूपी कलश चढाना ही चाहिये। सूत्रमें दिये हुये च शब्दका प्रयोजन यह है कि वह जिस प्रतिमाका पालन करे उसे पूर्ण रीतिसे पालन करे अर्थात् उस प्रतिमाका पूर्ण चारित्र पालन करे ॥ १६ ॥

आगे—उन ग्यारह प्रतिमाओंके नाम कहते हैं—

दृष्टचा मूलगुणाष्टकं व्रतभरं सामायिकं प्रोषधं
सच्चित्तान्नदिनव्यवायवनितारंभोपधिभ्यो मतात्।

उद्दिष्टादपि भोजनाच्च विरतिं प्राप्ता क्रमात्प्राग्गुण
प्रौढ्या दर्शनिकादयः सह भवन्त्येकादशोपासकाः ॥१७॥

अर्थ—जो सम्यग्दर्शनके साथ साथ आठ मूलगुणोंको धारण करता है उसे पहिली प्रतिमाका धारण करनेवाला दर्शनिक कहते हैं। जो दर्शनिक श्रावक अतिचार रहित अणुव्रत तथा गुणव्रत और शिक्षाव्रतोंको पालन करता है वह दूसरी प्रतिमाका धारण करनेवाला व्रतिक अथवा व्रती कहलाता है। व्रती जब अतिचार रहित तीनों समयमें विधिपूर्वक सामायिक करता है तब तीसरी सामायिक प्रतिमाका धारण करनेवाला कहलाता है। तीसरी प्रतिमाका धारण करनेवाला जब अष्टमी चतुर्दशी इन पर्वके दिनामें नियमसे विधिपूर्वक प्रोषधोपवास करता है तब उसे चौथा प्रोषध प्रतिमाका धारण करनेवाला कहते हैं। जब वह सचित्त भोजनका त्याग कर देता है तब उसे पांचवीं सचित्त त्याग प्रतिमा धारण करनेवाला कहते हैं। जब वह दिनमें मैथुन करनेका त्याग कर देता है तब वह छट्ठी दिवामैथुनत्यागी प्रतिमाका धारण करनेवाला कहलाता है। जब वह स्त्रीमात्रका त्याग कर देता है तब वह ब्रह्मचर्यप्रतिमावाला कहा जाता है। जब वह खेती व्यापार आदि आरंभोंका त्याग कर देता है तब उसे आरंभ त्यागी कहते हैं। जब परिग्रहोंका त्याग कर देता है तब उसे परिग्रहत्यागी कहते हैं। इसने मेरे लिये यह काम अच्छा किया है इसप्रकारकी अनुमोदनाका जब वह त्याग कर देता

है तब उसे दशमी प्रतिमावाला अनुमतित्यागी कहते है। जो अपने लिये किये हुये भोजनोंका त्याग कर देता है उसे ग्यारहवी प्रतिमावाला उद्दिष्टत्यागी कहते है। इस प्रकार ये ग्यारह प्रतिमायें है। जो ग्यारहवीं प्रतिमावाला अनुमोदना किये हुये तथा कहकर तैयार कराये हुये भोजनोंको भी नहीं करता है वह खेती व्यापार आदि पापकार्योंमे अपनी समति क्यों देगा? कह कर तैयार कराये हुये अथवा अपने लिये तैयार हुये वसतिका वस्त्र आदिको क्यों काममें लावेगा? अर्थात् कभी नहीं। यह अपि शब्दसे सूचित होता है। ये ग्यारह प्रतिमायें एकके बाद दूसरी और दूसरीके बाद तीसरी इसप्रकार अनुक्रमसे होती है क्योंकि इस जीवके अनादिकालसे विषयवासनाओंका जो अभ्यास हो रहा है उससे उत्पन्न हुआ असंयम एक साथ छूट नहीं सकता, इसलिये वह क्रमसे छूटता जाता है इसलिये ही अगिली अगिली प्रतिमाओंमें पहिली पहिली प्रतिमाओंके गुण अवश्य रहते हैं, और वे उत्तरोत्तर बढते जाते है। व्रत-प्रतिमामें सम्यग्दर्शन और मूलगुणोंकी उत्कृष्टता रहती है, सामयिकमें सम्यग्दर्शन, मूलगुण और व्रतोंकी उत्कृष्टता रहती है। इसीप्रकार सब प्रतिमाओंमें पहिली पहिली प्रतिमाओंके गुण अधिकतासे[1] रहते हैं। इसप्रकार अनुक्रमसे जो देशसंयमको

१ श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि खलु येषु।
स्वगुणा पूर्वगुणै सह सतिष्ठते क्रमविवृद्धा ॥

धारण करते हैं वे दर्शनिक आदि ग्यारह प्रकारके श्रावक वा उपासक कहलाते हैं ॥ १७ ॥

आगे-पापोंके दूर करनेके लिये नित्यपूजा आदि धर्मक्रियायें करनी चाहिये और उन धर्मक्रियाओंको सिद्ध करनेके लिये आजीविकाके लिये खेती व्यापार आदि छह कर्म करनेसे जो अवश्य होनेवाला पापका लेश है वह श्रावकोंको पक्ष आदिके द्वारा तथा प्रायश्चित्तके द्वारा अवश्य ही दूर करना चाहिये। इसीका उपदेश देनेके लिये कहते हैं—

नित्याष्टाह्निकसच्चतुर्मुखमह कल्पद्रुमैन्द्रध्वजा ।
विज्या पात्रसमक्रियान्वयदयादत्तीस्तप सयमान् ॥
स्वाध्याय च विधातुमादृतकृषीसेवावणिज्यादिक ।
शुध्द्याऽऽप्तोदितया गृही मल्लव पक्षादिभिश्च क्षिपेत् ॥१८॥

अर्थ—[1] नित्यमह, आष्टाह्निकमह, चतुर्मुखमह, कल्पद्रुममह और ऐंद्रध्वज यह पाच प्रकारकी इज्या अर्थात् पूजा,

---

१ भगवज्जिनसेनाचार्यने आदिपुराणमे लिखा है–प्रोक्ता पूजार्हतामिज्या सा चतुर्धा सदार्चनम् । चतुर्मुखमह कल्पद्रुमश्चाष्टाह्निकोऽपि च ॥ अर्थ–अरहतोकी पूजाका नाम इज्या है और वह चार प्रकारकी है–नित्यमह, आष्टाह्निकमह, चतुर्मुख और कल्पवृक्ष ।

तत्र नित्यमहो नाम शश्वज्जिनगृह प्रति । स्वगृहान्नीयमानाऽर्चा गन्धपुष्पाक्षतादिका ॥ चैत्यचैत्यालयादीना भक्त्या निर्मापण च यत् । शासनीकृत्य दान च ग्रामादीना सदार्चनम् ॥ अर्थ–प्रत्येक दिन

लिये चतुर्मुख यज्ञ ही अत्यंत उत्तम है यही ऐंद्रध्वजके समान है ॥ १८ ॥

वार्ता विशुद्धवृत्या स्यात्कृष्यादीनामनुष्ठिति । चतुर्धा वर्णिता दत्तिर्दयादानसमाऽन्वये ॥ अर्थ—शुद्ध आचरणपूर्वक अर्थात् अपने कुलकी उचित नीतिके अनुसार खेती व्यापार आदि छह प्रकारकी आजीविका करना वार्ता कहलाती है। तथा दयादत्ति, दानदत्ति, समानदत्ति, और अन्वयदत्ति ये चार प्रकारके दान कहलाते हैं।

सानुकम्पमनुग्राह्ये प्राणिवृन्देऽभयप्रदा। त्रिशुद्ध्यनुगता सेयं दयादत्तिर्मता बुधैः ॥ अर्थ—अनुग्रह करनेयोग्य ऐसे दीन प्राणियोंपर कृपापूर्वक मन वचन कायसे उनका भय दूर करनेको पंडितलोग दयादत्ति कहते हैं।

महातपोधनायार्च्यां प्रतिग्रहपुरःसरं। प्रदानमशनादीनां पात्रदानं तदिष्यते॥ अर्थ—उत्तम तप करनेवाले महातपस्वी मुनियोंके लिये उनका सत्कारपूर्वक पडगाहन पादप्रक्षालन पूजा आदिकर जो उनकेलिये आहार औषध पुस्तक पीछी कमण्डलु आदि देना है उसे पात्रदान अथवा दानदत्ति कहते हैं।

समानायात्मनाऽन्यस्मै क्रियामन्त्रव्रतादिभिः। निस्तारकोत्तमायेह भूहेमाद्यतिसर्जनम् ॥ समानदत्तिरेषा स्यात् पात्रे मध्यमतामिते। समा- नप्र[illegible] ...त्ता ॥ अर्थ—गर्भाधानादिक क्रिया, मन [illegible] ...पान है तथा जो ससाररूपी समुद्रके पार [illegible] ...से गृहस्थके लिये जो भूमि सुवर्ण आदि [illegible] मध्यमपात्र अर्थात् श्रावकके [illegible] समानदत्ति कहते हैं।

चर्या साधन इन उपायोंसे खेती व्यापार आदिमें होनेवाले पापोंको दूर करना चाहिये। इस श्लोकमें चतुर्मुख यज्ञका जो सत् विशेषण दिया है उससे उसकी प्रधानता दिखलाई है क्योंकि वर्तमान समयमें कल्पवृक्षयज्ञ होना तो असंभव है इस

दत्वा किमिच्छक दान सम्राड्भिर्यः प्रवर्तते। कल्पवृक्षमहः सोऽय जगदाशाप्रपूरण ॥ चक्रवर्ती किमिच्छक दान देकर अर्थात् तुमको क्या चाहिये ? इसप्रकार पूछ पूछकर मागनेवालोंकी पूर्ण इच्छानुसार दान देकर जो महायज्ञ करता है जिसमें ससारके सब लोगोंकी सब आशायें पूरी हो जाती है उसे कल्पवृक्षयज्ञ कहते है।

आष्टाह्निको महः सार्वजनिको रूढ एव स । महानैंद्रध्वजोऽन्यस्तु सुरराजैः कृतो महः ॥ चौथा आष्टाह्निक यज्ञ है यह यज्ञ जगतमें प्रसिद्ध है और रूढ है अर्थात् अष्टाह्निकाके दिनोंमें जो विधिपूर्वक पूजा की जाती है उसे आष्टाह्निकयज्ञ कहते है। इनके सिवाय एक पाचवा ऐंद्रध्वज यज्ञ है जिसको इंद्र ही करता है।

बलिस्नपनमित्यन्यत्रिसंध्यासेवया समं । उक्तेष्वेव विकल्पेषु ज्ञेय मन्यच्च तादृशं ॥ ऊपर लिखी हुई पाच प्रकारकी पूजाके सिवाय बलि (भात आदि नैवेद्य चढाना) अभिषेक, सदा तीनों समय पूजन करना तथा इनके समान और भी जो पूजाके प्रकार हैं वे सब ऊपर कहे हुये पाच प्रकारके भेदोंमें ही आजाते हैं।

एवं विधविधानेन या महेज्या जिनेशिना । विधिज्ञास्तामुशन्तीज्या वृत्तिं प्राथमकल्पिकीं ॥ इसप्रकार विधिपूर्वक जो श्री जिनेंद्रदेवकी पूजा करता है उसे आचार्य लोग श्रावकका प्रथम कर्तव्य समझते हैं।

लिये चतुर्मुख यज्ञ ही अत्यंत उत्तम है यही ऐंद्रध्वजके समान है ॥ १८ ॥

वार्ता विशुद्धवृत्त्या स्यात्कृष्यादीनामनुष्ठितिः । चतुर्धा वर्णिता दत्तिर्दयापात्रसमान्वये ॥ अर्थ—शुद्ध आचरणपूर्वक अर्थात् अपने कुलकी उचित नीतिके अनुसार खेती व्यापार आदि छह प्रकारकी आजीविका करना वार्ता कहलाती है। तथा दयादत्ति, दानदत्ति, समानदत्ति, और अन्वयदत्ति ये चार प्रकारके दान कहलाते है।

सानुकम्पमनुग्राह्ये प्राणिवृन्देऽभयप्रदा। त्रिशुद्ध्यनुगता सेयं दयादत्तिर्मता बुधैः ॥ अर्थ—अनुग्रह करनेयोग्य ऐसे दीन प्राणियोंपर कृपापूर्वक मन वचन कायसे उनका भय दूर करनेको पंडितलोग दयादत्ति कहते हैं।

महातपोधनायार्च्या प्रतिग्रहपुरःसरं। प्रदानमशनादीनां पात्रदानं तदिष्यते॥ अर्थ—उत्तम तप करनेवाले महातपस्वी मुनियोंके लिये उनका सत्कारपूर्वक पड़गाहन पादप्रक्षालन पूजा आदिकर जो उनके लिये आहार औषध पुस्तक पीछी कमंडलु आदि देना है उसे पात्रदान अथवा दानदत्ति कहते हैं।

समानायात्मनाऽन्यस्मै क्रियामन्त्रव्रतादिभिः । निस्तारकोत्तमायेह भूहेमाद्यतिसर्जनम् ॥ समानदत्तिरेषा स्यात् पात्रे मध्यमतामिते । समानप्रतिपत्त्यैव प्रवृत्ता श्रद्धयाऽन्विता ॥ अर्थ—गर्भाधानादिक क्रिया, मन्त्र और व्रत आदिसे जो अपने समान है तथा जो संसाररूपी समुद्रके पार जानेके उद्योगमें लगा हुआ है ऐसे गृहस्थके लिये जो भूमि सुवर्ण आदि देना है उसे समानदत्ति कहते हैं। अथवा मध्यमपात्र अर्थात् श्रावकके लिये समानबुद्धिसे श्रद्धापूर्वक दान देनेको भी समानदत्ति कहते हैं।

आगे—पक्ष चर्या और साधन इन तीनोंका स्वरुप कहते हैं—

स्यान्मैत्र्याद्युपबृंहितोऽखिलवधत्यागो न हिंस्यामह ।
धर्माद्यर्थमितीह पक्ष उदित दोष विशोध्योज्झित ॥
सूनौन्यस्य निजान्वय गृहमथो चर्या भवेत्साधन ।
त्वतेऽन्नेहतनूज्झनाद्विशदया ध्यात्यात्मन शोधन ॥ १९ ॥

अर्थ—मैत्री,[1] प्रमोद,[2] कारुण्य[3] और माध्यस्थ[4] इन चार गुणोंके निमित्तसे वृद्धिको प्राप्त हुआ जो सब प्रकारकी हिंसाका त्याग है, अर्थात्— धर्म, आहार, औषध, देवता और मन्त्र-सिद्धि आदि कार्योंके लिये मैं कभी त्रस जीवोंका घात नहीं

आत्मान्वयप्रतिष्ठार्थं सूनवे यदशेषत । समं समयवित्ताभ्यां स्ववर्गस्यातिसर्जनम् ॥ सैषा सकलदत्ति स्यात् स्वाध्याय श्रुतभावना । तपोऽनशनवृत्यादि संयमो व्रतधारणम् ॥

अर्थ—अपना वंश स्थिर रखनेके लिये अपने पुत्रको समस्त धन और धर्मके साथ अपना कुटुंब समर्पण करनेको सकलदत्ति कहते हैं। शास्त्रोंका पढना पढाना चिंतवन करना आदि स्वाध्याय है। उपवास आदि करना तप है और व्रत धारण करना संयम कहलाता है।

१—सब प्राणियोंपर दयाकर उनका दुःख दूर करना अथवा किसी प्राणिको दुःख न हो ऐसी इच्छा रखना अथवा किसीके साथ वैर न रखना मैत्री कहलाती है।

२—अपनी अपेक्षा जो गुणोंमें बडे हैं उन्हें देखकर प्रसन्न होना, उनके साथ ईर्षा आदि न करना प्रमोद है।

३—दीन, दुःखी और दरिद्री जीवोंपर अनुग्रह करना कारुण्य है।

४—मिथ्यादृष्टि जीवोंपर रागद्वेष न कर मध्यस्थभाव रखना माध्यस्थ है।

करूगा, कभी स्थूल झूठ चोरी आदि पाप नहीं करूगा, भावार्थ-कभी किसीको दु ख नहीं पहुचाऊगा, इसप्रकारका जो समस्त त्रस जीवोंकी हिंसाका तथा स्थूल झूठ चोरी आदिका त्यागरूप अहिंसा परिणाम है उसे पक्ष कहते हैं । यहापर सागारधर्मका प्रकरण है इसलिये त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग ही लेना चाहिये। सब प्रकारकी हिंसाके त्यागसे यह अभिप्राय है कि उसके हिंसाके साथ साथ स्थूल झूठ, चोरी, परस्त्रीसेवन और अधिक ममत्वका भी त्याग है । इस पक्षको पालन करनेवाला अर्थात् पाक्षिक श्रावक चाहे मदकषायी ही हो तथापि उसके केवल सकल्पी हिंसाका त्याग हो सकता है आरभी हिंसा का नहीं । क्योंकि वह गृहसबधी समस्त कार्योंमें लगा हुआ है, घरके सब काम उसे करने पडते है, इसलिये उसे आरभी हिंसा अवश्य करनी पडेगी, अतएव धर्म आहार औषधि आदिके लिये जो त्रस जीवोंकी सकल्पी हिंसाका त्याग है तथा स्थूल झूठ चोरी आदिका त्याग है उसे पक्ष कहते हैं । पक्षके सस्कारोंसे अर्थात् पाक्षिक श्रावकके व्रत निरतर पालन करनेसे जो वैराग्यरूप परिणाम रात दिन बढते रहते हैं, उन वैराग्य परिणामोंसे जो खेती व्यापार आदिसे उत्पन्न हुये हिंसा आदि दोषोंको प्रायश्चित्त आदि शास्त्रोंमें कहे हुये उपायोंसे विधि-पूर्वक दूर करता है तथा अपने पुत्रके लिये अथवा यदि पुत्र न हो तो पुत्रके समान भाई भतीजा आदि अपने वशमें उत्पन्न

हुये किसी वारिसके लिये जिसे वह स्वय पालन पोषण करता था ऐसे कुटुंबको तथा धन और धर्मको जो सौंप देता है और फिर जो अपना घर छोडना चाहता है या छोडनेका अभ्यास करता है ऐसे श्रावकके जो पहिली दर्शनप्रतिमासे लेकर दशवीं अनुमतित्याग प्रतिमातक व्रत नियम आदि आचरण है उसे चर्या कहते है ।

तथा जो घरके त्याग करनेका अंतिम समय है जिससमय प्राण छूटनेका समय समीप आगया है उस अंतके समयमें किसी नियत [1]समयतक अथवा जीवनपर्यंत जैसा उससमय उचित हो उसीतरह आहार, शरीरकी सब चेष्टायें और शरीर इनके छोड देनेसे जो विशुद्ध ध्यान उत्पन्न होता है उस ध्यानसे जो चैतन्यस्वरूप आत्माको शुद्ध करना है अर्थात् राग द्वेष सब छोड देना है उसे साधन कहते हैं । साधनमें भी प्राय श्चित्त आदिके द्वारा खेती व्यापार आदिके दोष दूर करना चाहिये यह श्लोकमें दिये हुये तु शब्दसे सूचित होता है ।

अभिप्राय यह है कि मूलगुण तथा अणुव्रत आदि व्रत पालन करना पक्ष है । विरक्त होकर तथा घर कुटुंबका सब भार पुत्रको देकर पहिली प्रतिमासे दशवीं प्रतिमातकके व्रत पालन करना चर्या है और समाधिमरण धारण करना साधन है ॥१९॥

आगे—पक्ष चर्या साधन इनके द्वारा श्रावकके जो तीन भेद होते हैं उन्हींको संक्षपसे कहते हैं—

---

१ जहा जीने मरनेका संदेह हो वहा किसी नियत समयतक आहारादिका त्याग किया जाता है ।

पाक्षिकादि भिदा त्रेधा श्रावकस्तत्र पाक्षिक ।
तद्धर्मगृह्यस्तन्निष्ठो नैष्ठिक साधक स्वयुक् ॥ २० ॥

अर्थ— जो पक्षमें कहे हुये आचरणोंको पालन करे अथवा उन आचरणोंसे सुशोभित हो उसे पाक्षिक कहते हैं । पाक्षिक नैष्ठिक और साधक इन तीनोंके भेदोंसे श्रावकके तीन भेद होते हैं । उनमेंसे जिसके एकदेश हिंसाके त्याग करनेरूप श्रावकके धर्म वा व्रतके ग्रहण करनेका पक्ष है, अर्थात् जिसने श्रावकके व्रत धारण करनेकी प्रतिज्ञा की है, अथवा जिसने देशसयम प्रारभ किया है, अथवा श्रावकका धर्म स्वीकार किया है उसे पाक्षिक कहते हैं । तथा जो पूर्ण रीतिसे श्रावकके व्रतोंका निर्वाह करता है, जिसे देशसयमका खूब अभ्यास हो गया है, जो अतिचाररहित श्रावकधर्मका पालन करता है और जो श्रावककी सब व्रतक्रियाओंका पालन करता है उसे नैष्ठिक कहते हैं । इसीतरह जो समाधिमरण धारण करता है, जिसकी समाधि आत्मामें लगी हुई है, जिसका देशसयम पूर्ण होगया है और जो अपने आत्माके ध्यान करनेमें तल्लीन है उसे साधक कहते हैं ॥२०॥

इसप्रकार पडितप्रवर आशाधरविरचित सागारधर्मामृतका
उन्हींकी भव्यकुमुदचद्रिका सस्कृतटीकाके अनुसार किये हुये
भाषानुवादमें सागारधर्मकी सूचना करनेवाला
[1]पहिला अध्याय समाप्त हुआ ॥ १ ॥

[1] यही अध्याय धर्मामृतका दशवा अध्याय है ।

दूसरा अध्याय ।

इसप्रकार पहिले अध्यायमें केवल सागारधर्मको सूचित किया। अब आगे इस दूसरे अध्यायमें पाक्षिकश्रावकके आचार विस्तारसे कहेंगे। उसमें भी पहिलेके आचार्योंने कैसे भव्यपुरुषको सागारधर्म स्वीकार करनेकी आज्ञा दी है उसीका स्वरूप कहते हैं—

> त्याज्यानजस्त्र विषयान् पश्यतोऽपि जिनाज्ञया ।
> मोहात्त्यक्तुमशक्तस्य गृहिधर्मोऽनुमन्यते ॥१॥

अर्थ—जो भव्य जीव वीतराग सर्वज्ञदेवके अनुलंघ्य शासनके द्वारा अर्थात् सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होजानेसे स्त्री भोजन वस्त्र आदि विषयोंको निरंतर सेवन करनेके अयोग्य मानता है। अपि शब्दसे यह अभिप्राय निकलता है कि जैसे यह जीव अनंतानुबंधी कषायके वश होकर विषयोंका सेवन करने-योग्य समझता है इसप्रकार वह उन विषयोंको सेवन करने योग्य नहीं समझता, उन्हें सदा छोडनेयोग्य ही समझता है तथापि प्रत्याख्यानावरण नामके चारित्रमोहनीयकर्मके तीव्र उ-दयसे उन विषयोंको छोड नहीं सकता, ऐसे पुरुषोंके लिये धर्माचार्य गृहस्थधर्म पालन करनेकी आज्ञा देते हैं। अभिप्राय यह है कि जो गृहस्थ हिंसा आदि पापोंको पूर्ण रीतिसे नहीं

छोड सकता। जब एकदेश उनके त्याग करनेकी प्रतिज्ञा करता है तब आचार्य उसे स्वीकार करते हैं।

यहापर कोई यह प्रश्न कर सकता है कि यद्यपि गृहस्थधर्ममें त्रस जीवोंका घात नहीं होता तथापि स्थावर जीवोंका घात होता है। ऐसी अवस्थामें आचार्यने जो गृहस्थधर्मके स्वीकार करनेके लिये समति दी है वह योग्य न होगी क्योंकि उस सम्मतिमें स्थावर जीवोंके घात करनेकी अनुमतिका दोष आचार्यको लगेगा, परतु इसका समाधान उपर लिखे वाक्योंसे ही हो जाता है और वह इसप्रकार है कि जिससमय सबतरह हिंसा करनेवाला जीव सम्यग्दृष्टी होकर श्रावकधर्मको स्वीकार करता है तब वह अपनी [1]असमर्थताके कारण समस्त विषयोंका त्याग नहीं कर सकता, केवल अपने योग्य विषयोंके सेवन करनेमें लगा रहता है उससमय ' पहि-

[1] विषयविषमाशनोत्थितमोहज्वरजनिततीव्रतृष्णस्य। नि शक्तिकस्य भवत प्राय पेयाद्युपक्रम श्रेयान्॥ अर्थ-विषयरूपी विषम अनके सेवन करनेसे जो मोहज्वर उत्पन हुआ है उस मोहज्वरके सबधसे जिसको तीव्र तृष्णा अर्थात् विषयसेवन करनेकी लालसा लगी हुई है और जो अत्यत अशक्त होगया है ऐसे जीवको पेय पदार्थोंका देना ही कल्याणकारी होगा, अर्थात् जैसे ज्वरसे अशक्त और तृष्णातुर मनुष्यको पहिले पीनेयोग्य पदार्थ और फिर खानेके पदार्थ दिये जाते हैं इसीप्रकार मोहाभिभूत पुरुषको पहिले योग्य विषयोंका सेवन करना और फिर क्रमसे छोडना ही कल्याणकारी होगा।

लेकी अपेक्षा बहुत अच्छा है ' इसप्रकार करते हुये आचार्यने स्थावर जीवोंके घात करनेकी सम्मति दी यह कभी सिद्ध [२]नहीं होता क्योंकि ऊपर जो लिखा है कि "जो गृहस्थ हिंसादि पापोंको पूर्ण रीतिसे नहीं छोड सकता और तब वह एकदेश उनके त्याग करनेकी प्रतिज्ञा करता है उससमय आचार्य उसे स्वीकार करते है" उसका अभिप्राय यह है कि आचार्य प्रथम ही सर्व त्याग करनेका उपदेश देते हैं। यदि वह उसमें असमर्थ होता है और आचार्यसे निवेदन करता है कि महाराज ! मुझसे सर्वत्याग न हो सकेगा, मैं एकदेशका त्याग करता हू तब आचार्य "अच्छा" ऐसी सम्मति देते हैं, अथवा सर्वत्यागमें असमर्थ देखकर एकदेशका त्याग कराते हैं। भावार्थ-यह है कि आचार्यने त्याग करनेकी सम्मति दी है गृहस्थके धर्म धारण करनेकी नहीं। इसलिये वे गृहस्थसे होनेवाले स्थावर जीवोंके घातमें सहमत भी नहीं हैं, अतएव उसमें सम्मति देनेका दोष भी उनपर नहीं लग सकता ॥१॥

आगे-शुद्ध सम्यग्दृष्टी पाक्षिक श्रावकसे अहिंसा पालन करनेकेलिये मद्य आदिका त्याग कराते हैं। अथवा श्रावकके आठ मूलगुण कहते है-

२-सर्वविनाशी जीवस्त्रसहनने त्याजते यतो जैने । स्थावरहननानुमतिस्तत कृता ते कथ भवति ॥१॥ अर्थ-जब आचार्यने सतरहकी हिंसा करनेवाले जीवसे त्रस जीवोंके घात करनेका त्याग कराया है तब उससे यह कैसे सिद्ध हो सकता है कि उन्होंने स्थावर जीवोंकी हिंसा करनेमें अपनी सम्मति दी ? अर्थात् कभी नहीं।

तत्रादौ श्रद्धज्जैनीमाज्ञा हिंसामपासितुं ।
मद्यमांसमधून्युज्झेत्पचक्षीरफलानि च ॥२॥

अर्थ—जो जीव गृहस्थधर्ममें रहकर प्रथम ही श्री जीनेंद्र-देवकी आज्ञापर श्रद्धान करता है अर्थात् जिनेंद्रदेवके कहे हुये शास्त्रोंको प्रमाण मानता है और जो देशसयम धारण करना चाहता है ऐसे गृहस्थको मद्य आदि विषयोंके सेवन करनेसे उनमें राग करनेरूप जो भावहिंसा होती है और उन मद्य आदिमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंका विनाश हो जानेसे जो द्रव्य-हिंसा होती है इन दोनों तरहकी हिंसाका त्याग करनेके लिये [1] मद्य मांस मधुका और पीपल आदि पांचप्रकारके [2] क्षीरवृक्षके फलोंका अवश्य त्याग करना चाहिये। इन्हीं आठ वस्तुओंके त्याग करनेको आठ मूलगुण कहते हैं। श्लोकमें दिये हुये 'च' शब्दका यह अभिप्राय है कि ऊपर लिखी हुई मद्यमांस आदि आठ चीजोंके साथ साथ उसे नवनीत (लौनी वा मक्खन), रात्रिको भोजन और विना छना हुआ पानी इत्यादि चीजोंका

१—मांसाशिषु दया नास्ति न सत्यं मद्यपायिषु। आनृशंस्यं न मर्त्येषु मधूदुंबरसेविषु ॥ अर्थ—मांस खानेवालेके दया नहीं होती, मद्यपान करनेवाले सत्यभाषण नहीं कर सकते और मधु तथा उदंबर खानेवाले जीव घातक अथवा क्रूर होते हैं।

२—जिन वृक्षोंके तोड़नेसे दूध निकलता है ऐसे बड़ गूलर पीपल आदि वृक्षोंको क्षीरवृक्ष अथवा उदंबर कहते हैं।

भी अवश्य त्याग करना चाहिये । ऊपर जो "श्री जिनेंद्र-देवकी आज्ञापर श्रद्धान करता है" ऐसा लिखा है उसका अभिप्राय यह है कि जो जीव श्री जिनेन्द्रदेवकी आज्ञापर श्रद्धान कर मद्यमास आदिको त्याग करता है वही देशव्रती हो सकता है, यदि किसी पुरुषके कुलपरपरासे मद्यमास आदिका सेवन न होता हो और उसीके अनुसार वह पुरुष भी उनका त्याग करदे तौभी वह देशव्रती नहीं हो सकता ॥२ ॥

आगे-अपने और अन्य आचार्योंके मतसे मूलगुणोंमे कुछ भेद दिखलाते है –

अष्टैतान् गृहिणा मूलगुणान् स्थूलवधादि वा ।
फलस्थाने स्मरेत् द्युत मधुस्थान इहैव वा ॥३॥

अर्थ-उपासकाध्ययन अर्थात् श्रावकाचार शास्त्रोंके [1] अनुसार गृहस्थोंको सबसे पहिले धारण करनेयोग्य जो 'मद्य मांस

१ मद्यमासमधुत्यागा सहोदुंबरपचकै । अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणा श्रुते ॥ २ ॥ (श्रीमत्सोमदेवाचार्य) अर्थ-पाच प्रकारके उदबर फलोंके साथ साथ मद्य मास और मधुका त्याग करना ये आठ मूलगुण श्रावकके होते हैं ऐसा शास्त्रोंमे कहा है ।

मद्य मास क्षौद्र पचोदुंबरफलानि यत्नेन । हिंसाव्युपरतकामै मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥ (श्रीमदमृतचंद्राचार्य) अर्थ-हिंसा त्याग करनेकी इच्छा करनेवालोंको प्रथम ही यत्नपूर्वक मद्य मास मधु और ऊमर कठूमर पीपर बड पाकर ये पाचों उदंबर फल छोड देने योग्य हैं ।

मधु और पाचों उदबरोंका त्याग करना ' ये आठ मूलगुण कहे हैं, उनमें मूलगुण धारण करानेवाले आचार्यको इतना स्मरण और रखना चाहिये कि इन्हीं मूलगुणोंको अन्य आचार्योंने दूसरी तरह से लिखा है, वही ' वा ' शब्दसे दिखलाते हैं। ऊपर जो पाच उदबर फलोंका त्याग करना कहा है उनके बदलेमें श्री समतभद्राचार्यने हिंसा, झूठ, चोरी, परस्त्री और परिग्रह इन पाचों पापोंका स्थूलरीतिसे अर्थात् एकदेश त्याग करना [1]कहा है अर्थात् उनके मतमें पाचों पापोंका एकदेश त्याग तथा मद्य मास मधुका त्याग ये ही आठ मूलगुण हैं, इसीतरह भगवज्जिनसेनाचार्यका यह [2]मत है कि स्वामी समतभद्राचार्यने जो आठ मूलगुण कहे हैं उनमें मधुके बदले जूआ खेलनेका त्याग करना चाहिये अर्थात् उनके मतमें पाचों

१–मद्यमासमधुत्यागै सहाणुव्रतपञ्चक । अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणा श्रमणोत्तमा ॥ (स्वामिसमतभद्राचार्य)

अर्थ–मद्यमास और मधुके त्यागके साथ पाचों अणुव्रतोका पालन करना गृहस्थोंके आठ मूलगुण हैं ऐसा गणधरादि देवोने कहा है ।

२ हिंसासत्यस्तेयाद्ब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदात्। द्यूतान्मासान्मद्याद्विरतिर्गृहिणोऽष्ट सत्यमी मूलगुणा ॥ (श्रीमगवज्जिनसेनाचार्य)

अर्थ–हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह इन पाचों पापोंको स्थूलरीतिसे त्याग करना तथा जूआ मास और मद्यका त्याग करना ये गृहस्थोंके आठ मूलगुण होते हैं ।

पापोंका एकदेश त्याग तथा मद्य मांस और जूआका त्याग करना ये आठ मूलगुण हैं। इसप्रकार दो वा शब्दोंसे तीन पक्ष सूचित किये हैं। ऊपर जो " इतना स्मरण और रखना चाहिये " यह लिखा है उसका अभिप्राय यह है कि हिंसा, झूठ, चोरी, परस्त्री और परिग्रह ये पांच पाप, पांच उदबरफल, मद्य मांस मधु और जूआ इनका त्याग करना मोक्षका कारण है इसलिये आचार्योंको [३]यम नियमरूपसे इनका त्याग करना चाहिये और गृहस्थोंको अवश्य त्याग करना चाहिये। मूलगुणोंको तो जन्मभरके लिये धारण करना चाहिये और बाकी बचे हुओंको हो सके तो जन्मभरके लिये और यदि न हो सके तो नियमरूपसे अवश्य त्याग करना चाहिये ॥३॥

आगे—मद्य[१] अर्थात् शराबमें बहुतसे जीव रहते हैं तथा उसके सेवन करनेसे इसलोक और परलोकमें अत्यंत दुःख होता है इसलिये शराब पीनेका अवश्य त्याग करना चाहिये ऐसा दिखलाते हैं—

३-जन्मभरके लिये त्याग करना यम है और कुछ दिनोंके लिये त्याग करना नियम है।

१ मनोमोहस्य हेतुत्वान्निदानत्वाच्च दुर्गतेः। मद्यं सद्भिः सदा त्याज्यमिहामुत्र च दोषकृत् ॥१॥ अर्थ–मद्य मनको मोहित करनेवाला है, नरकादि दुर्गतियोंका कारण है और इसलोक तथा परलोकमें दुःख देनेवाला है। इसलिये सत्पुरुषोंको सदा इससे अलग रहना चाहिये अर्थात् इसे छोडना चाहिये।

यदेकबिंदो प्रचरति जीवाश्चेत्तत् त्रिलोकीमपि पूरयति ।
यद्विक्लवाश्चेममुं च लोकं यस्यति तत्कश्यमवश्यमस्येत् ॥४॥

अर्थ—जिसकी एक बूंदमें उत्पन्न हुये जीव निकलकर यदि उडने लगें तो उनसे ऊर्ध्वलोक मध्यलोक और अधोलोक ये तीनों ही लोक भरजाय इसके सिवाय जिसके पीनेसे मोहित हुये जीव इस भव और परलोक दोनों लोकोंका सुख नष्ट करते हैं दोनों भवोंको दु खस्वरूप बना देते हैं ऐसा जो मद्य है उसका अवश्य त्याग करना चाहिये । अपने आत्माका हित चाहनेवाले पुरुषको मद्य न पीनेका दृढ नियम लेना चाहिये ॥४॥

आगे—मद्य पीनेसे द्रव्यहिंसा और भावहिंसा दोनों–तरहकी हिंसा होती है यह कहकर उसके त्याग करनेवालेको क्या क्या लाभ होते हैं और उसके पीनेवालोंको क्या क्या हानि होती है अथवा इसके त्याग करने और पीनेमें क्या क्या गुण दोष हैं इसीको दृष्टांतद्वारा स्पष्टरीतिसे दिखलाते हैं—

पीते यत्र रसागजीवनिवहा क्षिप्रं म्रियतेऽखिला
कामक्रोधभयभ्रमप्रभृतय सावद्यमुद्यंति च ।

विवेक संयमो ज्ञानं सत्यं शौचं दया क्षमा । मद्यात्प्रलीयते सर्वं तृण्या वन्हिकणादिव ॥ अर्थ—जैसे अग्निका एक ही कण तृणोंके समूहको नाश कर देता है उसीतरह मद्य पीनेसे विचार, संयम, ज्ञान, सत्य, पवित्रता, दया, क्षमा, आदि समस्त गुण उसीसमय नष्ट हो जाते हैं ।

तन्मद्य व्रतयन्न धूर्तिलपरास्कंदीव यात्यापद
तत्पायी पुनरेकपादिव दुराचार चरन्मज्जति ॥५॥

अर्थ–जिस [1]मद्यके पीनेके बाद ही उस मद्यके रसमें उत्पन्न हुये अथवा जिनके समूहोंसे मिलकर वह मद्यका रस बना है ऐसे अनेक जीवोंके सब समूह उसी समय मर जाते हैं, तथा काम, क्रोध, भय, भ्रम अर्थात् मिथ्याज्ञान अथवा चक्र के समान शरीरका फिरना, अभिमान, हास्य, अरति, शोक आदि निंद्य और पाप बढानेवाले परिणाम [2] उत्पन्न होते हैं।

---

१ रसजाना च बहूना जीवाना योनिरिष्यते मद्य। मद्य भजता तेषा हिंसा संजायतेऽवश्य ॥ अर्थ–मद्य रससे उत्पन्न हुये बहुतसे जीवोंकी योनि अर्थात् उत्पन्न होनेका स्थान है। इसलिये जो मद्यका सेवन करते हैं उनके उन जीवोंकी हिंसा अवश्य होती है।

समुत्पद्य विपद्येह देहिनोऽनेकश किल। मद्ये भवन्ति कालेन मनोमोहाय देहिना ॥ अर्थ–मद्यमें अनेक जीव उत्पन्न होते और मरते रहते हैं और समय पाकर वे जीव उस मद्यके पीनेवालोंके मनको मोह उत्पन्न करते रहते हैं।

मद्य मोहयति मनो मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मं। विस्मृतधर्मा जीवो हिंसामविशङ्कमाचरति ॥ अर्थ–मद्य मनको मोहित करता है तथा मोहितचित्तवाला पुरुष धर्मको भूल जाता है और धर्मको भूलाहुआ जीव नीडर होकर हिंसा करता है।

२–अभिमानभयजुगुप्साहास्यारतिशोककामकोपाद्या । हिंसायाः पर्यायाः सर्वेऽपि च सरकसन्निहिता ॥ अर्थ–अभिमान, भय, ग्लानि,

तथा जिसके न पीनेका व्रत ग्रहण करनेसे जिसप्रकार धूर्तिल नामके चोरको फांसीतरहकी विपत्ति नहीं हुई थी उसीप्रकार जिस कुलमें मद्य नहीं पिया जाता ऐसे कुलमें उत्पन्न होकर भी जो देव गुरु पंच आदिकी साक्षीपूर्वक मद्य न पीनेका व्रत ग्रहण करता है, अनेक तरहके दोषोंसे भरेहुये मद्यके छोडनेका पक्का नियम कर लेता है उसको किसीतरहका दुःख नहीं होता, और जिसके पीनेसे जिसप्रकार एकपाद नामके सन्यासीने (मिथ्यातपस्वी) अविवेकी होकर चांडालिनीके साथ सहवास किया था, मांस खाया था और न पीने योग्य चीजें पीयीं थीं तथा ऐसे दुराचरण करता हुआ वह अंतमें नरक आदि दुर्गतियोंमें गया था; उसीप्रकार जिस मद्यके पीनेवाले अनेक दुराचरण करतेहुये नरक आदि दुर्गतियोंमें डूबते हैं, उसप्रकारके मद्यको अवश्य छोड देना चाहिये। अभिप्राय यह है कि मद्य पीनेसे उसमें उत्पन्न होनेवाले अनेक जीवोंका घात होता है इससे द्रव्यहिंसा होती है और उसके पीनेसे ... च परिणाम क्रोध काम आदि रूप होते हैं इसलिये भावहिंसा ... रकी होती है। अतएव मद्य पीनेसे दोनों तरहकी हिंसा ... भक्षण पवित्र करते हैं होगी १। मताचारा द्रेयदमन, हेतादितका

हास्य, अरति, शोक, काम, क्रोध आदि ... वे सब एक तरहकी हिंसा हैं और वे सब ... भावार्थ–मद्य पीनेसे अभिमान आदि ... सब हिंसाके ही भेद हैं इसलिये ... हिंसा अवश्य होती है।

और उसके पीनेवाले एकपादके समान महा दुखी होते है तथा उसके त्याग करनेवाले दोनों तरहकी हिंसासे बचते हैं और वे धूर्तिलकी तरह सुखी होते हैं ॥ ५ ॥

आगे— जो विशुद्ध आचरणोंका घमड करते हुये भी मासभक्षण करते है उनको निंद्य ठहराते हुये कहते हैं—

स्थानेऽश्नतु पलं हेतो स्वतश्चाशुचिकश्मला ।
श्वादिलालावदप्यद्यु शुचिंमन्या कथ नु तत् ॥६॥

अर्थ—– जो जाति कुल आचार आदिमे मलिन अर्थात् नीच हैं वे लोहू वीर्य आदिसे अपवित्र अथवा विष्टाका कारण और विष्टास्वरूप होनसे स्वभावसे ही अपवित्र ऐसे मासको यदि भक्षण करें तो किसीतरह ठीक भी हो सकता है क्योंकि कदाचित् नीच लोगोंकी ऐसी प्रवृत्ति हो भी सकती है परतु जो आपको पवित्र मानते है आचार विचारसे आत्माको पवित्र मानते हैं (परतु वास्तवमें मास आदि अभक्ष्य वस्तुओंके खानेसे पवित्र नहीं हैं) वे लोग बाज कुत्ता आदि अपवित्र जीवोंकी लार मिले हुये मासको अथवा बाज कुत्ता आदि जीवोंकी लारके समान अपवित्र मासको कैसे [1]खाते है ? क्योंकि यह

1 रक्तमात्रप्रवाहेण स्त्री निंद्या जायते स्फुट । द्विधातुज पुनर्मांस पवित्र जायते कथ ॥ अर्थ—जब स्त्री रक्तके बहनेमात्रसे निंद्य और अपवित्र गिनी जाती है तब दो धातुओंसे उत्पन्न हुआ मास भला कैसे पवित्र हो सकता है ?

बडा भारी नीच कृत्य है। पंडितवर ऐसे पुरुषोंके लिये बडा भारी धिक्कार देते हैं और अपि शब्दसे आश्चर्य प्रगट करते हैं। ग्रंथकारने इस कृत्यको नीच दिखलानेके लिये और उन्हें धिक्कार देनेकेलिये ही गर्हा अर्थमें सप्तमी विभक्ति दी है ॥ ६ ॥

आगे-अपने आप मरेहुये मछली आदि पंचेंद्रिय जीवोंके मास खानेमें कोई दोष नहीं है ऐसा माननेवालोंके लिये कहते हैं—

हिंस्रः स्वयं मृतस्यापि स्यादश्नन् वा स्पृशन्पलं ।
पक्कापक्का हि तत्पेश्यो निगोदौघसुतः सदा ॥७॥

अर्थ-जो जीव मास खानेवालेके विना किसी प्रयत्नसे अपने आप मरे हुये मछली भैंसा आदि प्राणियोंका मास खाता है अथवा केवल उसका स्पर्श करता है वह भी द्रव्यहिंसा करनेवाला हिंसक अवश्य होता है। क्योंकि मासका टुकडा

भक्षयति पलमस्तचेतनाः सप्तधातुमयदेहसंभवं। यद्वदति च शुचित्वमात्मनः किं विडंबनमतः परं बुधाः ॥ अर्थ-सातप्रकारकी धातुओंसे भरे हुये शरीरसे उत्पन्न हुये मासको अज्ञानी लोग भक्षण करते हैं सो तो किसीतरह ठीक भी हो सकता है परंतु "हम पवित्र हैं" ऐसा अभिमान करनेवाले कितने ही पंडितजन मास भक्षण करते हैं उनको क्या कहें उनकी विडंबना इससे अधिक और क्या होगी ॥
यतो मासाशिनः पुंसो दमो दानं दयार्द्रता। सत्यशौचव्रताचारा न स्युर्विद्यादयोऽपि च ॥ अर्थ-मास खानेवाले जीवोंके इंद्रियदमन, दान, दया, सत्य, पवित्रता, व्रत, आचार, विद्या, हिताहितका विचार आदि समस्त सद्गुण नष्ट हो जाते हैं ॥

चाहे कचा हो, चाहे अग्निमें पकाया हुआ हो, अथवा पक रहा हो उसमें अनत साधारण निगोद जीवोंका समूह सदा उत्पन्न होता रहता है उसकी कोई अवस्था ऐसी नहीं है जिसमें जीवोंका समूह उत्पन्न न होता हो। अभिप्राय यह है कि मास कैसा ही हो चाहे कचा हो चाहे पकाहुआ हो और चाहे पक रहा हो हरसमय उसमें अनत जीव उत्पन्न होतेरहते हैं। मास खाने अथवा स्पर्श करनेमें ऊपर द्रव्यहिंसा दिखलाई है, भावहिंसा आगेके श्लोकमें दिखलायगे। इसतरह वह दोनोंतरहकी हिंसा करनेवाला होता है। इस श्लोकमें 'स्वय मृतस्यापि' यहा पर जो अपि शब्द है जिसका अर्थ अपने आप 'मरे हुयेका भी' होता है उसका यह अभिप्राय है कि जब अपने प्रयत्नके विना ही स्वय मरे हुये जीवका मास स्पर्श करने अथवा खानेसे हिंसक होता है तो प्रयत्नपूर्वक मारे हुये जीवके मासभक्षण करनेवालेका क्या कहना है वह तो महाहिंसक है ही ॥७॥

---

१ आमा वा पका वा खादति य स्पृशति वा पिशितपेशीं। स निहति सततनिचित पिंड बहुजीवकोटीना ॥ अर्थ–जो जीव कची अथवा अग्नि में पकी हुई मासकी डलीको खाता है अथवा छूता है वह पुरुष निरतर इकठे हुये अनेक जीवोंके समूहके पिंडको नष्ट करता है अर्थात् उनका घात करता है।

आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मासपेशीषु। सातत्येनोत्पाद स्तज्जातीना निगोताना ॥ अर्थ–विना पकी, पकी हुई, तथा पकती हुई भी मासकी डलियोंमें उसी जातिके साधारण जीव निरतर ही उत्पन्न होते रहते हैं।

आगे—मासके खाने या छूनेसे अनत जीवोंकी हिंसा होती है इंद्रियोंका दर्प बढता है इसलिये उसके सेवन करनेसे भावहिंसा अवश्य होती है यही दिखलातेहुये उसके खानेवाले नरक आदि दुर्गतियोंमें परिभ्रमण करते हैं इसका उपदेश देते हैं—

प्राणिहिंसार्पित दर्पमर्पयत्तरस तरा ।
रसयित्वा नृशस स्व विवर्तयति ससृतौ ॥ ८ ॥

अर्थ—जो मास प्राणियोंकी हिंसा करनेसे उत्पन्न होता है अर्थात् जो पचेंद्रिय जीवोंके मारनेसे अथवा उनकी द्रव्यहिंसा करनेसे उत्पन्न होता है और जो मदका अत्यत आवेश (जोश) उत्पन्न करता है अर्थात् जिसके खानेसे इंद्रियोंका मद खूब बढता है खूब भावहिंसा होती है ऐसा जो मास है उसे जो खाता है वह क्रूर कर्म करनेवाला हिंसक अपने आत्माको द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव इन पच परावर्तनरूप दु खमय ससारमें अनतकालतक परिभ्रमण कराता है। अभिप्राय यह है कि मास खानेसे द्रव्यहिंसा तथा भावहिंसा होती है और वह खानेवाला अनत दुर्गतियोंमें भ्रमण करता हुआ दु ख भोगता है ॥ ८ ॥

१ न विना प्राणविघातान्मासस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात् । मास भजतस्तस्मात्प्रसरत्यनिवारिता हिंसा ॥ अर्थ–प्राणोंका घात किये विना मासकी उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती इसलिये मासभक्षी पुरुषके अनिवार्य हिंसा लगती है। भावार्थ–मास शरीरका एक भाग है जो शरीरको छोडकर दूसरी जगह नहीं पाया जाता। जब शरीरका घात किया जायगा तब ही मासकी उत्पत्ति होगी। इसलिये विना जीवघातके मास कभी नहीं मिल सकता।

आगे—जो मास खानेका सकल्प भी करता है उसकी इच्छा भी करता है उसके दोष तथा उसके त्याग करनेवालेके गुण उदाहरण द्वारा दिखलाते हैं—

भ्रमति पिशिताशनाभिध्यानादपि सौरसेनवत्कुगती ।
तद्विरतिरत सुगतिं श्रयति नरश्चण्डवत्खदिरवद्वा ॥९॥

*अर्थ—जो जीव मासभक्षण करनेकी इच्छा भी कर*ता है वह सौरसेन राजाके समान नरक आदि अनेक दुर्गतियोंमें अनतकालतक परिभ्रमण करता है। जब उसकी इच्छा करनेवाला ही दुर्गतियोंमें परिभ्रमण करता है तो उसे खानेवाला अवश्य ही भ्रमण करेगा अनेक तरहके दुख भोगेगा इसमें कोई सदेह नहीं है तथा जिसप्रकार किसी पूर्वकालमें उज्जैन नगरीमें उत्पन्न हुये चड नामके चाडालने अथवा खदिरसार नामके भीलोंके राजाने मांसका त्याग कर सुख पाया था उसीप्रकार जिसने मासभक्षण करना छोड दिया है वह प्राणी स्वर्ग आदि सुगतियोंके अनेक सुख भोगता है ॥ ९ ॥

आगे—गेंहू जो उडद आदि जो मनुष्योंके खानेके अन्न हैं ये भी एकेंद्रिय जीवोंके अग हैं, जब उनके भक्षण कर-

---

ये भक्षयन्त्यन्यपल स्वकीयपलपुष्टये । त एव घातका यन्न वधको भक्षक विना ॥ अर्थ—जो लोग अपना मास पुष्ट करनेके लिये दूसरे प्राणियोंका मास खाते हैं वे ही घातक हैं। यदि वे घातक (हिंसक) नहीं है तो कहो उन खानेवालाके बिना अन्य कौन हिंसक है ?

मासास्वादनलुब्धस्य देहिनो देहिन प्रति । हन्तु प्रवर्तते बुद्धि शाकिन्य इव दुर्धिय ॥ अर्थ—मासका स्वाद लेनेमें लुब्ध हुये ऐसे दुर्बुद्धि पुरुषकी बुद्धि शाकिनीकी कुबुद्धिके समान अन्य प्राणियोंके मारनेमें ही प्रवर्त होती है।

नेमें दोष नहीं है तो मांस भक्षण करनेमें भी दोष नहीं है क्योंकि अन्नके समान मांस भी प्राणियोंका अंग है इसप्रकार अनुमानकर मांसभक्षण करनेमें दोष न माननेवाले अथवा मांसभक्षण करनेमें चतुर ऐसे लोगोंके लिये कहते हैं—

प्राण्यंगत्वे समेप्यन्नं भोज्यं मांसं न धार्मिकैः ।
भोग्या स्त्रीत्वाविशेषेऽपि जनैर्जायैव नांबिका ॥१०॥

अर्थ—मांस प्राणीका [1]अंग है और अन्न भी प्राणीका

---

१ मांसं जीवशरीरं जीवशरीरं भवेन्न वा मांसं । यद्वन्निंबो वृक्षो वृक्षस्तु भवेन्न वा निंबः ॥ अर्थ-मांस प्राणियोंका शरीर है परन्तु सब प्राणियों के शरीर मांस नहीं कहलाते । क्योंकि गेहूं उडद आदि धान्य एकेंद्रिय जीव हैं परन्तु उनमें रक्त मज्जा आदि नहीं हैं इसलिये एकेंद्रिय जीवोंके शरीरको मांस नहीं कह सकते इसका दृष्टांत देखिये— नीमको वृक्ष कह सकते हैं परन्तु संसारमें जितने वृक्ष हैं सबको नीम नहीं कह सकते । क्योंकि वृक्ष शब्दकी व्याप्ति समस्त वृक्षोंपर है । जब वृक्षोंको नीम कहने लगेंगे तो आम बबूल आदि वृक्षोंको भी नीम कहना पडेगा और ऐसा कभी हो नहीं सकता । इसलिये अन्न जीवका शरीर होकर भी मांस नहीं कहला सकता और न उसके खानेमें दोष है । व्यवहारमें भी रेशम आदि पदार्थ प्राणियोंके अंग होनेपर पवित्र माने जाते हैं और उनके समान हड्डी नख आदि पदार्थ पवित्र नहीं माने जाते । इसीप्रकार रोटी दाल भात आदि अन्नके पदार्थ सेवन करनेयोग्य हैं और भक्ष्य हैं तथा मांस अभक्ष्य है क्योंकि मांस खानेसे द्रव्यहिंसा व भावहिंसा दोनों ही अधिक होती हैं ।

अग है। इसतरह यद्यपि दोनों समान हैं तथापि मास लोहू आदिके विकारसे उत्पन्न होता है अत उसमें दोष है इसलिये अहिंसा धर्मके पालन करनेवालोंको मास भक्षण नहीं करना चाहिये। तथा गेंहू जो उडद आदि धान्य यद्यपि एकेंद्रिय जीवोंके अग हैं तथापि वे लोहू आदिके विकारसे उत्पन्न नहीं होते इसलिये उसके खानेमें दोष नहीं है वह भक्ष्य है। अन्नमें प्राणीका अग होनेसे मास कल्पना नहीं हो सकती क्योंकि जो जो प्राणीका अग होता है वह सब मास होता है ऐसा नियम नहा है। यदि

शुद्ध दुग्ध न गोमांस वस्तुवैचित्र्यमीदृश। विषघ्न रत्नमाहेय विष च विपदे यत ॥ अर्थ–एक ही जगह उत्पन्न होनेवाली दो वस्तुओंमें कितना अतर होता है? देखो! गायका दूध शुद्ध है परतु उसका मास शुद्ध नहा है। जैसे रत्न और विष दोनों ही सर्पमें उत्पन्न होते हैं परतु तो भी उन दोनोंमें बडा अतर है। रत्न विषका नाश करनेवाला है और विष प्राणोंका नाश करनेवाला है। यह केवल वस्तुके स्वभाव की ही विचित्रता है। अथवा—

हेय पल पय पेय समे सत्यपि कारणे। विषद्रोरायुषे पत्र मूल तु मृतये मत ॥ अर्थ–गायके दूध और मासके उत्पन्न होनेका घास पानी आदि एक ही कारण है तथापि मास छोडने योग्य है और दूध पीने योग्य है। जैसे एक हा जल मिट्टीसे उत्पन्न होनेवाले विषवृक्षके पत्ते आयु बढानेवाले हैं और उसकी जड आयुको नाश करनेवाली है।

ऐसा नियम मान लिया जायगा तो जैसे नीम वृक्ष होता है इसतरह वृक्ष भी सब नीम होने चाहिये और फिर अशोक आदिको भी नीम कहना पडेगा इसलिये अन्न प्राणीका अंग होनेपर भी मांस नहीं है। जैसे माता और सहधर्मिणी स्त्री इन दोनोंमें यद्यपि स्त्रीपना एकसा है अर्थात् दोनों ही स्त्रीपर्यायको धारण करनेवाली है तथापि पुरुषोंको सहधर्मिणी स्त्री ही भोगने योग्य है माता नहीं। भावार्थ–पुरुष केवल स्त्रीका ही उपभोग करता है माताका नहीं इसीतरह धान्य ही भक्ष्य है मांस नहीं।॥ १० ॥

पंचेंद्रियस्य कस्यापि वधे तन्मांसभक्षणे। यथा हि नरकप्राप्ति र्न तथा धान्यभोजनात्॥ अर्थ–किसी भी पंचेंद्रिय प्राणीके मारने अथवा उसके मांस भक्षण करनेसे जैसी नरक आदि दुर्गति मिलती है वैसी दुर्गति अन्नके भोजन करनेसे नहीं होती।

धान्यपाके प्राणिवधः परमेकोवशिष्यते। गृहिणां देशयमिनां स तु नात्यंतबाधकः॥ अर्थ–गेहूं आदि धान्यके पकनेपर केवल एकेंद्रियका ही घात होता है सो एक देशसंयमको धारण करनेवाले गृहस्थोंके लिये यह अत्यंत बाधक नहीं होता, अर्थात् गृहस्थ उसका त्यागी नहीं होता।

मांसस्वादकगतिं विमृशंत सस्यभोजनरता इह संत। प्राप्नुवंति सुरसंपदमुच्चै र्जैनशासनजुषो गृहिणोऽपि॥ अर्थ–मांस खानेवालोंके भयंकर परिणामोंको विचारकर अर्थात् मांसका त्यागकर केवल धान्यका भोजन करनेवाले और जैनधर्मकी श्रद्धा रखनेवाले सज्जन चाहे गृहस्थ ही हो तथापि उन्हें स्वर्गलोककी उत्तम संपत्ति प्राप्त होती है।

आगे–क्रमके अनुसार मधु अर्थात् शहतके दोष[1] दिखलाते हैं–

मधुकृद्व्रातघातोत्थं मध्वशुच्यपि बिंदुशः ।
खादन् बध्नात्यघं सप्तग्रामदाहांहसोऽधिकं ॥११॥

अर्थ–भौंरा डांस मधुमक्खी आदि प्राणियोंके समुदायके विनाश होनेसे शहत उत्पन्न होता है इसके सिवाय उसमें हर समय जीव उत्पन्न होते रहते हैं और मक्खी आदि प्राणियोंकी वह झूठन है इसलिये वह अत्यंत अपवित्र है कभी कभी शहत निकालनेवाले म्लेच्छ जीवोंकी लार वगैरह भी उसमें आपडती है इसतरह वह शहत महा अपवित्र और तुच्छ है। जो कोई मनुष्य ऐसे अपवित्र शहतकी एक बूंद भी खाता है उसे सात

---

[1] अनेकजंतु संघातनिघातनसमुद्भवं । जुगुप्सनीयं लालावत्कः स्वादयति माक्षिकं ॥२॥ अर्थ–अनेक प्रकारके प्राणियोंके समुदायको विनाश करनेसे उत्पन्न हुये और लारके समान घृणित ऐसे शहतको भला कौन धर्मात्मा पुरुष भक्षण कर सकता है? अथवा–

मक्षिकागर्भसंभूतबालाडकनिपीडनात्। जातं मधु कथं संतः सेवंते कललाकृति ॥२॥ अर्थ–जो मधुमक्खीके गर्भसे उत्पन्न होता है और छोटे छोटे अंडे बच्चोंको दाबकर निचोडनेसे निकलता है ऐसे मांसके समान शहतको सज्जन पुरुष कैसे सेवन करते हैं? ॥

एकैककुसुमक्रोडाद्रसमापीय मक्षिका। यद्वमति मधूच्छिष्टं तदश्नंति न धार्मिकाः ॥३॥ अर्थ–मधुमक्खी एक एक फूलके मध्य भागसे रस पीकर फिर उसे जो वमन करती है उसे शहत कहते हैं ऐसे झूठन शहतको धार्मिक लोग कभी नहीं खाते।

गाव जलानेके पापसे भी अधिक पाप [1]लगता है। जब उसकी एक बूंद खानेमें इतना पाप है तब उसको अधिक खाने या अन्य किसी काममें लानेसे महा पाप होगा ही इसमें कोई संदेह नहीं है।

आगे–शहतके समान नवनीत अर्थात् मक्खन अथवा लौनीमें बहुत दोष है इसलिये उसके भी त्याग करनेका उपदेश देते हैं—

मधुवन्नवनीतं च मुंचेत्तत्रापि भूरिशः ।
द्विमुहूर्तात्परं शश्वत्संसजन्त्यंगिराशयः ॥१२॥

अर्थ—जिसप्रकार शहतमें सदा अनंत जीव उत्पन्न होते रहते हैं उसीप्रकार मक्खन या लौनीमें भी दो मुहूर्तके बाद निरंतर अनेक सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न होते रहते हैं इसलिये

१–ग्रामसप्तकविदाहिरेपसा तुल्यता न मधुभक्षिरेफसः । तुल्य मनल्जिलेन कुत्रचिन्निम्नगापतिजलं न जायते ॥ अर्थ–सात गांवोंके जलानेसे जो पाप हुआ है वह कुछ शहत खानेसे उत्पन्न हुये पापकी समानता नहीं कर सकता क्योंकि हाथकी हथेलीपर रक्खाहुआ पानी क्या समुद्रके पानी की बराबरी कर सकता है ? अर्थात् कभी नहीं। अभिप्राय यह है कि सात गावोंके जलानेके पापसे भी शहत खानेमें अधिक पाप लगता है इसलिये उसके खानेकी इच्छा नहीं करना चाहिये।

धर्मात्मा पुरुषोंको शहदके समान मक्खन वा लौनीका भी [१] त्याग कर देना चाहिये। अभिप्राय यह है कि मक्खन वा लौनीमें दो मुहूर्तके बाद जीव उत्पन्न होते हैं और फिर निरंतर उत्पन्न होते तथा मरते रहते हैं। इसलिये वह त्याज्य है॥१२॥

यभिरवादिषति सारघ कुधी मक्षिकागणविनाशनस्पृह। पाप कर्दमनिषेधनिम्नगा तस्य हत करुणा कुतस्तनी॥ अर्थ–जिस दुर्बुद्धिके शहद खानेकी इच्छा होती है उसके मधुमक्खियोंके नाश करनेकी ही इच्छा होती है। ऐसे मनुष्यके पापरूपी कीचडको धो देनेवाली नदीके समान करुणा कहा रह सकती है? अर्थात् दुःखके साथ कहना पडता है कि उसके करुणा कभी नहीं रह सकती। अथवा—

स्वयमेव विगलित यो गृह्णीयाद्वा छलेन मधुगोलात्। तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रय प्राणिना घातात्॥ अर्थ–जो शहतके छत्तेसे कपटसे अथवा मक्खियों द्वारा स्वयमेव उगला हुआ शहद ग्रहण किया जाता है वहा भी उसके आश्रय रहनेवाले अनेक प्राणियोंके घातसे हिंसा अवश्य होती है।

१–यन्मुहूर्तयुगत पर सदा मूर्च्छति प्रचुरजीवराशिभि।

तद्गिलति नवनीतमत्र ये ते व्रजति खलु का गतिं मृता॥

अर्थ—दो मुहूर्त अर्थात् चार घडीके पीछे जिसमे अनेक सम्मूर्छन जीव भर जाते हैं तथा निरतर उत्पन्न होते रहते हैं ऐसे मक्खनको जो लोग खाते हैं वे मरनेके पीछे किस दुर्गतिमें जायगे? यह कह नहीं सकते।

आगे—पाचों उदवर फलोंके खानेमें भी द्रव्यहिंसा और भावहिंसाका [2]दोप लगता है इसीको प्रतिपादन करते है—

पिप्पलोदुवरप्लक्षवटफलगुफलान्यदन् ।
हत्यार्द्राणि त्रसान् शुष्काण्यपि स्व रागयोगत ॥१३॥

अर्थ—पीपल, ऊमर (गूलर), पाकर, बड और कठूमर (काले गूलर अथवा अजीर) इन पाचों वृक्षोंके हरे फल खानेवाला जीव सूक्ष्म और स्थूल दोनों तरहके त्रस जीवोंकी हिंसा[3] करता है क्योंकि इन फलोंमें अनेक सूक्ष्म स्थूल जीव

इस विषयमें अन्य आचार्योंका ऐसा भी मत है—

अतर्मुहूर्तात्परत सुसूक्ष्मा जतुराशय । यत्र मूर्च्छति नाद्य तन्नवनीत विवेकिभि ॥ अर्थ— मक्खन वा लौनीमे अतमुहूर्तसे पीछे अनेक सूक्ष्म जीव उत्पन्न हो जाते हैं इसलिये वह विवेकी पुरुषोंको नहीं खाना चाहिये ।

२—अश्वत्थोदुवरप्लक्षन्यग्रोधादिफलेष्वपि । प्रत्यक्षा प्राणिन स्थूला सूक्ष्माश्चागमगोचरा ॥ अर्थ—उदवर आदि पाचों फलोंमे स्थूलजीव कितने भरे हुये हैं वे तो प्रत्यक्ष ही देख पडते हैं परतु उनमें सूक्ष्म भी अनेक जीव हैं जो कि देख नहीं पडते केवल शास्त्रोंसे जाने जाते हैं।

३—सख्यजीवव्यपघातवृत्तिभिर्न धीवरैरस्ति सम समानता । अनतजीवव्यपरोपकाणामुदुवराहारविलोलचेतसा ॥ अर्थ—धीवर लोग नदी आदिमें जाल डालकर मछलीया मारते हैं परतु उन मरे हुये जीवोंकी सख्या होती है और उदुबर खानेमें मरनेवालोंकी सख्या ही नहीं है अनत जीव मर जाते है इसलिये इसमें भी अधिक पाप है।

भरे रहते हैं। और जो जीव इन्हीं फलोंको सुखाकर खाता है अथवा बहुत दिन पड़े रहनेसे जिनके सब त्रस जीव मर गये है ऐसे फलोंको खाता है वह भी उन फलोंमें अधिक राग रखनेसे उनमें अधिक प्रेम रखनेसे अपने आत्माका घात करता है। अभिप्राय यह है कि इन फलोंको हरे खानेसे द्रव्यहिंसा भावहिंसा दोनों ही होती हैं और [1]सूके खानेसे मुख्यतया भावहिंसा होती है और गौणतासे [2]द्रव्यहिंसा होती है इसलिये हरे सूके दोनों तरहके उदुबरोंका त्याग करना चाहिये। यह श्लोक अंतर्दीपक अर्थात् बीचमें रक्खे हुये दीपकके समान है। बीचमें रक्खा हुआ दीपक जैसे पीछे रक्खे हुये पदार्थोंको भी प्रकाश करता है उसीतरह यह श्लोक भी सूके मद्य मांस मधुके खानेका भी निषेध करता है। भावार्थ–जैसे उदुंबर आदि फल हरे और सूके दोनों छोडने-योग्य हैं उसीतरह मद्य मांस मधु भी रस सहित और सूके

१–यानि तु पुनर्भवेयु कालोच्छिन्नत्रसाणि शुष्काणि। भजतस्तान्यपि हिंसा विशिष्टरागादिरूपा स्यात् ॥ अर्थ–समय पाकर जिनके त्रस जीव मर गये हैं ऐसे सूके उदंबर आदि फलोंके खानेसे भी विशेष रागरूपी भावहिंसा होती है।

२–यद्यपि सूके गूलर आदि फलोंमें त्रस जीव मर जायगे तथापि उनका मांस उसीमें रहेगा इसलिये सूके उदुंबर खानेसे मांस खानेका दोष भी अवश्य लगेगा।

दोनों ही छोडनेयोग्य हैं। क्योंकि सूके मद्य आदिमें विशेष राग होनेसे आत्मघात होता है ॥ १३ ॥

आगे–जिसप्रकार मद्य मांस आदिके खानेमें दोष है उसीप्रकार रात्रिभोजन करने और विना छने पानीके पीनेमें भी दोष है इसलिये इन दोनोंके त्याग करनेकेलिये कहते हैं–

रागजीववधापाय भूयस्त्वात्तद्वदुत्सृजेत ।
रात्रिभक्त तथा युज्यान्न पानीयमगालित ॥ १४॥

अर्थ–धर्मात्मा पुरुष जिसप्रकार मद्य आदिका त्याग करते हैं उसीप्रकार उन्हें रात्रिभोजनका त्याग भी अवश्य करना चाहिये। क्योंकि रात्रिमें भोजन करनेसे दिनकी अपेक्षा विशेष [1]राग होता है, [2]अधिक जीवोंका घात होता है और जलोदर आदि अनेक रोग हो जाते है। तथा ये ही सब दोष विना छने पानीके पीनेमें है, इसलिये धर्मात्मा पुरुषोंको विना छने पानी पीनेका त्याग भी करना चाहिये। पानी पीने योग्य पदार्थ हैं इसलिये पानी शब्दसे पीने योग्य अर्थात् पानी घी तैल दूध रस आदि समस्त पतले पदार्थ लेना चाहि-

१–रागाद्युदयपरत्वादनिवृत्तिर्नातिवर्तते हिंसा। रात्रिं दिवमाहरत कथ हि हिंसा न संभवति ॥ अर्थ–तीव्र राग आदि भावोंके उदयसे किसीका त्याग नहीं हो सकता और विना त्याग किये हिंसा छूट नहीं सकती। इसलिये जो लोग रात और दिन खाते रहते हैं उनके हिंसा क्यों नहीं हो सकती? अर्थात् अवश्य होगी।

ये और इन सबको छानकर पीना चाहिये, तथा बिना छनेका त्याग करना चाहिये ॥ १४ ॥

आगे—भोले लोगोंकी रुचि बढानकोलिये रात्रिभोजनके त्यागका उत्तमफल दृष्टांतद्वारा दिखलाते हैं—

चित्रकूटेऽत्र मातंगी यामानस्तमितव्रतात् ।
स्वभर्त्रा मारिता जाता नागश्री सागरागजा ॥१५॥

अर्थ—यहा ही अर्थात् मालवा देशके उत्तरदिशामें प्रसिद्ध चित्रकूटपर्वतपर रहनेवाली एक चाडालिनीको जागरिक नामके उसके पतिने मार डाला था परतु उस चाडालीनीने एक

यद्येव तर्हि दिवा कर्तव्यो भोजनस्य परिहार । भोक्तव्य तु निशाया नेत्थ नित्य भवति हिंसा ॥ नैव वासरभुक्ते भवति हि रागा धिको रजनिभुक्तौ । अन्नकवलस्य भुक्ते भुक्ताविव मांसकवलस्य ॥ भावार्थ—यदि सदाकाल भोजन करनेसे ही हिंसा होती है तो दिनके भोजनका त्याग करके रात्रिको ही भोजन करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करनेसे सदा हिंसा नहीं होगी ? सो ऐसा नहीं है क्योंकि जैसे अन्नके भोजनसे मासके भोजनमें अधिक राग होता है उसीतरह दिनके भोजनसे रात्रिके भोजनमें अधिक राग होता है ।

२—अर्कालोकेन विना भुजान परिहरेत्कथ हिंसा । अपि बोधिते प्रदीपे भोज्यजुषा सूक्ष्मजीवाना ॥ अर्थ—सूर्यके प्रकाशके विना अर्थात् रात्रिमें भोजन करनेवाले पुरुषोंके जलाये हुये दीपकम भी भोजनमें मिले हुये सूक्ष्म जतुओकी हिंसा किसप्रकार दूर की जा सक्ती है ? ।

पहरतक अर्थात् तीन घटे तक रात्रीभोजन त्यागका व्रत पालन किया था इसलिये उसी पुण्यके प्रभावसे वह चाडालिनी मरकर शेठ सागरदत्तकी नागश्री नामकी पुत्री हुई थी। अभिप्राय यह है कि एक पहरतक ही रात्रिभोजनका त्याग कर देनेसे चाडालिनीने भी एक धार्मिक श्रीमानके यहा जन्म लिया था। यदि इसे अच्छे गृहस्थ धारण करे तो फिर उनकी बात ही क्या है उन्हें अवश्य ही स्वर्गादिके सुख मिलेंगे ॥१५॥

आगे—जिसने मद्यमांस मधु आदिका त्याग कर दिया है आठ मूलगुण धारण करलिये हैं ऐसे पाक्षिक श्रावकको अपनी शक्तिके अनुसार अहिंसा आदि अणुव्रतोंका भी अभ्यास करना चाहिये ऐसा कहते हैं—

स्थूलहिंसानृतस्तेयमैथुनग्रंथवर्जनं ।
पापभीरुतयाभ्यस्येद्बलवीर्यानिगूहकः ॥१६॥

अर्थ—आहार आदिसे उत्पन्न होनेवाली शक्तिको बल कहते हैं और स्वाभाविक शक्तिको पराक्रम वा वीर्य कहते हैं। श्रावकको अपने बल और पराक्रमको न छिपाकर अर्थात् अपनी शक्तिके अनुसार पाप होनेके डरसे स्थूलहिंसा, झूठ, चोरी, परस्त्री और धन धान्य दासी दास आदि अधिक परिग्रह इन पांचों पापोंके त्याग करनेका अभ्यास करना चाहिये, अर्थात् इनके त्याग करनेकी भावना रखना चाहिये। श्रावकको हिंसा-

दिकमें पाप होनेके डरसे स्थूल हिंसाआदिके त्याग करनेका अभ्यास करना चाहिये राजा आदिके डरसे नहीं, क्योंकि यदि वह राजादिके डरसे हिंसादिके त्याग करनेका अभ्यास करेगा तो उससे उसके कर्म नष्ट नहीं होंगे ॥१६॥

आगे—स्थूल हिंसादिके त्याग करनेवाले श्रावकको वेश्या आदिके समान जूआका भी त्याग करना चाहिये ऐसा उपदेश देते है—

द्यूते हिंसानृतस्तेयलोभमायामये सजन्।
क्व स्वं क्षिपति नानर्थे वेश्याखेटान्यदारवत् ॥१७॥

अर्थ—जूआ खेलनेमें हिंसा, झूठ, चोरी, लोभ और कपट आदि दोषोंकी ही अधिकता होती है। अर्थात् जूआ इन दोषोंसे भरपूर भरा हुआ है। जूआके समान वेश्यासेवन, परस्त्रीसेवन और शिकार खेलना भी हिंसा झूठ चोरी आदि पापोंसे भरा हुआ है। इसलिये जैसे वेश्यासेवन परस्त्रीसेवन और शिकार खेलनेसे यह जीव स्वयं नष्ट होता है, जातिभ्रष्ट होता है और धर्म अर्थ काम इन पुरुषार्थोंसे भ्रष्ट होता है उसीप्रकार जो श्रावक हिंसा झूठ चोरी लोभ और कपट इन पापोंसे भरे हुये ऐसे जुआके खेलनेमें अत्यंत आसक्त होता है वह अपने आत्माको तथा अपनी जातिको किस किस आपत्तिमें नहीं डाल देता है ? अर्थात् वह स्वयं नष्ट होता है उसके धर्म अर्थ काम ये सब पुरुषार्थ नष्ट हो जाते हैं और वह अपनी

जातिको भी रसातलमें पहुचा देता है। अभिप्राय यह है कि पाक्षिक श्रावकको वेश्यासेवन परस्त्रीसेवन और शिकार खेलनेका भी त्याग करना चाहिये तथा इसीतरह जूआ खेलनेमें भी आसक्त नहीं होना चाहिये। क्योंकि इन सबमें हिंसादि पाप होते है। यहापर "जूआमें आसक्त नहीं होना चाहिये" ऐसा जो लिखा है उसका यह अभिप्राय है कि पाक्षिक श्रावक केवल क्रीडा करने वा चित्त प्रसन्न करनेके लिये जूआ खेलनेका त्याग नहीं कर सकता। पाक्षिक श्रावकके लिये केवल जूआमें आसक्त होनेका निषेध है ॥१७॥

१–सर्वानर्थप्रथन मथन शौचस्य सद्म मायाया। दूरात्परिहर्तव्य चौर्यासत्यास्पद द्यूत ॥ अर्थ–जूआ खेलना सब अनर्थोका कारण है, पवित्रताका नाश करनेवाला है, मायाका घर और चोरी झूठका स्थान है इसलिये इसे दूरसे ही छोड देना चाहिये।

कौपीन वसन कदन्नमशन शय्याधरा पासुला। जल्पाश्लीलगिर कुटुम्बकजनद्रोह सहाया विटा ॥ व्यापारा परवचनानि सुहृदश्चौरा महा तो द्विप। प्राय सैप दुरोदरव्यसनिन ससारवासक्रम ॥ अर्थ–जुआरी लोगोंके पास लगोटीके सिवाय अन्य वस्त्र नहीं ठहरते, बुरे अन्न ही खानेको मिलते हैं, धूलीवाली जमीन ही सोनेको मिलती है, उनके वचन सदा अश्लील रहते हैं वे कुटुम्बी जनोंसे सदा द्वेष रखते हैं, लुचे लफगे उनके सहायक होते हैं, दूसरोंको ठगना ही उनका व्यापार होता है, चोर ही उनके मित्र होते हैं और पूज्य वा बडे पुरुषोंको वे शत्रु समझते हैं। जुआरी लोगोंके ससारमें रहनेका निवास प्राय इसीतरहका होता है।

आगे– धर्माचार्योंका उपदेश जैनसिद्धांतसे विरुद्ध न होकर भी शिष्योंके अनुरोधसे अनेक तरहका होता है इसलिये ही श्रावकोंके आठ मूलगुण दूसरीतरहसे भी कहते हैं–

मद्यपलमधुनिशासनपंचफलीविरतिपंचकाप्तनुती ।
जीवदया जलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणाः ॥१८॥

अर्थ–[1]मद्यका त्याग, मांसका त्याग, शहदका त्याग, रात्रीभोजनका त्याग, पांचों उदंबरफलोंका त्याग, सबेर दोपहर और शाम इन तीनों समय देवपूजा (देववंदना) करना, दया करने योग्य प्राणियोंपर दया करना और पानी छानकर काममें लाना श्रावकोंके लिये ये आठ मूलगुण भी किसी किसी शास्त्रमें लिखे हैं ॥ १८ ॥

आगे—इस मूलगुणोंके प्रकरणका उपसंहार करते हैं और जो सम्यग्दर्शनको सदा शुद्ध रखकर मद्य मांस आदिको त्याग करते हैं तथा यज्ञोपवीत धारण करते हैं ऐसे ब्राह्मण

१–मद्योदुंबरपंचकामिषमधुत्यागाः कृपा प्राणिनां । नक्तं भुक्ति विमुक्तिराप्तविनुतिस्तोयं सुवस्त्रस्रुतं ॥ एतेऽष्टौ प्रगुणा गुणा गणधरैः रागारिणां कीर्तिता । एकेनाप्यमुना विना यदि भवेद्भूतो न गेहाश्रमी ॥ अर्थ–मद्यका त्याग, पांचों उदंबरफलोंका त्याग, मांसका त्याग, मधुका त्याग, रात्रिभोजनका त्याग तथा प्राणियोंपर दया करना, तीनों समय देववंदना करना और पानी छानकर काममें लाना ये आठ मुख्य गुण अर्थात् मूलगुण गृहस्थोंके लिये गणधरदेवने कहे हैं। इनमेंसे यदि एक भी गुण कम हो तो उसे गृहस्थ नहीं कह सकते ।

क्षत्रिय वैश्यको ही जैनधर्मके सुननेका अधिकार है ऐसा प्रगट कर दिखलाते हैं—

यावज्जीवमिति त्यक्त्वा महापापानि शुद्धधी ।
जिनधर्मश्रुतेर्योग्य स्यात्कृतोपनयो द्विज' ॥ १९ ॥

अर्थ—ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य ये तीनों वर्ण द्विज कहलाते हैं क्योंकि शास्त्रोंमें लिखा है ' त्रयोवर्णा द्विजातय " अर्थात् तीनों वर्ण द्विज हैं। जो दो वार जन्म ले उसे द्विज कहते हैं। ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य ये प्रथम तो माताके गर्भसे जन्म लेते हैं और फिर इनका दूसरा जन्म जैन शास्त्रोंमें कहे हुये यज्ञोपवीत आदि सस्कारोंसे होता है। ये सस्कार अथवा इन सस्कारोंद्वारा जन्म सम्यग्ज्ञानादि बढानेके लिये ही होता है। इन दो प्रकारके जन्म लेनेसे ही ये द्विज कहलाते है। जो पुरुष इन तीनों वर्णोंमेंसे किसी वर्णका हो और जिसने विधिपूर्वक मौंजीबधन सहित यज्ञोपवीत (जनेऊ) धारण किया हो उसकी बुद्धि यदि सम्यग्दर्शनसे विशुद्ध हो गई हो अर्थात् उसके सम्यग्दर्शन हो और वह अनत ससारको बढानेवाले मद्य मांस आदि पहिले कहे हुवे महापापोंको जन्मभरके लिये उपर लिखे अनुसार त्याग कर दे अर्थात् वह यदि सम्यग्दर्शनपूर्वक आठ मूलगुण धारण करले तब वह पुरुष वीतराग सर्वज्ञदेवके कहेहुये उपासकाध्ययन (श्रावकाचार) आदि धर्मशास्त्रोंके

सुननेका अधिकारी[1] होता है। अभिप्राय यह है कि जिनके गर्भाधान आदि सब संस्कार हुये हैं ऐसे ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य यज्ञोपवीत धारण करनेके पीछे आठ मूलगुणोंको धारणकर जैन धर्म और श्रावकाचार आदि शास्त्रोंके पढने सुननेके योग्य होते हैं। (शूद्रोंके लिये बाइसवा श्लोक देखिये)॥१९॥

आगे—स्वाभाविक और पीछेसे ग्रहण किये हुये अलौकिक गुणोंको धारण करनेवाले भव्य पुरुषोंको यथायोग्य रीतिसे कहते हैं—

जाता जैनकुले पुरा जिनवृषाभ्यासानुभावाद्गुणै
येऽयत्नोपनतैः स्फुरंति सुकृतामग्रेसराः केऽपि ते।
येऽप्युत्पद्य कुदृक्कुले विधिवशाद्दीक्षोचिते स्वं गुणै-
र्विद्याशिल्पविमुक्तवृत्तिनि पुनन्त्यन्वीरते तेऽपि तान्॥२०॥

अर्थ—जो जिनेंद्रदेवकी उपासना करते हैं अर्थात् जो अरहंत भगवानको ही देव मानते हैं उन्हें जैन कहते हैं। उनका जो कुल है अर्थात् दादा परदादा आदि पहिलेके पुरुषोंकी परंपरासे आया हुआ जो वंश है जो कि जैन शास्त्रोंमें कहे हुये गर्भाधानादि निर्वाण पर्यंत क्रिया मंत्र संस्कार आदिके

---

[1] अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य। जिनधर्मदेशनाया भवंति पात्राणि शुद्धधियः॥ अर्थ—दुःख देनेवाले, दुस्तर और पापोंके स्थान ऐसे इन सब मांस आदि आठों पदार्थोंका परित्याग कर अर्थात् आठ मूलगुण धारण कर निर्मलबुद्धि वाले पुरुष जिनधर्मके उपदेश सुननेके पात्र होते हैं।

सबधसे वृद्धिको प्राप्त हुआ है उसे जैनकुल कहते हैं। जो पुरुष पहिलेके अनेक जन्मोंमें बार बार सर्वज्ञदेवके कहे हुये जैनधर्मके पालन करनेसे प्राप्त हुये पुण्यकर्मके उदयसे जैनकुलमें [1]उत्पन्न हुये हैं, और विना ही प्रयत्न किये अर्थात् जैनकुलमें उत्पन्न होनेसे ही अपने आप प्राप्त हुये सम्यग्दर्शन आदि गुणोंसे जो लोगोंके चित्तमें आश्चर्य उत्पन्न करते है ऐसे पुरुष सम्यग्दर्शनके साथ साथ प्राप्त होनेवाले पुण्यकर्मके उदयसे पुण्यवान पुरुषोंमें भी मुख्य गिने जाते है और वे इस वर्तमान समयमें बहुत थोडे हैं। तथा कितने ही भव्यपुरुष ऐसे हैं कि जो मिथ्यादृष्टियोंके ऐसे कुलमें उत्पन्न हुये हैं कि जिसमें जीविकाके लिये नाचना गाना आदि विद्या और बढईका काम शिल्प ये दोनों काम नहीं होते है अर्थात् जिस कुलमें विद्या और शिल्पको छोडकर शेष असि मसि कृषि और व्यापार ये चार ही जीविकाके उपाय हैं और जो कुल दीक्षा ग्रहण करनेके योग्य है। व्रतोंको प्रगट कर दिखाना अथवा व्रतोंके सन्मुख अपनी वृत्ति रखना इसको दीक्षा कहते हैं। यहापर उपासकदीक्षा अर्थात् श्रावकोंके व्रत धारण करना, जिनमुद्रादीक्षा अर्थात् मुनियोंके व्रत धारण करना और यज्ञोपवीतस-

---

1 जो जीव पूर्व जन्ममें जैनधर्मका पालन करते थे वे इस जन्ममें भी आकर जैनकुलमें उत्पन्न होते हैं क्योंकि उनका सस्कार ही वैसा होता है।

स्कार ये तीन दीक्षायें ग्रहण की गई हैं। इन तीनोंमेंसे वह कुल किसी दीक्षाके योग्य हो। जो पुरुष मिथ्यात्वके साथ साथ होनेवाले पुण्यकर्मके उदयसे मिथ्यादृष्टियोंके ऐसे कुलमें जन्म लेकर आगे कहे हुये तत्त्वोंका श्रद्धान करना आदि गुणोंसे अपने आत्माको पवित्र करते हैं वे भी जैनकुलमें उत्पन्न होनेवालोंके समान ही हो जाते हैं। ग्रथकारने ऐसे लोगोंके लिये अपि शब्दसे आश्चर्य प्रगट किया है अर्थात् यह भी एक आश्चर्य है कि मिथ्यादृष्टियोंके कुलमें उत्पन्न होनेवाले भी तत्त्वार्थश्रद्धान आदि गुणोंका धारण कर जैनकुलमें उत्पन्न होनेवाले पुण्यवान सम्यग्दृष्टियोंके समान गिने जाते हैं। अभिप्राय यह है कि भव्य दो प्रकारके हैं–एक तो वे कि जो जैनकुलमें जन्म लेकर पूर्व जन्मके संस्कारसे स्वभावसे ही धर्मात्मा हैं, और दूसरे वे कि जो मिथ्यादृष्टियोंके कुलमें जन्म लेकर जैनधर्म धारणकर धर्मात्मा हुये हैं ॥ २० ॥

आगे–ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन द्विजातियोंमेंसे कुलक्रमसे आये हुये मिथ्याधर्मको छोडकर और विधिपूर्वक जैनधर्मको धारण कर जो स्वाध्याय ध्यान आदिके निमित्तसे अशुभ कर्मोंका नाश करता है उस भव्य पुरुषकी प्रशंसा करते हैं—

तत्त्वार्थं प्रतिपद्य तीर्थकथनादासाद्य देशव्रतं
तद्दीक्षाग्रधृतापराजितमहामंत्रोऽस्तदुर्दैवतः ।
आंगं पौर्वमथार्थसंग्रहमधीत्याधीतशास्त्रांतरः
पर्वांते प्रतिमासमाधिमुपयन् धन्यो निहंत्यंहसी॥२१॥

अर्थ—मिथ्याधर्म छोडकर जैनधर्म धारण करनेके लिये आठ प्रकारके सस्कार[1] करने पडते हैं और वे सस्कार इस प्रकार है कि जो मिथ्यादृष्टि भव्य पुरुष तीर्थ अर्थात् धर्माचार्य अथवा गृहस्थाचार्यके उत्तम उपदेशसे जीव अजीव आदि तत्त्वोंका निश्चय करता है अर्थात् उनका श्रद्धान करता है (इसका नाम अवतारक्रिया है) फिर

१ इन सस्कारोंका विशेष वर्णन भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत आदिपुराणके ३९ व पर्वमें दीक्षान्वयक्रियाके अतर्गत कहा है। अणुव्रत अथवा महाव्रत स्वीकार करनेमें सन्मुख हुई मनुष्योंकी वृत्तिको दीक्षा कहते है। दीक्षा सबधी क्रियाओंको दीक्षान्वयक्रिया कहते हैं। उसके ४८ भेद है उनमेंसे जो भव्य जीव मिथ्यादृष्टि कुलमें उत्पन्न होकर जैनधर्म स्वीकार करते है उनके लिये आठ क्रियाय कही हैं और वे क्रमसे ये हैं—

अवतारो वृत्तलाभ स्थानलाभो गणग्रह । पूजाराध्यपुण्ययशौ दृढचर्योपयोगिता॥ अर्थ—अवतार, वृत्तलाभ, स्थानलाभ, गणग्रह, पूजाराध्य, पुण्ययश, दृढचर्या और उपयोगिता ये आठ क्रिया हैं इनमेंसे प्रत्येकका लक्षण इसप्रकार है कि दिगबरमुनि अथवा धर्मनिष्ट विद्वान् गृहस्थाचार्य इनमेंसे किसी एकके उत्तम उपदेशसे मिथ्यात्वको छोडकर अरहत देवके कहे हुये तत्त्वोंके श्रद्धान करनेको अवतारक्रिया कहते हैं। इसका दूसरा नाम धर्मजन्म भी है क्योंकि—

गुरुर्जनयिता तत्त्वज्ञान गर्भ सुसस्कृत । तथा तत्रावतीर्णोऽसौ भव्यात्मा धर्मजन्मना ॥ अर्थ—गुरु ही पिता है और उससे उत्पन्न हुआ तत्त्वज्ञान उत्तम सस्कार सहित एक गर्भ है उस ज्ञानगर्भसे यह

पहिले कहे हुये मूलगुण अणुव्रत आदि [1]देशव्रतको धारण करता है, (इसे व्रतलाभक्रिया कहते हैं) तदनन्तर प्रथम ही श्रावककी दीक्षा धारणकर अर्थात् श्रावकके व्रत ग्रहणकर गुरुके मुखसे गणधरादि देवोंके द्वारा पूज्य ऐसे अपराजित [2]महामंत्र-

---

भव्यात्मा धर्मस्वीकाररूप अवतार लेता है इसलिये इस अवतारको धर्मजन्म कहते हैं। अभिप्राय यह है कि जब यह जीव एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरको धारण करता है तब वह उसका शरीरजन्म गिना जाता है। इसीतरह यह जीव जब मिथ्यात्वधर्मको छोड़कर सम्यग्दर्शन स्वीकार करता है तब वह उसका धर्मजन्म कहना ही चाहिये।

१-ततोस्य वृत्तलाभः स्यात्तदैव गुरुपादयोः। प्रणतस्य व्रतव्रातं विधानेनोपसेदुषः ॥ अर्थ—जिससमय इस भव्यके गुरुके उपदेशसे सम्यक्त्व प्रगट होता है उसीसमय यदि वह गुरुके चरणकमलोंको नमस्कारकर विधिपूर्वक आठ मूलगुण आदि व्रत धारण करे तो उसकी वह वृत्तलाभक्रिया कही जाती है।

२-ततः कृतोपवासस्य पूजाविधिपुरस्सरं। स्थानलाभो भवेदस्य तत्रायमुचितो विधिः ॥ अर्थ—वृत्तलाभके पीछे जिनेंद्रदेवकी पूजाकर उपवासादि करनेको स्थानलाभ कहते हैं। इसका क्रम इसप्रकार है—

जिनालये शुचौ रंगे पद्ममष्टदलं लिखेत्। विलिखेद्वा जिनास्थानमंडलं समवृत्तकं ॥ श्लक्ष्णेन पिष्टचूर्णेन सलिलालोडितेन वा। वर्तनं मंडलस्येष्टं चंदनादिद्रवेण वा ॥ तस्मिन्नष्टदले पद्मे जैने वास्थानमंडले। विधिना लिखिते तज्ज्ञैर्विष्वग्विरचितार्चने ॥ जिनार्च्याभिमुखं सूरिर्विधिनैनं निवेशयेत्। तवोपासकदीक्षेयमिति मूर्ध्नि मुहुः स्पृशन् ॥ पंचमुष्टि

को अर्थात् पचनमस्कार महामत्रको स्वीकार करता है, (इसको स्थानलाभ क्रिया कहते हैं।) फिर वह कुदेवोंका

विधानेन स्पृष्ट्वैनमधिमस्तक। पूतोसि दीक्षयेत्युक्त्वा सिद्धशेषा च लम्भयेत् ॥ तत पचनमस्कारपदान्यस्मायुपादिशेत्। मन्त्रोयमखिलात्पापात्त्वा पुनीतादितीरयन् ॥ कृत्वा विधिमिमं पश्चात्पारणाय विसर्जयेत्। गुरोरनुग्रहात्सोपि सप्रीत स्व गृहं व्रजेत् ॥

अर्थ—जिनालयके निर्मल मडपमें अनेक रगके बारीक पिसे चूर्णसे अथवा पानीमें मिलाये हुये पिसे चूर्णसे अथवा चदन आदि सुगधित घिसे हुये द्रव्योंसे किसी जानकार मनुष्यसे शास्त्रमें कही हुई विधिके अनुसार आठ पाखुरीका कमल अथवा समान गोलाकार श्री जिनेंद्रदेवका समवसरणमडल लिखावे। और उसके मध्यभागमें श्रीजिनेद्रदेवकी प्रतिमा स्थापनकर उसकी पूजा करावे। तदनतर वह गुरु उस शिष्यको विधिपूर्वक उस प्रतिमाके सामने बिठाकर "तुझे यह उपासकदीक्षा देता हू" ऐसा कहता हुआ उसके मस्तकको बार बार स्पर्श करे। इसप्रकार पचमुष्टि करे अर्थात् पाच वार उसके मस्तकको स्पर्श करे और फिर "तू पवित्र है अब उपासकदीक्षा ग्रहण कर" इसप्रकार कहकर उसके मस्तकपर तीर्थोदक छिडके उसके बाद "यह मत्र तुझे समस्त पापोंसे पवित्र करेगा" यह कहकर उस शिष्यको पच नमस्कारमत्रका उपदेश दे। इसप्रकार सब विधि करके उसे पारणा करनेकेलिये आज्ञा देवे, तथा वह शिष्य भी "आज मुझपर गुरुकी बडी कृपा हुई है" इसप्रकार बडा हर्ष मानकर घर जावे। इसे स्थानलाभ कहते हैं।

त्याग करता है, (इसे [1]गणग्रह क्रिया कहते हैं)
तदनतर ग्यारह अग सबधी उद्धारभय सूत्र आदि ग्रंथोंको पढता है, (इसे [2]पूजाराध्यक्रिया कहते हैं) फिर चौदह पूर्व सबधी शास्त्रोंको पढता है, (इसे [3]पुण्ययज्ञक्रिया कहते हैं) इसके बाद वह न्याय व्याकरण अलकार गणित और बुद्ध मीमासा न्याय

घर आनपर– इयत कालमज्ञानात्पूजिता स्थ कृतादर । पूज्या-स्त्विदानीमस्माभिरस्मत्समयदेवता ॥ ततोपमृपितेनालमन्यत्र स्वैरमा-स्यता । इति प्रकाशमवैता नीत्वान्यत्र क्वचित्त्यजेत ॥ गणग्रह स एप स्यात्प्राक्तन देवताराण । विसृज्यार्चयत शाता देवता समयोचितो ॥

अथ– मिथ्यादेवताओंको उद्देश करके इसप्रकार कहे कि "आज तक मैंने अपने अज्ञानसे तुम्हारा बडा आदरसत्कार किया है, अब मेरे जिनशास्त्र और जिनदेवता ही पूज्य हैं इसलिये अब मुझपर क्रोध न करके अपनी इच्छानुसार कहीं दूसरी जगह चले जाइये " इसप्रकार कहकर उस मिथ्यादेवताकी मूर्तिको घरके बाहर कहीं भी जाकर रखदे इसप्रकार पहिलेके मिथ्यादेवताओंको छोडकर जिनधर्ममें मान्य ऐसे शात देवताओंकी पूजा किया करे इसे गणग्रह कहते हैं।

१–पूज्याराध्याख्यया ख्याता क्रियास्य स्यादत परा। पूजोपवा ससपत्या शृण्वतोऽगार्थसग्रह ॥ अथ—तदनतर पूजा और उपवास करके द्वादशागका अर्थ ग्रहण करना इसे पूजाराध्यक्रिया कहते हैं।

२–ततोऽया पुण्ययज्ञाख्या क्रिया पुण्यानुबधिनी । शृण्वत पूर्व विद्यानामर्थं सब्रह्मचारिण ॥ अथ—उसके बाद गुरुके मुखसे अपने सह धर्मियोंके साथ साथ पूर्वविद्या अर्थात् चौदह पूर्वोंका अर्थ सुनना सो पुण्यबध करनेवाली पुण्ययज्ञक्रिया कहलाती है।

आदिके दर्शनशास्त्रोंको पढता है, और (इसका नाम [3]दृढचर्या है) तदनतर वह प्रत्येक महीनेकी दोनों अष्टमी और दोनों चतुर्दशीको रात्रीकी प्रतिमायोग धारण करनेका अभ्यास करता है ।(इसका नाम उपयोगिताक्रिया है) इसप्रकार आठों सस्कार कर वह धन्य और पुण्यवान पुरुष द्रव्य और भाव दोनों प्रकारके पापोंको नष्ट करता है । अभिप्राय यह है कि जो कोई अन्यधर्मी अपना मिथ्याधर्म छोडकर जैनधर्म पालन करना चाहे तो उसे ये ऊपर लिखे हुये आठ सस्कार करने ही चाहिये। यह उसके लिये एकतरहका प्रायश्चित्त है। इन सस्कार वा क्रियाओंके किये विना वह जैनधर्म पालन करनेका योग्य पात्र नहीं गिना जाता । जबतक उसके सस्कार न बदले जायगे तबतक उसपर मिथ्यासस्कारोंका असर बना ही रहेगा । इसलिये ये क्रियायें कहीं गई हैं ॥ २१ ॥

३–तदास्य दृढचर्याख्या क्रिया स्वसमयश्रुत । निष्ठाप्य शृण्वतो ग्रथान् बाह्यानन्याश्चकाश्चन ॥ अर्थ—फिर अपने धर्मशास्त्र अच्छीतरह पढकर अन्यमतके दर्शन आदि लौकिक ग्रथोंके अभ्यास करनेको दृढचर्याक्रिया कहते है ।

४–दृढव्रतस्य तस्यान्या क्रिया स्यादुपयोगिता । पर्वोपवासपर्यंते प्रतिमायोगधारण ॥ अर्थ–जिसके व्रत दृढ हो चुके है ऐसा भव्य जाव प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशीके पर्वोंमें उपवास करके रात्रिको प्रतिमा योग धारण करता है उसे उपयोगिताक्रिया कहते हैं ।

आगे– जिसके आचरण आदि शुद्ध हैं ऐसे शूद्रको भी ब्राह्मण आदिके समान यथायोग्य धर्मक्रियाओंके करनेका अधिकार है ऐसा मानते हुये कहते हैं–

शूद्रोऽप्युपस्कराचारवपु शुध्यास्तु तादृश ।
जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धौ ह्यात्मास्ति धर्मभाक् ॥

अर्थ– जिसके आसन आदि उपकरण अर्थात् सोने बैठनेकी सब चीजें शुद्ध हैं, मद्य मांसादिका त्याग करनेसे जिसके आचरण भी शुद्ध हैं और जिसका शरीर भी शुद्ध है ऐसा शूद्र भी जैनधर्मके सुननेके योग्य हो सकता है। इसका कारण यह है कि जो जातिसे हीन हैं अथवा छोटी जातिवाले हैं, अपिशब्दसे जो उत्तम जातिके तथा मध्यम जातिके ब्राह्मण क्षत्रियादिक हैं वे भी काललब्धि देशलब्धि आदि धर्म धारण करनेकी योग्य सामग्री मिलनेपर ही श्रावक धर्मको धारण कर सकते है। अभिप्राय यह है कि जैसे ब्राह्मण आदि उत्तम वर्णवाले पुरुष काललब्धि धर्म साधन करनेकी सामग्री मिलनेपर ही श्रावकधर्मको धारण करते हैं उसीप्रकार [1]शूद्र भी आचरण आदिसे शुद्ध होनेपर और काललब्धि आदि

---

[1] जातिगोत्रादिकर्माणि शुक्लध्यानस्यहेतव । येषु ते स्युस्त्रयो वर्णा शेषा शूद्रा प्रकीर्तिता ॥ अर्थ–शुक्लध्यानके कारण ऐसे उत्तम जाति और उत्तम गोत्रादि कर्म जिनमें विद्यमान हैं ऐसे तीन (ब्राह्मण क्षत्री वैश्य) वर्ण हैं और शेष सब शूद्र हैं क्योंकि उनमें जाति कुल आदिक शुद्ध नहीं है।

धर्मसाधन करनेकी सामग्री मिलने पर श्रावकधर्मको पालन [1]कर सकता है। श्रावकके मूलगुण तथा अणुव्रत आदि सर्वसाधारण हैं इन्हें हरकोई पालन कर सकता है।

इसप्रकार अहिंसा पालन करना, सत्य भाषण करना, अचौर्यव्रत पालना, इच्छाका परिमाण कर लेना और वेश्या आदि निषिद्ध स्त्रियोंमें ब्रह्मचर्य धारण करना अर्थात् उनका त्याग करना ये सर्व साधारण धर्म है इन्हें हरकोई धारण कर सकता है यह बात कह चुके ॥ २२ ॥

१-इससे यह भी समझ लेना चाहिये कि शूद्रोंको ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्योंके समान केवल श्रावकधर्मके पालन करनेका तथा जैनधर्मके सुननेका अधिकार दिया है। ब्राह्मणादिके समान उनके संस्कार नहीं होते हैं इसलिये उनके और द्विजोंके साथ पंक्ति भोजन तथा कन्यादान आदिका व्यवहार नहीं होता। प्रत्येक धर्म साधारण है उन्हें प्रत्येक जीव धारण कर सकता है चाहे वह ब्राह्मण हो चाहे चांडाल और चाहे पशुपक्षी हो। पंक्तिभोजन और कन्यादान आदिका संबंध जातिके साथ है। धर्मशास्त्रके अनुसार जिन जिन जातियोंका जिन जिन जातियोंके साथ पंक्तिभोजन आदिका व्यवहार कहा है उन्हींके साथ हो सकता है अन्यके साथ नहीं, क्योंकि वह सर्वसाधारण नहीं है। पंक्तिभोजनादिका संबंध जातिके साथ है धर्मके साथ उसका कोई संबंध नहीं है तथा धर्मको भी जातिके साथ कोई संबंध नहीं है। जिस वैष्णवधर्मको ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य पालन करते है उसीको चांडाल भी पालता है परंतु चांडालके साथ ब्राह्मणादिका पंक्तिभोजन या कन्यादानका व्य-

आगे—पढ़ना, पूजन करना और दान देना ये ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्योंके समान धर्म हैं परन्तु पढ़ाना पूजन कराना और दान लेना ये ब्राह्मणोंके ही विशेष काम हैं इसी विषयको कहनेकेलिये आगेके प्रकरणका प्रारंभ करते हैं और प्रथम ही पूजनादि करनेकेलिये पाक्षिक श्रावकको प्रेरणा करते हैं—

यजेत देवं सेवेत गुरून्पात्राणि तर्पयेत् ।
कर्म धर्म्यं यशस्यं च यथालोकं सदा चरेत् ॥२३॥

अर्थ—श्रावकको इंद्रादि देवोंके द्वारा पूज्य ऐसे परमात्मा वीतराग सर्वज्ञदेवकी प्रतिदिन पूजा करना चाहिये, धर्माचार्य आदि दिगंबर मुनियोंकी उपासना सेवा सदा करनी चाहिये, पूज्य मोक्षमार्गमें तल्लीन हुये ऐसे उत्तम मध्यम जघन्य पात्रोंमेंसे किसीको तृप्त करना चाहिये अर्थात् प्रतिदिन पात्रदान देना चाहिये, तथा "अपने आश्रित लोगोंको खिलाकर खाना, रात्रिभोजन नहीं करना आदि कार्य जिनमें दया प्रधान है जो धर्मकार्य कहलाते है और यश बढानेवाले हैं ऐसे कार्य भी अवश्य करने चाहिये । 'च' शब्दसे यह सूचित होता है कि

वहार नहीं हो सकता । इसी तरह शूद्र भी केवल श्रावकधर्म पालन कर सकता है, द्विजोंके समान वह यज्ञोपवीत आदि संस्कार तथा उनके साथ पंक्तिभोजन आदि व्यवहार नहीं कर सकता । ऐसे लौकिक व्यवहार वह उन्हींके साथ कर सकता हैं कि जिनके साथ उसकी जातिके व्यवहार होते वा हो सकते हों चाहे वे किसीधर्मका पालन करनेवाले हों।

धर्मकार्य अवश्य करने चाहिये, और यदि उन्हीं धर्मकार्योंसे यश बढता हो तो वह कार्य स्वयं कल्याण करनेवाला है, उसे करना ही चाहिये अथवा जो आवश्यक बातें इस श्लोकमें नहीं कही हैं उनका ग्रहण भी 'च' शब्दसे होता है। जैसे ब्रह्म-मुहूर्तमें अर्थात् सूर्योदयसे दो घडी पहिले उठना, शौच जाना, दतौन करना, स्नान करना आदि जो आरोग्य बढानेवाले आयुर्वेदमें प्रसिद्ध है वे कार्य प्रतिदिन करना चाहिये। ये सब कार्य लोकानुसार करने चाहिये अथवा अरहंतदेवके उपदेशके अनुसार सध्यावंदन आदि कार्योंको नित्य करना चाहिये ॥ २३ ॥

आगे-अठारह श्लोकोंमें जिनपूजाको विस्तार रीतिसे लिखते हैं-

यथाशक्ति यजेतार्हद्देवं नित्यमहादिभि ।
संकल्पतोपि तं यष्टा भेकवत्स्वर्महीयते ॥ २४ ॥

अर्थ-प्रत्येक मनुष्यको अपनी पूर्ण शक्तिके अनुसार नित्यमह आदि यज्ञोंके द्वारा श्री अरहंतदेवकी पूजा करनी

१ दान पूजा जिनैः शीलमुपवासश्चतुर्विधः । श्रावकाणां मतो धर्मः संसारारण्यपावकः ॥ अर्थ—दान, पूजा, शील और उपवास यह जो जिनेंद्रदेवका कहा हुआ चार प्रकारका श्रावकोंका धर्म है वह दु समय संसार वनको जलानेकेलिये अग्निके समान है।

आराध्यंते जिनेंद्रा गुरुषु च विनतिर्धार्मिके प्रीतिरुच्चैः । पात्रेभ्यो दानमापन्निहतजनकृते तच्च कारुण्यबुध्या ॥ ,तत्त्वाभ्यास

चाहिये। क्योंकि अब मुझे जिनपूजा करनी चाहिये ऐसे सङ्कल्प करनेमात्रसे जिनपूजा करनेवाला जीव राजगृह नगरके शेठके जीव मेंडकके समान स्वर्गलोकमें भी पूज्य होता है। अपि शब्दसे यह सूचित होता है कि जब मेंडक ऐसे तिर्यंच जीव केवल जिनपूजाका सङ्कल्प करनेसे ही स्वर्गमें भी पूज्य हुआ तब जो मनुष्य अपने शरीरसे अष्ट द्रव्य लेकर तथा वचनोंसे अनेक तरहके स्तोत्र पढकर भगवानकी पूजा स्तुति करता है उसकी महिमा कौन वर्णन कर सकता है? अभिप्राय यह है कि मनुष्यमें ज्ञान आदि गुणोंकी योग्यता सबसे अधिक है, जब मेंडक ऐसा तिर्यंच ही पूजाके सङ्कल्पमात्रसे उत्तम देव हुआ तो जो मनुष्य मन वचन कायसे अष्ट द्रव्य लेकर भगवानकी पूजा करता है उसकी क्या बात है, उसे सबसे अधिक सुख मिलना ही चाहिये और मिलता ही है ॥ २४ ॥

स्वनीयेष्वंतरतिरमल दर्शन यत्र पूज्य। तद्गार्हस्थ्य बुधानामितरदिह पुनर्दुःखदो मोहपाशः ॥ अर्थ—जिनेंद्रदेवकी आराधना, गुरुके समीप विनय, धर्मात्मा लोगोंपर प्रेम, सत्पात्रोंको दान, विपत्तिमें फंसेहुये लोगोंका करुणा बुद्धिसे दुःख दूर करना, तत्वोंका अभ्यास, अपने व्रतोंमें लीन होना, और निर्मल सम्यग्दर्शनका होना ये सब क्रियायें जहां मन वचन कायसे चलती हैं वही गृहस्थधर्म वा गृहस्थपना विद्वानोंको मान्य है और जहांपर ये क्रियायें नहीं हैं वह गृहस्थपना इस लोक और परलोक दोनोंमें दुःख देनेवाला केवल मोहका जाल है।

आगे—नित्यमहको कहते हैं—

> प्रोक्तो नित्यमहोऽन्वहं निजगृहान्नीतेन गंधादिना
> पूजा चैत्यगृहेऽर्हतः स्वविभवाच्चैत्यादिनिर्मापणं ।
> भक्त्या ग्रामगृहादिशासनविधादानं त्रिसंध्याश्रया
> सेवा स्वेऽपि गृहेऽर्चनं च यमिनां नित्यप्रदानानुगा॥२५॥

अर्थ—प्रतिदिन अपने घरसे गंध पुष्प अक्षत आदि पूजाकी सामग्री ले जाकर जिनमंदिरमें अरहंतदेवकी पूजा करना, अपना धन खर्चकर जिनबिंब अथवा जिनमंदिर बनवाना, जिनमंदिर तथा पाठशाला आदिमें पूजा स्वाध्याय तथा अध्ययन आदिके लिये भक्तिपूर्वक राजनीतिके अनुसार सनदपत्र आदि लिखकर अथवा रजिष्टर्ड कराकर गांव घर खेत दुकान आदि देना[1] अपने घर अथवा जिनमंदिरमें सवेरे दोपहर और शामको

१ यदि यहांपर कोई ऐसी शंका करे कि मंदिरके लिये खेत आदि देनेमें पापबंध होता है क्योंकि खेतके जोतने बानेमें हिंसा होती है इसलिये खेतका देना हिंसादान है। परंतु ऐसे कहनेवालेको यह विचार करलेना चाहिये कि मंदिरके लिये जो खेत आदि देनेमें पापबंध होता है वह किसको होता है? क्या मंदिरके स्वामी तीर्थंकरको होता है या देनेवालेको? तीर्थंकरको हो नहीं सकता क्योंकि वे रागद्वेषरहित हैं निस्पृह हैं, उनके लिये देना न देना समान है और न वे ग्रहण करते हैं न उनके किसी काममें आता है इसलिये उन्हें किसीतरह पापबंध नहीं हो सकता। इसीतरह देनेवालेको भी पापबंध नहीं हो सकता क्योंकि उस खेत आदिके दे चुकनेपर फिर वह उसका स्वामी नहीं है

तीनों समय नित्य अरहतदेवकी आराधना करना और संयमी मुनियोंको प्रतिदिन आहारदान आदि देकर उनकी पूजा करना यह सब अलग अलग नित्यमह कहलाता है ॥२५॥

उसके साथ फिर उसका कोई संबंध नहीं है, बिना स्वामीसंबधके उस संबंधी हिंसा आदि पाप किसीको नहीं लग सकते। यदि विना संबधके भी पाप लग सकते हों तो मुनियोंको भी संसारमात्रकी हिंसाके पाप लगने चाहिये। यह अवश्य है कि खेतके जोतने बोनेमें हिंसा होती है परंतु यदि जिनमंदिरमें न देकर वह भूमि गृहस्थके भोगोपभोगके काम आती तो कहना चाहिये कि हिंसा आदि पापसे उत्पन्न हुआ धन फिर भी पापकार्यमें लगाया गया। यदि वही भूमि या खेत जिनमंदिरमें दे दिया जाय तो उससे पापकार्य न होकर फिर पुण्यकार्य होने लगें। जिस गृहस्थके जिस भूमिका धन भोगोपभोगमें लगनेसे पाप होता था उसी धनके जिनमंदिरमें लगनेसे जो बड़ा भारी पुण्य होता है उसका भागीदार वही गृहस्थ होता है कि जिसने वह भूमि दी है। भूमिधन अटल धन है। सोना चांदी रुपये आदिक नष्ट हो सकते हैं, चोरी जा सकते हैं, जल सकते हैं, परंतु भूमिधन कभी नष्ट नहीं होता कभी जल नहीं सकता। जबतक उस मंदिरकी सत्ता रहेगी तबतक उसकी रक्षाका अटल और निर्विघ्न उपाय भूमिधन है। जहांपर मंदिरोंकी रक्षाके लिये भूमि देना प्रचलित है ऐसे कर्नाटक आदि देशोंमें हजारों वर्षोंके जिनमंदिर अभीतक सुरक्षित हैं उनका प्रक्षाल पूजन आदि निर्विघ्न होता रहता है। इसलिये जिन मंदिर पाठशाला आदिकी यावज्जीव अटल रक्षा करनेके लिये उसके लिये खेत आदि भूमिका देना ही सबसे अच्छा उपाय है।

आगे—आष्टाह्निक और ऐंद्रध्वजको कहते हैं—

जिनार्चा क्रियते भव्यैर्या नंदीश्वरपर्वणि ।
अष्टाह्निकोऽसौ सेंद्राद्यैः साध्या त्वैंद्रध्वजो महः ॥ २६ ॥

अर्थ—नंदीश्वर पर्वके दिनोंमें अर्थात् प्रतिवर्ष असाढ कार्तिक और फाल्गुन महीनेके शुक्लपक्षकी अष्टमीसे पौर्णिमा तक अतके आठ दिनोंमें जो अनेक भव्यजन मिलकर अरहंत-देवकी पूजा करते है उसे आष्टाह्निक मह कहते हैं । तथा जो इंद्र प्रतींद्र और सामानिक आदि देवोंके द्वारा एक विशेष जिन-पूजा की जाती है उसे ऐंद्रध्वजमह कहते हैं ऐसा आचार्योंने कहा है ॥ २६ ॥

आगे—महामहको कहते हैं—

भक्त्या मुकुटबद्धैर्या जिनपूजा विधीयते ।
तदाख्या सर्वतोभद्रचतुर्मुखमहामहाः ॥ २७ ॥

अर्थ—अनेक शूरवीर आदि लोगोंने जिनपर मुकुट बांधा हो उन्हें मुकुटबद्ध राजा कहते हैं ऐसे मुकुटबद्ध राजा-ओंके द्वारा भक्तिपूर्वक जो जिनपूजा की जाती है उसे चतुर्मुख, सर्वतोभद्र अथवा महामह कहते है । यह यज्ञ प्राणीमात्रका कल्याण करनेवाला है इसलिये इसका नाम सर्वतोभद्र है, चतुर्मुख अर्थात् चार दरवाजेवाले मंडपमें किया जाता है इस-लिये चतुर्मुख कहलाता है और अष्टाह्निककी अपेक्षा बडा है इसलिये इसे महामह कहते है । इसप्रकार इसके तीनों ही नाम

सार्थक है। मुकुटबद्ध राजा लोग भक्तिपूर्वक ही इसे करते हैं, चक्रवर्तीकी आज्ञा अथवा भयसे नहीं। यह यज्ञ भी कल्पवृक्षके समान है, अतर केवल इतना है कि कल्पवृक्ष यज्ञमें ससारभरको इच्छानुसार दान आदि दिया जाता है और इस यज्ञमें केवल उस मुकुटबद्ध राजाके स्वाधीन देशमें ही दानादि दिया जाता है ॥२७॥

आगे—कल्पवृक्ष यज्ञको कहते हैं—

किमिच्छकेन दानेन जगदाशा प्रपूर्य य ।
चक्रिभि क्रियते सोऽर्हद्यज्ञ कल्पद्रुमो मत ॥२८॥

अर्थ—याचकोंकी इच्छानुसार ससारभरके लोगोंके मनोरथोंको पूर्णकर चक्रवर्ती राजाओंके द्वारा जो अरहतदेवकी पूजा की जाती है उसे कल्पवृक्षमह कहते हैं। यही आचार्योंकी समति है। भावार्थ—तुमको क्या चाहिये? तुम्हारी क्या इच्छा है? इच्छा हो सो लीजिये इसप्रकार प्रेमपूर्वक पूछकर सबकी इच्छा पूर्णकर चक्रवर्ती जो जिनपूजा करता है उसे कल्पवृक्षमह कहते हैं। (जिसप्रकार कल्पवृक्षसे लोगोंकी सब इच्छायें पूर्ण होती हैं उसीप्रकार इस यज्ञसे भी सब याचकोंकी इच्छायें पूर्ण हो जाती हैं इसलिये ही इसका नाम कल्पवृक्षयज्ञ है ॥२८॥

आगे—बलि स्नपन आदि विशेष पूजायें सब नित्यमहादिकोंमें ही अतर्भूत हैं ऐसा दिखलाते हैं—

वलिस्नपननाट्यादि नित्यं नैमित्तिकं च यत् ।
भक्ताः कुर्वंति तेष्वेव तद्यथास्वं विकल्पयेत् ॥२९॥

अर्थ—भक्तजन लोग जो नित्य अथवा किसी पर्वके दिन जो वलि अर्थात् नैवेद्य आदि भेट अथवा पूजनकी सामग्री, अभिषेक, नृत्य, गाना, बजाना, प्रतिष्ठा, रथयात्रा आदि करते हैं उन सबका समावेश यथायोग्य उन ऊपर लिखे यज्ञोंमें ही करना चाहिये। भावार्थ– अभिषेक आदि ऊपर कहे हुये पूजन सब नित्यमह आदि यज्ञोंके ही भेद हैं ॥२९॥

आगे–जल आदि द्रव्योंसे होनेवाली प्रत्येक पूजाका फल कहते हैं–

वार्धारा रजसः शमाय पदयोः सम्यक्प्रयुक्तार्हतः
सद्गंधस्तनुसौरभाय विभवाच्छेदाय सत्यक्षताः ।
यष्टुः स्रग्दिविजस्रजे चरुरुमास्वाम्याय दीपस्त्विषे
धूपो विश्वदृगुत्सवाय फलमिष्टार्थाय चार्घाय सः ॥३०॥

अर्थ–शास्त्रोंमें कही हुई विधिके अनुसार श्री जिनेंद्रदेवके चरणकमलोंमें अर्पण की हुई जलधारा पापोंको शांत कर देती है अथवा ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मोंको शांत कर देती है। भावार्थ– अरहंतदेवके चरणकमलोंको जल चढानेसे सब पाप नष्ट हो जाते हैं अथवा ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्म नष्ट हो जाते हैं। तथा श्री जिनेंद्रदेवके चरणकमलोंमें विधिपूर्वक गंध (चंदन) चढानेसे चढानेवालेका शरीर सुगंधित

हो जाता है। विधिपूर्वक अखड अक्षतोंके द्वारा पूजा करनेसे पूजा करनेवालेका ऐश्वर्य तथा अणिमा महिमा आदि विभूति निरतर बनी रहती है। श्री अरहतदेवके चरणकमलोंमें विधिपूर्वक पुष्पमाला चढानेसे चढानेवालेको स्वर्गमें कल्पवृक्षोंकी मालायें प्राप्त होती हैं। विधिपूर्वक नैवेद्यसे पूजा करनेवाला अनत लक्ष्मीका स्वामी होता है। विधिपूर्वक दीपको आरति करनेवालेकी काति बढ जाती है। अरहतदेवके चरणकमलोंमें विधिपूर्वक धूप चढानेसे परम सौभाग्यकी प्राप्ति होती है, अनार बिजोरा आदि फल चढानेसे पूजा करनेवालेको इच्छानुसार फलकी प्राप्ति होती है और विधिपूर्वक अर्घ अर्थात् पुष्पाजलि चढानेसे पूजा करनेवालेको विशेष आदर सत्कारकी प्राप्ति होती है अथवा वह ससारमें पूज्य माना जाता है। अथवा पूजा करनेवालेको गाना बजाना नृत्य करना आदि जो जो अच्छा लगता है उसीसे विधिपूर्वक श्री जिनेंद्रदेवकी पूजा करनेसे उस मनुष्यको उसी वस्तुकी प्राप्ति होती है। अभिप्राय यह है कि जिस किसी उत्तम वस्तुसे विधिपूर्वक जिनेंद्रदेवकी पूजा की जाती है पूजा करनेवालेको वैसी ही उत्तम उत्तम वस्तुओंकी प्राप्ति होती है। भगवानकी की हुई पूजा कभी निष्फल नहीं होती ॥३०॥

आगे--श्री जिनेंद्रदेवकी पूजाकी उत्तम विधि और उससे होनेवाले लोकोत्तर विशेष फलको कहते हैं--

चैत्यादौ न्यस्य शुद्धे निरुपरमनिरौपम्यतत्तद्गुणौघ-
श्रद्धानात्सोऽयमर्हन्निति जिनमनघैस्ताद्विधोपाधिसिद्धैः
नीराद्यैश्चारुकाव्यस्फुरदनणुगुणग्रामरज्यन्मनोभि-
र्भव्योऽर्चन् दृग्विशुद्धिं प्रबलयतु यया कल्पते तत्पदाय ॥३१॥

अर्थ—अरहंतदेवमें अनेक असाधारण गुण हैं जो कभी नाश नहीं होते और न संसारमें जिनकी कुछ उपमा है जैसे व्यवहार नयसे जिनमें दर्शनविशुद्धि आदिकी भावनायें मुख्य हैं ऐसे पंचकल्याणक गुण हैं और निश्चयनयसे चैतन्य अचैतन्य आदि पदार्थोंके आकाररूप परिणत होना अर्थात् उन सब पदार्थोंका जानना आदि हैं। भव्य जीवको प्रथम ही इन सब गुणोंके समूहमें श्रद्धान वा अनुराग अथवा प्रेम करना चाहिये, और फिर वह रुद्र आदिके आकारसे रहित शुद्ध निर्दोष प्रतिमामें अथवा आदि शब्दसे प्रतिमा न मिलनेपर जिनेंद्रदेवके आकारसे रहित ऐसे अक्षत आदिकोंमें भी श्री जिनेंद्रदेवकी स्थापना कर अर्थात् "उत्सर्पिणीके तृतीय और अवसर्पिणीके चतुर्थकालमें जो अरहंतदेव चौंतीस अतिशय अष्ट महाप्रातिहार्य और अनंत चतुष्टयसहित समवसरणमें विराजमान होकर तत्त्वोंका उपदेश देते हुये भव्य जीवोंको पवित्र करते थे, ये वे ही अरहंत देव हैं" इसप्रकार नाम स्थापना द्रव्य भावके द्वारा स्थापना करे अर्थात् उस प्रतिमामें अथवा अक्षत आदिकोंमें अरहंतदेवको साक्षात् मानें और फिर जो काव्य शब्द और अर्थोंके दोषोंसे रहित है

जिसमें माधुर्य आदि गुण हैं उपमा आदि अलकार हैं और इसलिये ही जो काव्य जाननेवाले रसिक लोगोंके चित्तको प्रसन्न करनेवाला है तथा जिसमें लोकोत्तर वर्णन है ऐसे गद्यपद्यमय रमणीय काव्योंके द्वारा जिस जल चदन आदि सामग्रीके स्वा भाविक निर्मलता और सुगधि आदि बडे बडे गुणोंके समुदाय भव्य लोगोंके चित्तमें चमत्कार उत्पन्न कर रहे हैं अर्थात् ऐसे उत्तम काव्योंके द्वारा जिसकी प्रशसा गाई जा रही है और इसलिये ही उन भव्य लोगोंके चित्त जिस जल चदन आदि सामग्रीमें जबर्दस्ती लग रहे हैं तथा जो जल चदन आदि सामग्री हठपूर्वक नहीं लाई गई है, चित्तको मलिन करनेवाली नहीं है, अपने तथा अन्य किसी [1]पुरुषके खानेके बादकी बची हुई नहीं है और भी कोई पाप उत्पन्न करनेवाले दोष जिसमें नहीं है और पापरहित कारणोंसे तैयार की गई है ऐसी जल चदन आदि सामग्रीसे श्री जिनेंद्रदेवकी पूजा करते हुये भव्य जन शकादि दोषोंसे रहित ऐसे तत्त्वोंके श्रद्धान करनेरूप विशुद्ध सम्यग्दर्शनको और भी दृढ करें अर्थात् उस विशुद्ध सम्यग्दर्शनको इतना मजबूत करलें कि जिससे वह अपना उत्कृष्ट फल दे सके, और उसी मजबूत किये हुये विशुद्ध सम्यग्दर्शनसे वह भव्य तीर्थंकर पदवीको प्राप्त हो जाय। क्योंकि यह

१ जो सामग्री किसी अन्य देवतापर चढी हुई है वह भी नहीं चढाना चाहिये।

प्रसिद्ध ही है कि उत्कृष्ट विशुद्ध सम्यग्दर्शन यदि अकेला भी हो तो भी उस एकसे ही अतिशय पुण्यस्वरूप तीर्थंकर प्रकृतिका बंध हो जाता है। अभिप्राय यह है कि अरहंतके गुणोंमें अनुराग रखकर तदाकार वा अतदाकार प्रतिमामें उन अरहंतदेवका स्थापन करना चाहिये और फिर जल चंदन आदि उत्तम सामग्रीसे मनोहर काव्य पढते हुये उनकी ऐसी पूजा करनी चाहिये कि जिससे उन भव्य जीवोंका विशुद्ध सम्यग्दर्शन और भी मजबूत हो जाय और उससे उसे तीर्थंकर पद मिल जाय ॥ २१ ॥

आगे—अहिंसादि अणुव्रतोंको पालन करनेवाले ऐसे जिनेंद्रदेवकी पूजा करनेवाले भव्य जीवोंको इच्छानुसार विशेष फलकी प्राप्ति होती है ऐसा कहते हैं—

दृक्पूतमपि यष्टारमर्हतोऽभ्युदयश्रियः ।
श्रयत्यहंपूर्विकया किं पुनर्व्रतभूषितं ॥२२॥

अर्थ—अथवार अपि शब्दसे आश्चर्य प्रगट करते हैं अर्थात् आश्चर्य दिखलाते हुये कहते हैं कि जो केवल सम्यग्दर्शनसे ही विशुद्ध है मूलगुण उत्तरगुणोंसे रहित हैं ऐसे अरहंतदेवकी पूजा करनेवाले श्रावकोंको बडप्पन, आज्ञा, ऐश्वर्य, बल, परिवार और भोगोपभोग आदि संपदायें " पहिले मैं प्राप्त होऊं, पहिले मैं प्राप्त होऊं " इसप्रकार परस्पर ईर्षा करती हुई बहुत शीघ्र प्राप्त हो जाती हैं तब फिर जो सम्यग्दर्शनसे पवित्र है और

अहिंसादि व्रतरूप अलकारोंसे भूषित हैं ऐसे जिनेंद्रदेवकी पूजा करनेवाले श्रावकोंको उन सपत्तियोंके प्राप्त होनेका क्या ठिकाना है उन्हें तो वे सपदायें विशेष रूपसे अवश्य मिलती हैं ॥३२॥

आगे—जिनपूजामें विघ्न न आनेका उपाय बतलाते हैं—

यथास्व दानमानाद्यै सुखीकृत्य विधर्मिण ।
सधर्मण स्वसात्कृत्य सिध्यर्थी यजता जिन ॥३३॥

अर्थ—जिसकी ऐसी इच्छा है कि जिनपूजा निर्विघ्न समाप्त हो अथवा शुद्ध आत्माकी प्राप्ति हो ऐसे भव्य पुरुषोंको उचित है कि वह प्रथम ही शैव वैष्णव आदि विधर्मी लोगोंको अथवा सब धर्मोंसे विमुख लोगोंको यथायोग्य धनादिक देकर, उनका आदर सत्कार कर, उनके आनेपर खडे होना, उनके पीछे चलना, आसन देना आदि समयानुसार आदर सत्कारसे उन्हें सुख देकर अनुकूल करे, और फिर सहधर्मी अर्थात् जैनियोंको अपने स्वाधिन कर जिनपूजा करावे। अभिप्राय यह है कि जिनपूजा रथयात्रा आदिमें विघ्न करनेवाले प्राय विधर्मी लोग ही होते हैं इसलिये जिसतिसतरहसे पहिले उनको प्रसन्न करना चाहिये तथा सहधर्मियोंको भी अपनेमें शामिल कर लेना चाहिये ऐसा करनेसे दैवी विघ्नके सिवाय कोई लौकिक विघ्न नहीं आ सकते ॥३३॥

आगे—[1]स्नानकर शरीर शुद्धकर जिनपूजा करनी

१–नित्य स्नान गृहस्थस्य देवार्चनपरिग्रहे। यतेस्तु दुर्जनस्पर्शात्स्नानमन्यद्विगर्हित ॥ अर्थ—जिनपूजा आदि करनेके लिये

चाहिये तथा जिसने स्नान नहीं किया है उसे स्नान किये हुये किसी अन्यसे पूजा करानी चाहिये ऐसा कहते हैं—

कृष्यारम्भसेवासंक्लिष्टः स्नात्वाऽऽकण्ठमथाशिरः ।
स्वयं यजेतार्हत्पादानस्नातोऽन्येन याजयेत् ॥३४॥

अर्थ—जो मनुष्य स्त्रीसमागम, खेती, व्यापार आदि आजीविकाके उपायोंसे थका हुआ है अर्थात् इन कामोंसे जिसके

गृहस्थको नित्य स्नान करना चाहिये और मुनिको दुर्जन अर्थात् स्पर्श न करनेयोग्य ऐसे चांडाल आदि शूद्रोंके स्पर्श हो जानेपर स्नान करना चाहिए। बिना दुर्जनके स्पर्श हुये स्नान करना मुनिके लिये निंद्य है।

वातातपादिसंस्पृष्टे भूरितोये जलाशये। अवगाह्याचरेत्स्नानमतोऽन्यद्गालितं भजेत् ॥ अर्थ—जिस जलाशयमें पानी बहुत हो और उसपरसे भारी पवनका (हवाका) झकोरा निकल गया हो अथवा उसपर धूप पड़ रही हो तो उसमें अवगाहन करके अर्थात् डुबकी मारकर गृहस्थको स्नान करना चाहिये और जो ऐसा जलाशय न मिले तो फिर छने हुये पानीसे स्नान करना चाहिये।

पादजानुकटिग्रीवाशिरः पर्यंतसंश्रयं। स्नानं पंचविधं ज्ञेयं यथा दोषं शरीरिणां ॥ अर्थ—केवल पैर धो लेना, घुटनेतक धोना, कमरतक धोना, कंठतक शरीर धो डालना और शिरतक स्नान करना इसप्रकार स्नान पांच प्रकारका है। उनमेंसे प्राणियोंको जिस दोषकेलिये जैसा स्नान उचित हो वही करना चाहिये।

ब्रह्मचर्योपपन्नस्य निवृत्तारंभकर्मणः। यद्वातद्वा भवेत्स्नानमंत्यमन्यस्य तु द्वयं ॥ अर्थ—जो ब्रह्मचारी है और जिन्होंने खेती व्यापार

शरीर और मनमें सताप हो रहा है जिसका शरीर और मन, पसीना, तद्रा आलस्य और मनकी चचलता आदि दोषोंसे

आदि आरभकर्म छोड दिये हैं उन्हें इन पाचोंमेंसे इच्छानुसार कोई भी स्नान कर लेना चाहिये परतु जो गृहस्थ हैं, खेती व्यापार आदि आरभकर्म करते हैं उन्हें कंठतक अथवा शिरपर्यंत ये दो ही स्नान करना चाहिये।

सर्वारंभविजृंभस्य ब्रह्मजिह्मस्य देहिन । अविधाय बहि शुद्धिं नाप्तोपास्त्यधिकारिता ॥ अर्थ–जो खेती आदि सबतरहके आरभ करता हैं और जो स्त्री सहित गृहस्थ है उसका अतरग शुद्ध होनेपर भी बाह्य शुद्धि अर्थात् स्नान आदिके विना उसे जिनपूजा करनेका अधिकार नहीं है।

आप्लुत सप्लुतश्चात शुचिवासोविभूषित । मौनसयमसपन्न कुर्याद्देवार्चनाविधिं ॥ अर्थ–प्रथम ही शुद्ध जलसे स्नान करना चाहिये फिर मत्रपूर्वक आचमन आदिसे अत करणकी शुद्धि करनी चाहिये और फिर शुद्ध वस्त्रोंसे सुशोभित होकर मौन और सयम धारण कर भव्य पुरुषको विधिपूर्वक देवपूजा करना चाहिये।

दतधावनशुद्धास्यो मुखवासोचिताननः । असजातान्यससर्ग सुधीर्देवानुपाचरेत् ॥ अर्थ–प्रथम ही शौचादिकसे आकर हाथ पैर धोकर दतौन (नीम बबूल आदिकी १२ अगुल लबी छोटी उगलीके समान मोटी लकडीसे) करना चाहिये, फिर मुखशुद्धि (कुरले) कर स्नान करना चाहिये, फिर दुपट्टेसे मुख ढककर अपवित्र मनुष्य अथवा अपवित्र पदार्थके स्पर्शसे बचते हुये विद्वान् पुरुषको अरहतदेवकी पूजा करनी चाहिये।

दूषित हो रहा है ऐसे भक्तपुरुषको[1] अपने अपने दोषके अनुसार कंठपर्यंत अथवा शिरपर्यंत स्नानकर पवित्र होकर स्वयं श्री जिनेंद्रदेवके चरणकमलोंकी पूजा करनी चाहिये। यदि कारणवश वह स्नान न कर सके तो उस भक्त गृहस्थको किसी अपने साथीको, साथ पढनेवालेको अथवा किसी सहधर्मीको (जैनीको) स्नानकराकर उससे पूजा करानी चाहिये। अभिप्राय यह है कि गृहस्थको विना स्नान किये पूजा करनेका अधिकार नहीं है॥३४॥

आगे—जिनप्रतिमा और जिनमंदिर आदिके बनानेमें विशेष फल होता है ऐसा कहते हुये उनके बनानेका समर्थन करते हैं—

निर्माप्य जिनचैत्यतद्गृहमठस्वाध्यायशालादिकं
श्रद्धाशक्त्यनुरूपमस्ति महते धर्मानुबंधाय यत्।
हिंसारंभविवर्तिनां हि गृहिणां तत्तादृगालंबन-
प्रागल्भीलसदाभिमानिकरसं स्यात्पुण्यचिन्मानसं॥३५॥

अर्थ—पाक्षिक श्रावकको अपनी श्रद्धा और सामर्थ्यके अनुसार जिनबिंब, जिनमंदिर, मठ, पाठशाला, स्वाध्यायशाला आदि धर्मायतन (धर्मके स्थान)[2] बनवाने चाहिये।

१—इससे यह भी सिद्ध होता है कि स्नान करनेसे और मनके संताप पसीना तंद्रा आलस्य और खेद आदि दोष सब दूर हो जाते हैं तथा शरीर और मन शुद्ध हो जाता है। दतौन करनेसे मुह शुद्ध हो जाता है।

२—यद्यप्यारंभतो हिंसा हिंसाया पापसंभवः। तथाप्यत्र कृतारंभो महत्पुण्यं समश्नुते॥ अर्थ—यद्यपि आरंभ करनेसे हिंसा होती है

क्योंकि उनके बनवानेसे महा भारी धर्मानुबंध होता है अर्थात् जिसे धर्मका लाभ नहीं है उसे धर्मका लाभ होता है, जिसे लाभ हुआ है उसके धर्मकी रक्षा होती है और जिस धर्मकी रक्षा हो रही है उसकी वृद्धि होती है। ये सब काम जिनमंदिर आदि धर्मायतनोंसे ही होते हैं तथा इन्हीं धर्मायतनोंसे जिनमें प्राय हिंसा होती है ऐसे खेती व्यापार आदि आरंभोंमें निरंतर लगे रहनेवाले गृहस्थोंका मन पुण्यको बढानेवाला और पवित्र निर्मल चैतन्यरूप ज्ञानको प्रगट करनेवाला होता है। अर्थात् खेती व्यापार आदि करनेवाले गृहस्थ भी जिनमंदिर आदि धर्मायतनोंसे ही अपना पुण्य बढासकते हैं अथवा अपना निर्मल ज्ञान प्रगट कर सकते हैं। इसके सिवाय जिनमंदिर स्वाध्याय शाला आदि तथा इन्हींके समान तीर्थयात्रा आदि जो जो सम्यग्दर्शनको विशुद्ध करनेवाले साधन हैं, उनकी दृढता वा मजबूती होनेसे चित्तमें अहंकारसे आत्मगौरवसे भरा हुआ

और हिंसासे पाप उत्पन्न होता है तथापि जिनमंदिर पाठशाला स्वाध्यायशाला आदिके बनवानेमें मिट्टी पत्थर पानी लकडी आदिके इकट्ठे करनेसे आरंभ करनेवाला पुरुष महा पुण्यका अधिकारी होता है।

निरालंबनधर्मस्य स्थितिर्यस्मात्ततः सतां। मुक्तिप्रासादसोपानमाप्तैरुक्तो जिनालयः ॥ अर्थ–जिन जिनमंदिरोंमें आधाररहित धर्मकी स्थिति बनी हुई है इसलिये वे जिनमंदिर सज्जनपुरुषोंको मोक्षरूपी महलपर चढनेकेलिये सीढीके समान हैं ऐसा जिनेंद्रदेवने कहा है।

एक प्रकारका हर्ष प्रगट होता है। अभिप्राय यह है कि जिन मदिर स्वाध्यायशाला आदि बनवानेसे धर्मकी रक्षा और वृद्धि होती है उससे खेती व्यापार आदि हिंसारूप आरम कर-नेवाले भी पुण्य इकठा करलेते हैं और सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि हो जानेसे एकतरहका हर्ष बना रहता है। इस श्लोकमें धर्मा-नुबधका महत् अर्थात् बडा भारी विशेषण देकर ग्रथकारने यह दिखलाया है कि यद्यपि जिनमदिर आदि बनवानेमें हिंसादि दोष लगते है परतु वे दोष नहीं हैं पुण्यबधके कारण है। किसी ग्रथमें कहा भी है " तत्पापमपि न पाप यत्र महान्धर्मा-नुबध " अर्थात् वह पाप भी पाप नहीं है कि जिसमें बडा भारी धर्मानुबध हो ॥ ३९ ॥

आगे—इस कलिकालमें प्राय विद्वान् पुरुषोंका चित्त भी जिनप्रतिमाके देखनेसे ही जिनेंद्रदेवकी सेवा पूजा करनेमें तत्पर होता है इसलिये इस कलिकालको धिक्कार देते है—

धिग्दु षमाकालरात्रिं यत्र शास्त्रदृशामपि ।
चैत्यालोकादृते न स्यात्प्रायो देवविशा मति ॥ ३६ ॥

अर्थ—यह पचमकाल एक प्रकारकी कालरात्रि अर्थात् मरनेकी रातके समान है क्योंकि इसमें ऐसे तीव्र मोहनीय कर्मका उदय होता है जो किसीसे निवारण नहीं किया जा सकता इसलिये इस पंचमकालको धिकार हो। इसे धिकार

देनेका भी कारण यह है कि इस कालमें जिनके शास्त्ररूपी नेत्र है ऐसे विद्वान लोगोंकी बुद्धि अर्थात् अंतःकरणकी प्रवृत्ति भी प्रायः जिनप्रतिमाके दर्शन किये विना जिनभक्ति करनेमें अर्थात् उन्हींको एकमात्र शरण मानकर पूजा सेवा करनेमें प्रवृत्त नहीं होती '। प्रायः शब्दसे यह अभिप्राय है कि कोई कोई ज्ञान और वैराग्यभावनामें तत्पर भव्यजीव प्रतिमादर्शनके विना भी परमात्माके आराधन करनेमें लीन हो जाते हैं और अन्यलोग प्रतिमाके दर्शन करनेसे ही परमात्माका आराधन कर सकते है ॥ ३६ ॥

आगे—इस कलिकालमें जिनधर्मकी स्थिति अच्छे अच्छे जिनमंदिरोंके आधारपर ही है ऐसा कहते हैं—

प्रतिष्ठायात्रादिव्यतिकरशुभस्वैरचरण-
स्फुरद्धर्मोद्धर्षप्रसररसपूरास्तरजसः ।
कथं स्युः सागाराः श्रमणगणधर्माश्रमपदं
न यत्राईद्गेहं दलितकलिलीलाविलसितं ॥ ३७ ॥

अर्थ—जिसके निमित्तसे कलिकालमें होनेवाले दुष्ट लीलाके विलास अर्थात् दुष्टनीति अथवा विना किसी रोक टोकके बढनेवाले संक्लेश परिणाम नष्ट हो जाते हैं और जो मुनियोंको धर्मसेवन करनेके लिये निवासस्थान है ऐसा जिनमंदिर जिस नगर या गावमें नहीं है उस जगह निवास करनेवाले गृहस्थ प्रतिष्ठा, यात्रा, पूजा, अभिषेक, रथोत्सव, जागरण

आदि पुण्यकार्योंके समुदायमें जो स्वेच्छापूर्वक मनवचनकायकी शुभ प्रवृत्ति अर्थात् पुण्य बढानेवाली प्रवृत्ति होती है और उस शुभ प्रवृत्तिसे जो धर्मका उत्सव स्फुरायमान होता है तथा उस धर्मके उत्सवसे बहुतदेर तक ठहरनेवाला जो एक प्रकारका हर्ष प्रगट होता है उस हर्परूपी जलके प्रवाहसे जिनको समस्त पापरूपी धूल नष्ट हो गई है ऐसे किसप्रकार हो सकते हैं ?

भावार्थ— जहा जिन मदिर होता है वहाके गृहस्थ पूजा अभिषेक आदि धर्मकार्य करके सदा धर्मोत्सव करते रहते है जिससे उनके पुण्यका बध होता रहता है और अशुभ कर्म नष्ट होते रहते है । परतु जहा जिनमदिर नहीं है वहाके गृहस्थ इस धर्मकार्यसे वचित रहते है, इसलिये वहा न तो धर्मका उद्योत होता है और न वे गृहस्थ पुण्यबध कर सकते हैं न अशुभ कर्म नष्ट कर सकते हैं । इसलिये धर्मकी स्थितिमें जिनमंदिर ही मुख्य कारण है ॥ ३७ ॥

आगे–इस कलिकालमें वसतिकाके विना सज्जन मुनियोंका चित्त भी स्थिर नहीं रह सकता है इसलिये उसकी आवश्यकता दिखलाते हैं–

मनो मठकठेराणा वात्ययेवानवस्थया ।
चेक्षिप्यमाण नाद्यत्वे क्रमते धर्मकर्मसु ॥ ३८ ॥

अर्थ–जिसप्रकार वायुके समुहसे रुई इधर उधर उडती फिरती है उसीप्रकार इस कलिकालमें मठसे दरिद्र अर्थात्

जिनके रहनेका कोई एकांत स्थान नहीं है ऐसे बनमें रहनेवाले मुनियोंका चित्त भी थोडे बहुत राग द्वेषके विकाररूप परिणामोंसे बार बार चचल होता हुआ अर्थात् इधर उधर भटकता हुआ सामायिक आदि अवश्य करनेयोग्य धर्मक्रियाओंमें उत्साह नहीं करता है। आभिप्राय यह है कि आजकल चित्तकी स्थिरता इतनी नहीं है कि जिससे मुनि बनमें रह सकें। इसलिये विना बसातिकाके उनका चित्त स्थिर नहीं रह सकता और फिर न उनसे धर्मक्रियायें ही बन सकती हैं इसलिये मुनियोंके लिये बसतिकायें अवश्य बनवानी चाहिये ॥ ३८ ॥

आगे—स्वाध्यायशालाके विना बडे बडे पंडितोंका शास्त्रोंका मर्मरूप तत्त्वज्ञान स्थिर नहीं रह सकता ऐसा दिखलाते हैं—

विनेयवद्विनेतॄणामपि स्वाध्यायशालया ।

विना विमर्शशून्या धीर्दृष्टेऽप्यधायतेऽध्वनि ॥ ३९ ॥

अर्थ—पाठशाला और स्वाध्यायशालाके विना जिस प्रकार शिष्योंकी बुद्धि तत्त्वोंको नहीं जान सकती उसीप्रकार विना पाठशालाके अथवा स्वाध्यायशालाके बडे बडे पंडितोंकी बुद्धि समस्त शास्त्रोंका अभ्यास करनेपर भी निरंतर तत्त्व विचार करनेके विना शास्त्रोंमें अथवा मोक्षमार्गरूप कल्याणमार्गमें अंधी हो जाती है, अर्थात् तत्त्वोंको नहीं जान सकती, अथवा जानेहुये तत्त्वोंको भूल जाती है। भावार्थ—पाठशाला

और स्वाध्यायशालाके विना पंडित और उपाध्याय लोगोंका अभ्यास भी छूट जाता है तथा विना अभ्यासके वे पढा हुआ भी भूल जाते हैं और तत्त्वविचारमें अंध हो जाते हैं इसलिये धर्मकी रक्षाका मुख्य उपाय पाठशाला वा स्वाध्यायशाला स्थापन करना है।

तात्पर्य—यह है कि धनाढ्य पुरुषोंको जिनबिंब, जिन-मंदिर, वसतिका और स्वाध्यायशाला अवश्य बनवाना चाहिये, इस कालमें ये ही कल्याण करनेवाले है तथा ये ही धर्मवृद्धिके मुख्य कारण हैं ॥ ३९ ॥

आगे–कृपा करने योग्य प्राणियोंपर कृपाकरके अन्नक्षेत्र और औषधालय भी खोलना चाहिये तथा अनेक आरंभ करने-वाले गृहस्थोंको जिनपूजाके लिये पुष्पवाटिका (बगीचा) वगैरह बनानेमें भी कोई दोष नहीं हैं, ऐसा दिखलाते हुये कहते हैं—

सत्रमप्यनुकम्प्यानां सृजेदनुजिघृक्षया ।
चिकित्साशालवद्दुष्येन्नेज्यायै वाटिकाद्यपि ॥४०॥

अर्थ–जिन जीवोंपर अवश्य कृपा करनी चाहिये अर्थात् जो अवश्य कृपा करनेके पात्र हैं भूख प्यास और रोग आदिसे दुखी हैं उनके उपकार करनेकी इच्छासे पाक्षिक श्रावकोंको औषधालय खोलना चाहिये और उसीतरह सदावर्तशाला (अन्नक्षेत्र, जहांसे नित्य अन्न दियाजाता हो) और प्याऊ (पानी

पनिका स्थान) भी बनवाना चाहिये। तथा जिनपूजाके लिये पुष्पवाटिका (बगीची) वावडी सरोवर आदिके बनवानेमें भी कोई दोष[1] नहीं है। पहिले अपि शब्दसे प्याऊका ग्रहण किया गया है। दूसरा अपि आदर वाचक है और यह सूचित करता है कि जो जीव अपने विषयसुख सेवन करनेकेलिये खेती व्यापार आदि करते हैं वे यदि धर्मबुद्धिसे बगीची वावडी आदि बनवावें तो उनको लोकमें व्यवहारकी दृष्टिसे कोई दोष नहीं हैं तथापि जो बगीची आदि बनवाना नहीं चाहते हैं वे भी यदि द्रव्यके बदले पुष्प आदि लेकर उनसे भगवानकी पूजा करें तो भी उन्हें बडे भारी पुण्यकी प्राप्ति होती है। अभिप्राय यह है कि औषधालय, अन्नक्षेत्र खोलना, प्याऊ बनवाना और जिनपूजामें पुष्प जल आदि चढानेके लिये बगीचा वावडी कूआ आदि बनवाना पाक्षिक श्रावकका कर्तव्य है। ॥४०॥

आगे—कपटरहित भक्तिसे किसीतरह भी जिनेंद्रदेवकी सेवा करनेवाले जीवके समस्त दुःखोंका नाश हो जाता है

१–जिनमंदिर समवसरणकी प्रतिकृति अर्थात् नकल है। जिसप्रकार समवसरणमें पुष्पवाटिका वावडी तडाग आदि होते हैं उसीप्रकार जिनमंदिरकी सीमामें भी होने चाहिये अन्यथा एकतरहकी कमी समझी जायगी। जिनपूजनमें पुष्पोंकी आवश्यकता पडती ही है इसलिये पुष्पोंके लिये बगीचा और जलके लिये वावडी आदि बनवाना सर्वथा उचित और शास्त्रोक्त है।

और सब जगह समस्त इष्ट संपदाओंकी तथा इच्छानुसार पदार्थोंकी प्राप्ति होती है ऐसा कहते हैं—

यथाकथंचिद्भजतां जिनं निर्व्याजचेतसा ।
नश्यंति सर्वदुःखानि दिशः कामान् दुहंति च ॥४१॥

अर्थ—जो जीव छल कपट रहित भक्तिपूर्वक अभिषेक, पूजन, स्तोत्र आदि किसीतरह भी अरहंतदेवकी सेवा करते हैं उनके समस्त शरीरके और मनके संताप नष्ट हो जाते हैं और समस्त दिशायें उनके मनोरथ पूर्ण करती हैं अर्थात् छल कपट रहित भक्तिपूर्वक जिनेंद्रदेवकी पूजा करने वालोंको जिस जिस पदार्थकी इच्छा होती है वे सब पदार्थ उन्हें सब जगह मिल जाते हैं ॥४१॥

आगे—अरहंतदेवकी पूजा तो प्रतिदिन करनी ही चाहिये परंतु अरहंतदेवकी पूजाके समान सिद्ध परमेष्ठीकी पूजा भी करनी चाहिये ऐसा उपदेश देते हैं—

जिनानिव यजन्सिद्धान् साधून् धर्मं च नंदति ।
तेऽपि लोकोत्तमास्तद्वच्छरणं मंगलं च यत् ॥४२॥

अर्थ—यह जीव जिसप्रकार अरहंतदेवकी पूजा करता है उसीप्रकार यदि सिद्ध भगवानकी पूजन करे तथा मोक्षकी सिद्धिको ही सिद्ध करनेवाले साधु लोगोंकी अर्थात् सार्थक नाम होनेसे आचार्य, उपाध्याय और मुनियोंकी पूजा करे तथा व्यवहार और निश्चय इन दोनों प्रकारके रत्नत्रयरूप धर्मकी भी

पूजा करे तो वह अतरग और बहिरग विभूतिसे अवश्य ही वृद्धिको प्राप्त होता है। क्योंकि सिद्ध भगवान् आचार्य उपाध्याय साधु और धर्म ये सब अरहतदेवके समान ही लोकमें उत्कृष्ट हैं उन्हीं के समान शरण हैं अर्थात् पापोंसे रक्षा करनेवाले वा दु ख दूर करनेवाले हैं और उन्हीं अरहतदेवके समान मगलस्वरूप हैं अर्थात् पापोंको नष्ट करनेवाले हैं और पुण्य बढानेवाले हैं । अभिप्राय यह है कि अरहत सिद्ध साधु और धर्म ये चारों समान हैं इनकी समान रीतिसे पूजा करनी चाहिये ॥४२॥

आगे-पूज्य पूजाविधिको प्रकाशकर सबसे बडा उपकार करनेवाला श्रुत देवता है इसलिये उसके पूजन करनेके लिये कहते हैं–

यत्प्रसादान्न जातु स्यात्पूज्यपूजाव्यतिक्रम ।
ता पूजयेज्जगत्पूज्या स्यात्कारोड्मरा गिर ॥ ४३ ॥

अर्थ–जिसके प्रसादसे पूज्य अर्थात् अरहत सिद्ध साधु और धर्मकी पूजा करनेमें शास्त्रोक्त विधिका कभी उलघन नहीं होता अर्थात् जिसके प्रसादसे पूजाकी शास्त्रानुसार विधि जानी जाती है, सब लोग जिसकी पूजा करते हैं और जो ' स्यात् ' वा ' कथचित् ' शब्दके प्रयोगसे सर्वथा एकातवादियोंसे अजेय है अर्थात् कोई जिसका उलघन नहीं कर सकता ऐसी श्रुतदेवता अर्थात् जिनवाणीकी पूजा भी कल्याण चाहनेवाले पाक्षिक श्रावकोंको अवश्य करनी चाहिये ॥ ४३ ॥

आगे-जिनवाणीकी पूजा करनेवाले परमार्थसे (यथार्थमें) जिनेंद्रदेवकी ही पूजा करनेवाले हैं ऐसा उपदेश देते हैं-

ये यजते श्रुत भक्त्या ते यजतेंऽजसा जिन ।
न किंचिदतर प्राहुराप्ता हि श्रुतदेवयो ॥ ४४ ॥

अर्थ-जो लोग भक्तिपूर्वक श्रुतपूजा करते हैं वे परमार्थसे अर्थात् वास्तवमें जिनेंद्रदेवकी ही पूजा करते हैं । क्योंकि आचार्योंने जिनेंद्रदेव और श्रुतदेवता अर्थात् जिनवाणीमें कुछ भी अतर नहीं कहा है । जो अरहत देव है वही जिनवाणी है और जो जिनवाणी है वही अरहतदेव है ऐसा समजना चाहिये ॥४॥

इसप्रकार देवपूजाकी विधि कही । अब आगे-गुरु साक्षात् उपकार करनेवाले हैं इसलिये उनकी नित्य उपासना करनी चाहिये ऐसा कहते हैं-

उपास्या गूरवो नित्यमप्रमत्तै शिवार्थिभि ।
तत्पक्षतार्क्ष्यपक्षातश्चरा विघ्नोरगोत्तरा ॥ ४५ ॥

अर्थ-जो परम कल्याण अर्थात् मोक्षकी इच्छा करनेवाले सज्जन पुरुष हैं उनको प्रमाद छोड कर नित्य ही धर्मकी आराधना करनेकी प्रेरणा करनेवाले गुरुओंकी सेवा करनी चाहिये । क्योंकि जो पुरुष गुरुओंकी आधीनता अथवा आज्ञारूपी गरुडपक्षीके समीप

रहता है वह धर्मकार्य करनेमें आनेवाले विघ्नरूपी सर्पोंसे दूर ही रहता है। अभिप्राय यह है कि उपकार करनेसे विघ्न सर्पोंके समान है और उनको दूर करनेवाली गुरुकी आज्ञा वा आज्ञाके अनुसार चलना गरुडपक्षीके समान है। जो गुरुकी आज्ञानुसार चलते हैं उन्हें कभी किसी धर्मकार्यमें विघ्न नहीं आते। इसके सिवाय गुरु सदा धर्मकार्य करनेकी प्रेरणा किया करते हैं इस लिये गुरुकी उपासना वा सेवा नित्य करनी चाहिये ।८५॥

आगे—गुरुकी उपासना करनेकी विधि बतलाते हैं—

निर्व्याजया मनोवृत्त्या सानुवृत्त्या गुरोर्मनः ।
प्रविश्य राजवच्छश्वद्विनयेनानुरंजयेत् ॥८६॥

अर्थ—जिसप्रकार सेवक लोग राजाके मनको प्रसन्न किया करते है उसीप्रकार कल्याण चाहनेवाले श्रावकोंको दंभ और छलकपटरहित अपने चित्तकी वृत्तिसे तथा उनकी इच्छानुसार उन गुरुके अंतःकरणमें प्रवेशकर मन वचन कायकी विनयसे नित्य ही गुरुका मन प्रसन्न करना चाहिये। आते ही उनके सामने खडे हो जाना, उनके पीछे पीछे चलना आदि कायकी विनय है, हितमित वचन कहना वचनकी विनय है और उनका शुभ चिंतवन करना मनकी विनय है। इन तीनों तरहकी विनयसे गुरुका चित्त प्रसन्न करना चाहिये ॥८६॥

आगे—विनयसे गुरुका चित्त प्रसन्न करना चाहिये इसीको प्रगट कर दिखलाते हैं—

पार्श्वे गुरूणां नृपवत्प्रकृत्यभ्यधिकाः क्रियाः ।
अनिष्टाश्च त्यजेत्सर्वा मनो जातु न दूषयेत् ॥४७॥

अर्थ—जिसप्रकार राजाओंके समीप क्रोध हास्य आदि स्वभावसे अधिक क्रियायें नहीं की जातीं उसीप्रकार गुरुके समीप भी क्रोध हास्य विवाद आदि जो क्रियायें स्वभावसे अधिक अर्थात् विकारसे उत्पन्न होनेवाली हैं वे क्रियायें नहीं करनी चाहिये। इनके सिवाय गुरुके समीप जिन क्रियाओंका वा चेष्टाओंका शास्त्रोंमें निषेध किया है अर्थात् जो [1]शास्त्रविरुद्ध हैं ऐसी क्रियायें भी नहीं करनी चाहिये। ये ऊपर लिखी हुईं क्रियायें गुरुके समीप कभी नहीं करनी चाहिये यदि श्रावक रोगी वा दुःखी हो तथापि उसे भी ये क्रियायें नहीं करनी चाहिये ॥ ४७ ॥

आगे—दान देकर पात्रोंको भी संतुष्ट करना चाहिये ऐसा जो पहिले लिखा गया था उसी दानकी विधिको बढ़ाकर दिखलाते हैं—

१—निष्ठीवनमवष्टंभं जृंभणं गात्रभंजनं । असत्यभाषणं नर्महास्यं पादप्रसारणं ॥ अभ्याख्यानं करस्फोटं करेण करताडनं । विकारमंगसंस्कारं वर्जयेद्यतिसंनिधौ ॥ अर्थ—थूकना, गर्व करना, जभाई लेना, शरीर मोडना, झूठ बोलना, खेलना, हसना, पैर फैलाना, झूठा दोष आरोपण करना, हाथ ठोंकना, ताली बजाना, तथा शरीरके अन्य विकार करना और शरीरका संस्कार करना इत्यादि क्रियाओंको गुरुके समीप नहीं करना चाहिये।

आगे—धर्मपात्रोंको उनके गुणोंके अनुसार उन्हें तृप्त करना चाहिये ऐसा दिखलाते हैं—

समयिकसाधकसमयद्योतकनैष्ठिकगणाधिपान् धिनुयात्।
दानादिना यथोत्तरगुणरागात्सद्गृही नित्यं ॥ ५१ ॥

अर्थ–जिनसमय अर्थात जिनेंद्रदेवके कहे हुये शास्त्रोंके आश्रय रहनेवाले अथात् शास्त्रोंकी आज्ञानुसार चलनेवाले मुनि अथवा गृहस्थोंको [1]समयिक कहते हैं। ज्योतिष मत्रवाद आदि ससारी लोगोंके उपकार करनेवाले शास्त्रोंके जाननेवालेको [2]साधक कहते है। वादविवाद आदि कर अपने मोक्षमार्गकी

१–गृहस्थो वा यतिर्वापि जैन समयमाश्रित। यथाकालमनुप्राप्त पूजनीय सुदृष्टिभि ॥ अर्थ–सम्यग्दृष्टी श्रावकको देशकालके अनुसार जैनधर्मको धारण करनेवाले और यथायोग्य समयपर अपने घर आये हुये मुनि अथवा गृहस्थका आदरसत्कार करना ही चाहिये।

२–ज्योतिर्मत्रनिमित्तज्ञ सुप्रज्ञ कार्यकर्मसु। मान्य समयिभि सम्यक् परोक्षार्थसमर्थधी ॥ अर्थ–ज्योति शास्त्र, मत्रशास्त्र, शकुनशास्त्र, वैद्यकशास्त्र आदि शास्त्रोंको जाननेवाले तथा परोक्ष (दूर या छिपे हुये) पदार्थोंको जाननेवाले और कार्य करनेमें चतुर ऐसे लोगोंका भी श्रावकको यथायोग्य आदर सत्कार करना चाहिये अर्थात् उसे दान और मान देना चाहिये। क्योंकि—

दीक्षायात्राप्रतिष्ठाद्या क्रियास्तद्विरहे कुत। तदर्थं परपृच्छायां कथं च समयोन्नति ॥ अर्थ–ज्योति शास्त्र मत्रशास्त्र आदि जानने

प्रभावना करनेवालेको [१]समयद्योतक कहते हैं। मूलगुण और उत्तरगुणोंसे प्रशसनीय ऐसे तप करनेवालेको नैष्ठिक[२] कहते हैं। धर्माचार्य अथवा उसीके समान बुद्धिमान गृहस्थाचार्यको गणाधिप[३] कहते हैं। इन पांचोंतरहके पात्रोंको

वालोंके विना दीक्षा यात्रा प्रतिष्ठा आदि क्रिया। कैसे हो सकेगी और यदि उनके लिये अन्य धर्मियोंके पास जाओगे तो फिर अपने धर्मकी उन्नति कैसे होगी ?

१–लोकवित्त्वकवित्वाद्यैर्वादवाग्मित्वकौशलैः। मार्गप्रभावनोद्युक्ता सन्त पूज्या विशेषतः ॥ अर्थ–जो लोक चातुर्य, कविता, तथा वाद उपदेश आदिकोंकी कुशलतासे जिनमतकी प्रभावना करनेमें सदा तत्पर रहते हैं ऐसे सज्जन पुरुषोंकी पूजा (आदरसत्कार) विशेषतासे करनी चाहिये।

२–मूलोत्तरगुणश्लाघ्यैस्तपोभिर्निष्ठितस्थितिः। साधु साधु भजेत्पूज्य पुण्योपार्जनपण्डितैः ॥ अर्थ—पुण्यके उपार्जन करनेमें चतुर लोगोंको मूलगुण और उत्तरगुणोंसे प्रशसनीय ऐसे तपके करनेवाले साधुकी पूजा सेवा उत्तम प्रकारसे करनी चाहिये।

३–ज्ञानकाण्डे क्रियाकाण्डे चातुर्वर्ण्यपुरस्सरः। सूरिर्देव इवाराध्य ससाराब्धितरण्डकः ॥ अर्थ—ज्ञानकाण्ड और क्रियाकाण्डके चलानेमें चारों वर्णोंमें श्रेष्ठ ऐसे धर्माचार्य अथवा गृहस्थाचार्य ससाररूपी समुद्रसे पार करनेमें नावके समान हैं इसलिये देवके समान उनकी पूजा करनी चाहिये।

उनके उत्कृष्ट गुणोंमें प्रेम रखकर अथवा जिसमें जो गुण उत्कृष्ट हो उसीमें प्रेम रखकर उन्हें दान देकर, मान देकर, आसन देकर, वचनालापकर तथा और भी आदरसत्कारके उपायोंसे पाक्षिक श्रावकको अथवा ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन तीनों वर्णोंमेंसे किसी गृहस्थको तृप्त करना चाहिये। अभिप्राय यह है कि प्रत्येक गृहस्थको ये पांचों तरहके पात्र तृप्त करने चाहिये।

यहांपर मोक्ष प्राप्त करनेवाले मुनि और श्रावकोंको रत्नत्रय गुणोंके बढानेके लिये तृप्त करना पात्रदान कहलाता है और भोगोपभोग सेवन करनेवाले गृहस्थोंको वात्सल्य भावसे यथायोग्य अनुग्रह करना समानदत्ति कहलाती है। शास्त्रकारने इसप्रकार दो विभाग किये हैं॥ ५१॥

आगे-समानदत्तिकी विधिका उपदेश देते हैं-

स्फुरत्येकोपि जैनत्वगुणो यत्र सतां मतः।
तत्राप्यजैनैः सत्पात्रैर्द्योत्यं खद्योतवद्रवौ॥ ५२॥

अर्थ—एक जिनेंद्र ही देव है क्योंकि वही मुझे संसार समुद्रसे पार करनेवाला है ऐसे गाढ श्रद्धानका नाम जैनत्व गुण है। यह जैनत्व गुण साधु लोगोंको भी इष्ट है। जिस पुरुषमें ज्ञान तपसे रहित केवल एक जैनत्व गुण अर्थात् सम्यग्दर्शन दैदीप्यमान हो उसके सामने महादेवकी भक्ति विष्णुकी भक्ति आदि भूतोंसे जकडे हुये अजैन पुरुष यदि ज्ञान

और तपश्चरणसहित हों तथापि वे ऐसे प्रभारहित जान पड़ते हैं जैसे सूर्यके सामने खद्योत। अभिप्राय यह है कि जैसे सूर्यके सामने खद्योत प्रभा रहित हो जाता है उसीप्रकार ज्ञान तपश्चरणसे रहित सम्यग्दृष्टि जैनीके सामने ज्ञानतपश्चरण सहित मिथ्यादृष्टि भी प्रभारहित हो जाता है। जैनी ज्ञान तपसे रहित होकर भी सूर्यके समान है और अन्यधर्मी ज्ञान तप सहित भी खद्योतके समान है। अपि शब्दसे यह सूचित होता है कि जब जैनी ज्ञान तप रहित होकर भी सूर्यके समान है तब फिर यदि वह ज्ञान तप सहित हो तो फिर उसकी महिमाका क्या पार है॥ ५२॥

आगे—अपना कल्याण चाहनेवाले लोगोंको जैनियोंपर अवश्य अनुग्रह करना चाहिये ऐसा कहते हैं—

वरमेकोऽप्युपकृतो जैनो नान्ये सहस्रश।
दलादिसिद्धान्कोऽन्वेति रससिद्धे प्रसेदुपि॥ ५३॥

अर्थ—यदि किसी एकही जैनीका उपकार किया जाय तो वह बहुत अच्छा है परन्तु अन्यमतवाले हजारों पुरुषोंका भी उपकार करना उससे अच्छा नहीं है इसी बातको दृष्टांत देकर स्पष्ट दिखलाते हैं कि यदि पारे आदि औषधियोंसे ही दरिद्रता व्याधि बुढापा आदिको अवश्य दूर करनेकी शक्ति रखनेवाला प्रसन्न होकर अपना अनुग्रह करना चाहे तो उसे छोड़कर जिससे कोई दूसरी चीज नहीं खरीदी जा सकती ऐसे

कृत्रिम सुवर्ण रखनेमें प्रसिद्ध पुरुषको अथवा वर्णकी उत्कृष्टतासे प्रसिद्ध पुरुषको कौन ढूंढता है ? भावार्थ—जिसप्रकार झेरसे ही दरिद्रता रोग आदि सब तरहके दुःख दूर करनेवाला कोई तांत्रिक पुरुष प्रसन्न होकर अपनी दरिद्रता आदि सब दूर करना चाहता हो तो उसे छोड़कर झूठा बनाया हुआ सुवर्ण रखनेवाले पुरुषके समीप कोई नहीं जाता उसीप्रकार बुद्धिमान पुरुष प्रथम जैनियोंका ही उपकार करते हैं अन्य-मतवालोंका नहीं। क्योंकि उनका उपकार करनेसे धर्मकी कुछ वृद्धि नहीं होती ॥ ५३ ॥

आगे—नाम स्थापना आदि निक्षेपोंसे विभाग किये हुये चारोंप्रकारके जैनी पात्र हैं और उनमें भी उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं ऐसा दिखलाते हैं—

नामतः स्थापनातोऽपि जैनः पात्रायते तरां।
स लभ्यो द्रव्यतो धन्यै र्भावतस्तु महात्मभिः ॥ ५४ ॥

अर्थ—जिसकी जैन ऐसी संज्ञा है ऐसा नामजैन, तथा जिसमें यह वही जैन है अथवा वैसा ही जैन है ऐसी कल्पना की गई हो ऐसा स्थापनाजैन ये दोनों ही जैन अजैन पात्रोंकी अपेक्षा मोक्षके कारण ऐसे रत्नत्रयगुणोंको प्राप्त करनेवाले पात्रके समान बहुत उत्कृष्ट पात्र जान पड़ते हैं। क्योंकि इन दोनोंके सम्यग्दर्शनके साथ साथ होनेवाले पुण्यकर्मोंका आस्रव होता रहता है। तथा वही द्रव्यजैन अर्थात् जिसमें आगामी

कालमें सम्यग्दर्शनगुणके प्राप्त होनेकी योग्यता है ऐसा जैन बडे पुण्यवानोंको प्राप्त होता है और भावजैन अर्थात् जिसमें उसीसमय जैनत्वगुण अर्थात् सम्यग्दर्शन विद्यमान हो ऐसा जैन बडे महात्माओंको अथवा महाभाग अर्थात् बडे भाग्यवान लोगोंको प्राप्त होता है। अभिप्राय यह है कि अजैनोंकी अपेक्षा [1]नामका जैनी तथा स्थापना किया हुआ जैनी भी अच्छा है। द्रव्यजैनी भाग्यवानोंको ही मिलता है अर्थात् दुर्लभ है और भावजैनी और भी दुर्लभ है ॥ ५४ ॥

आगे—भावजैनपर कपटरहित प्रेम करनेवालेको उसका फलस्वरूप स्वर्ग और मोक्षकी संपत्ति प्राप्त होती है ऐसा दिखलाते हैं—

प्रतीतजैनत्वगुणेऽनुरज्यन्निर्व्याजमाससृति तद्गुणाना ।
धुरि स्फुरन्नभ्युदयैरहप्तस्त्रप्तस्त्रिलोकीतिलकत्वमेति ॥५५॥

अर्थ—जिसका जैनत्व गुण प्रसिद्ध है अर्थात् जिसके वास्तवमें सम्यग्दर्शन विद्यमान हैं ऐसे भव्यपात्र पुरुषपर जो गृहस्थ कपट रहित स्वयं प्रेम करता है वह पुरुष मोक्ष प्राप्त होनेतक प्रत्येक जन्ममें वास्तवमें सम्यग्दर्शन गुणको धारण करनेवाले लोगोंके सामने भी अधिक तेजस्वी होता है। तथा सम्यग्दर्शनके साथ रहनेवाले पुण्यकर्मके उदयसे किसी तरहका

[1] जिनके सम्यग्दर्शन नहीं है परंतु जो रूढि या कुलपरंपरासे जैनधर्म पालन करते हैं वे नामजैन वा स्थापनाजैन कहला सकते हैं।

अभिमान नहीं करता और आज्ञा ऐश्वर्य आदि प्राप्त हुई संपदाओंसे तृप्त होता हुआ अर्थात् उनमें किसी तरहकी तृष्णा न करता हुआ अंतमें तीनों लोकोंका तिलक होता है अर्थात् मोक्षपदको प्राप्त करता है। भावार्थ-सम्यग्दृष्टी पुरुषपर अनुराग करनेवाला पुरुष भी अनेक तरहकी सुख संपत्तियोंका उपभोग करता हुआ अंतमें मुक्त होता है ॥ ५९ ॥

आगे—गृहस्थाचार्यकेलिये अथवा यदि गृहस्थाचार्य न हो तो किसी मध्यम पात्रके लिये कन्या सुवर्ण आदि दान देना पाक्षिक श्रावकका कर्तव्य है ऐसा उपदेश देते हैं—

निस्तारकोत्तमायाथ मध्यमाय सधर्मणे।
कन्याभूहेमहस्त्यश्वरथरत्नादि निर्वपेत् ॥ ५६ ॥

अर्थ—जो संसारसमुद्रसे पार जानेके लिये प्रयत्न करानेवाले गृहस्थोंमें श्रेष्ठ हैं और जिसके क्रिया मंत्र व्रत आदि सब अपने समान हैं ऐसे गृहस्थाचार्यके लिये अथवा यदि ऐसा गृहस्थाचार्य न मिले तो मध्यम अथवा जघन्य श्रावकके लिये कन्या, भूमि, सुवर्ण, हाथी, घोडे, रथ, रत्न, और आदि शब्दसे वस्त्र, घर, नगर, आदि धर्म अर्थ काम इन तीनों पुरुषार्थोंको सिद्ध करनेवाले पदार्थोंका दान देना चाहिये।

इस श्लोकमें जो अथ शब्द दिया है वह दूसरे पक्षको सूचित करता है अथवा अधिकारको सूचित करता है। इस श्लोकके

पहिले जघन्य समदत्तिका व्याख्यान कर चुके थे अब इस श्लोकसे मध्यम समानदत्तिका अधिकार करते हैं अर्थात् यहांसे मध्यम समानदत्ति कहते हैं। गृहस्थमें यदि अधिक भी गुण हों तथापि वह मुनिकी अपेक्षा मध्यम पात्र ही गिना जाता है (ग्रथकारने इस श्लोकमें देनेके अर्थमें वप् धातुका प्रयोग किया है जिसका अर्थ 'बोना' होता है इसके देनेका यह अभिप्राय है कि जैसे बीजके बोनेसे कई गुना मिलता है इसीतरह कन्या आदि देनेसे स्वय अधिक भोगोपभोगकी प्राप्ति होती है ॥५६॥

आगे—समानधर्मी श्रावकके लिये कन्या आदि देनेका कारण बतलाते हैं—

आधानादि क्रियामन्त्रव्रताद्युच्छेदवाञ्छया।
प्रदेयानि सधर्मेभ्य कन्यादीनि यथोचित ॥५७॥

अर्थ—गर्भाधान, प्रीति, सुप्रीति आदि गृहस्थोंको अवश्य करने योग्य ऐसी अरहतदेवकी कही हुई क्रियायें हैं, तथा

१–चारित्रसारमें लिखा है– "समदत्ति स्वसमक्रियामन्त्रव्रताय निस्तारकोत्तमाय कन्याभूमिसुवर्णहस्त्यश्वरथरत्नादिदान। स्वसमानाभावे मध्यमपात्रस्यापि दानमिति" ॥ अर्थात्–जिसके क्रिया मत्र व्रत आदि सब अपने समान हैं ऐसे गृहस्थाचार्यके लिये अर्थात् जो ससारसे पार– जानेके उद्योगमें लगा है तथा दूसरोंको लगाता है ऐसे उत्तम गृहस्थके लिये कन्या, भूमि, सुवर्ण, हाथी, घोडा, रथ, रत्न आदि दान देना चाहिये। यदि गृहस्थाचार्य न मिले तो मध्यमपात्रके लिये ही ऊपर कहे हुये पदार्थ देना चाहिये इसे समानदत्ति कहते हैं।

अरहंतदेवके कहे हुये जो इन्हीं क्रियामयी मंत्र हैं, अथवा अपराजित मंत्र है, मद्यका त्याग मांसका त्याग आदि जो व्रत हैं तथा आदि शब्दसे देवपूजा पात्रदान आदि जो जो धर्मकार्य हैं उनका कभी नाश न हो वे सब ज्योंके त्यों निरंतर चलते रहें ऐसी इच्छासे गृहस्थोंको समानधर्मी गृहस्थोंके लिये यथोचित अर्थात् जो जिसके योग्य हो उसको वही देना अथवा जिसको जिसकी आवश्यकता हो उसको वही देना ऐसा विचारकर कन्या भूमि सुवर्ण आदि पदार्थोंको उत्तम बनाकर देना चाहिये। भावार्थ—समान धर्मियोंको कन्या आदि देनेसे जैनधर्मका विच्छेद कभी नहीं हो सकता, क्योंकि उसकी प्रत्येक संतान जैनधर्म धारण करनेवाली होगी। इसतरह कन्या आदिका दान जैनधर्मकी वृद्धि होने और शास्त्रोक्त मंत्र व्रत क्रिया आदिकोंका निरंतर प्रचार होनेमें कारण है इसलिये वह पुण्यका भी कारण है ॥५७॥

आगे—कन्यादानकी विधि और उसका फल कहते हैं—

> निर्दोषां सुनिमित्तसूचितशिवां कन्यां वरार्हैर्गुणैः
> स्फूर्जंतं परिणाय्य धर्म्यविधिना यः सत्करोत्यंजसा।
> दंपत्योः स तयोस्त्रिवर्गघटनात् त्रैवर्गिकेष्वग्रणी-
> र्भूत्वा सत्समयास्तमोहमहिमा कार्ये परेऽप्यूर्जति ॥५८॥

अर्थ—जो कन्या सामुद्रिक शास्त्रमें कहे हुये दोषोंसे रहित है और जिसमें सामुद्रिकशास्त्र, ज्योतिःशास्त्र तथा जिससे भविष्यतकी बात जानी जाय ऐसे अन्य शास्त्रोंके अनु-

मार अपना और वरका कल्याण सूचित करनेवाले लक्षण विद्यमान हैं ऐसी कन्याको जिसमें वरके योग्य कुल, शील, माता पिता आदि गुरुजन, विद्या, धन, सुंदरता, योग्य उमर और कन्याको ग्रहण करनेकी इच्छा आदि जो जो गुण हैं वे सब विचार करनेवालोंके चित्तमें साफ दिखाई दे रहे हैं। ऐसे साधर्मी पुरुषके लिये धर्मशास्त्रमें कही हुई [1]विधिके अनुसार अग्नि द्विज और देवोंकी साक्षीपूर्वक ब्राह्म प्राजापत्य आर्ष और दैव इन चारों प्रकारके विवाहोंमेंसे

१—भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत आदिपुराणमें विवाहकी संक्षिप्त विधि इसप्रकार लिखी है—

> ततोऽस्य गुर्वनुज्ञानादिष्टा वैवाहिकी क्रिया ।
> वैवाहिके कुले कन्यामुचितां परिणेष्यतः ॥
> सिद्धार्चनविधिं सम्यङ्निर्वर्त्य द्विजसत्तमाः ।
> कृताग्नित्रयसंपूजाः कुर्युस्तत्साक्षिकां क्रियाम् ॥
> पुण्याश्रमे क्वचित्सिद्धप्रतिमाभिमुखं तयोः ।
> दम्पत्योः परया भूत्या कार्यः पाणिग्रहोत्सवः ॥
> वेद्यां प्रणीतमग्नीनां त्रयं द्वयमथैककम् ।
> ततः प्रदक्षिणीकृत्य प्रसज्य विनिवेशनम् ॥
> पाणिग्रहणदीक्षायां नियुक्तं तद्वधूवरम् ।
> आसप्ताहं चरेद्ब्रह्मव्रतं देवाग्निसाक्षिकम् ॥
> क्रान्त्वा स्वस्योचितां भूमिं तीर्थभूमीर्विहृत्य च ।
> स्वगृहं प्रविशेद्भूत्या परया तद्वधूवरम् ॥

यथायोग्य किसी एक विवाहकी विधिसे विवाहकर वस्त्र आदिसे यथायोग्य सत्कार कर देता है वह कन्या देकर सत्कार करने वाला गृहस्थ उन दोनों वरवधूओंके लिये धर्म अर्थ और

विमुक्तकंकणं पश्चात्स्वगृहे शयनीयकं ।
अधिशय्य यथाकालं भोगांगैरुपलालितं ॥
सन्तानार्थमृतावेव कामसेवां मिथो भजेत् ।
शक्तिकालव्यपेक्षोऽयं क्रमोऽशक्तेष्वतोऽन्यथा ॥

अर्थ—तदनंतर अर्थात् व्रतावतरण क्रिया समाप्त होनेके पीछे पिताकी आज्ञानुसार विवाहके योग्य कुलमें जन्मी हुई कन्याको विवाहकर स्वीकार करनेवालेकी वैवाहिकी क्रिया कही है। उसकी विधि यह है कि प्रथम ही सिद्धार्चनविधि अर्थात् विधिपूर्वक सिद्धपरमेष्ठीकी आराधना अच्छीतरह करे। पीछे गार्हपत्य दाक्षिणाग्नि और आहवनीय ऐसी तीन अग्नियोंको स्थापनकर विधिपूर्वक उनकी पूजा करे और विवाहकी समस्त क्रियायें इन अग्नियोंके समक्षमें ही करे। किसी किसी पवित्र प्रदेशमें सिद्धप्रतिमाके सन्मुख अथवा सिद्धप्रतिमा न होनेपर सिद्धयन्त्रके सन्मुख उन दोनों वर कन्याओंके पाणिग्रहणका उत्सव बड़े ठाटसे करे। वधू और वर दोनों ही वेदीपर सिद्ध की गई तीन दो अथवा एक ही अग्निकी प्रदक्षिणा दें और फिर आसन बदलकर बैठ जाय अर्थात् वरके आसनपर वधू और वधूके आसनपर वर बैठे। जिनको पाणिग्रहण दीक्षा दे दी गई है अर्थात् जिनकी विवाहविधि समाप्त हो चुकी है ऐसे वे दोनों ही वरवधू देव और अग्निके समक्ष सात दिनतक ब्रह्मचर्य व्रत धारण करें। तदनंतर उनके विहार करने योग्य किसी भूमिका (किसी देश वा नगरका) देशाटन

काम इन तीनों पुरुषार्थोंको सपादन कर देता है इसलिये वह धर्म अर्थ काम इन पुरुषार्थोंके सेवन करनेवालोंमें प्रधान गिना जाता है तथा सज्जन पुरुषोंकी सगति और जैन शास्त्रोंके निमित्तसे चारित्रमोहनीयकर्मकी तीव्रता नष्ट कर अवश्य करने योग्य ऐसे [1]इसलोक सबधी और परलोक सबधी कार्योंके करनेमें समर्थ होजाता है। अभिप्राय यह है कि

कराकर तथा किसी तीर्थस्थानके दर्शन कराकर उन दोनों वरवधूओंको बडी विभूतिके साथ घरमें प्रवेश करावे। घर जाकर वे दोनों ही अपना कंकण छोडें और भोगोपभोग सामग्रीसे शोभायमान ऐसे घरमें कोमल शय्यापर शयन करें। उन दोनोंको सतान उत्पन्न करने के लिये ऋतुकालमें ही परस्पर कामसेवन करना चाहिये अन्य कालमे नहीं। शक्ति और कालकी अपेक्षा रखनेवाला यह क्रम केवल समर्थ लोगोंके लिये कहा है असमर्थ लोगोंके लिये इससे उलटा सम झना चाहिये अर्थात् असमर्थ लोग यथाशक्ति ब्रह्मचर्यका पालन करें।

१—द्वौ हि धर्मौ गृहस्थाना लौकिक पारलौकिक । लोकाश्रयो भवेदाद्य पर स्यादागमाश्रय ॥ अर्थ—गृहस्थोंका धर्म दो प्रकारका है एक इस लोकमे काम आनेवाला लौकिक और दूसरा परलोकमें काम आनेवाला पारलौकिक। उनमेंसे पहिला जो लौकिक है वह तो देशकालके अनुसार लोकके आश्रय है अर्थात् देशकालके अनुसार उसकी विधि बदलती भी रहती है परतु वह धर्मशास्त्रसे विरुद्ध कभी नहीं होती। तथा दूसरा जो पारलौकिक है वह जैनसिद्धातके अनुसार सदा एकसा ही रहता है।

जो योग्य कन्याको सुशिक्षित कर योग्य वरके लिये विवाहकर देता है वह गृहस्थोंमें मुख्य गिना जाता है तथा वही इस लोक संबंधी और परलोक संबंधी सब काम कर सकता है। अपि शब्दसे इस लोक संबंधी कार्योंकी सामर्थ्य सूचित होती है ॥ ९८ ॥

जातयोऽनादयः सर्वास्तत्क्रियापि तथाविधा। श्रुतिः शास्त्रांतरं वास्तु प्रमाणं कात्र नः क्षतिः ॥ अर्थ—सब जातियां अनादिसे चली आती हैं और उनकी क्रियायें भी अनादिसे चली आती हैं। इन क्रियाओंको कहनेवाला चाहे वेद हो, स्मृति हो अथवा और कोई शास्त्र हो हमें प्रमाण है क्योंकि इसमें हमारी कोई हानि नहीं है।

सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः। यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणं ॥ अर्थ—जिसमें सम्यग्दर्शनकी क्षति न हो और व्रतोंमें किसी तरहका दोष न आवे ऐसी लोकमें प्रचलित समस्त विधि जैनियोंको प्रमाण है। भावार्थ—वायुशुद्धि, गोमयशुद्धि, मृत्तिका शुद्धि, जलशुद्धि आदि ऐसी समस्त विधि जो कि लोगोंमें प्रचलित हैं मान्य हैं कि जिनके करनेमें सम्यक्त्वकी हानि और व्रतोंमें दोष न आवे वे सब जैनियोंको प्रमाण हैं।

स्वजात्यैव विशुद्धानां वर्णानामिह रत्नवत्। तत्क्रियाविनियोगाय जैनागमविधिः परं ॥ अर्थ—जिसप्रकार रत्न स्वभावसे ही शुद्ध है परंतु उसे शाणपर रखना कोने निकालना आदि उसके संस्कार केवल उसकी शोभा बढानेके लिये किये जाते हैं। उसीप्रकार अपनी जातिसे शुद्ध होनेपर भी ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णोंको विशेष महत्त्व लानेके लिये जैनशास्त्रके अनुसार सब संस्कार आदि विधि करना चाहिये।

आगे–उत्तम कन्या देनेवालेको एक साधर्मीका उपकार करनेसे वडे भारी पुण्यका लाभ होता है ऐसा दिखलाते हैं—

सत्कन्या ददता दत्त सत्रिवर्गो गृहाश्रम ।
गृह हि गृहिणीमाहु र्न कुड्यकटसहतिं ॥ ५९ ॥

अर्थ—अपनी स्त्रीमें सतोप रखना, इद्रियोंको वश करना, देव गुरु आदिकी सेवा करना और सत्पात्रको दान देना आदि श्रावकोंका धर्म कहलाता है । वेश्यासेवन आदि व्यसनोंसे रहित होकर निर्विघ्न द्रव्यका उपार्जन करना, उपार्जन किये हुये अर्थात् कमाये हुये द्रव्यकी रक्षा करना और रक्षा किये हुये द्रव्यको बढाना इन तीनोंके द्वारा अपने भाग्यके अनुसार प्राप्त हुई जो ग्राम सुवर्ण आदि सपत्ति है उसे अर्थ कहते है । अपने आत्माके एक यथेष्ट और अपूर्व रससहित जो समस्त इद्रियोंको प्रेम उत्पन्न करानेमें कारण है अर्थात् जिससे समस्त इद्रिया तृप्त होती हैं और सुख मिलता है उसे काम कहते हैं । अपनी कुलीन स्त्रियोंके साथ समागम करनेवालोंको इसका अनुभव होता है । अन्य शास्त्रोंमें भी ऐसा ही लिखा है कि–" सकरपरमर्णायस्य प्रीतिसभोगशोभिन । रुचिरस्याभिलापस्य नाम काम इति स्मृति ॥ १ ॥ अर्थात्–जो चित्तको अच्छा लगे, जो प्रेम और उपभोग करनेमें अच्छा जान पडे ऐसी सुदर इच्छाका नाम काम है । ये तीनों ही अर्थात् धर्म अर्थ काम सुयोग्य स्त्रीके साथ होनेसे ही सिद्ध हो

सकते हैं। जबतक घरमें सुयोग्य स्त्री न होगी तबतक ये तीनों ही सिद्ध न हो सकेंगे। इसलिये जिस सद्गृहस्थने साधर्मी श्रावकके लिये सामुद्रिक दोषोंसे रहित, कुलीनता आदि गुणोंसे सुशोभित ऐसी प्रशस्त कन्याका दान किया उसने उस सधर्मीके लिये धर्म अर्थ काम इन तीनों पुरुषार्थों सहित गृहाश्रम ही दिया ऐसा समझना चाहिये। क्योंकि विद्वान् लोग कुलस्त्रीको ही घर कहते हैं मिट्टी काठ आदिसे दीवाल और छत बनाकर खडे कियेको घर नहीं बतलाते हैं। अभिप्राय यह है कि कन्या गृहाश्रम देनेके ही समान है। जिस अवस्थामें घरमें रहकर ही धर्मानुष्ठान किया जाय अथवा जिस अवस्थामें घर ही तपश्चरण करनेका स्थान माना जाय उसे गृहाश्रम कहते हैं। गृहस्थ वा श्रावक घरमें रहकर ही सबतरहके धर्मानुष्ठान करता है अथवा शक्तिके अनुसार दान तप आदि करता है और वे दान तप वा धर्मानुष्ठान विना सुयोग्य स्त्रीकी सहायताके हो नहीं सकते इसलिये कन्या देना धर्मानुष्ठान करनेका साधन बना देना है, और इसलिये ही उसे बड भारी पुण्यकी प्राप्ति होती है ॥ ९३ ॥

आगे—विवाहकर कुलस्त्री स्वीकार करना दोनों लोकोंमें अभिमत फल देनेवाला है इसलिये धर्म अर्थ काम इन तीनों पुरुषार्थोंको सेवन करनेवाले गृहस्थोंको अवश्य स्वीकार करना चाहिये ऐसा उपदेश देते हैं—

धर्मसंततिमक्लिष्टां रतिं वृत्तकुलोन्नतिं ।

देवादिसत्कृति चेच्छन् सत्कन्या यत्नतो वहेत् ॥ ६० ॥

अर्थ—निरंतर धर्म चलानेके लिये पुत्र पौत्र आदि संतान होना, अथवा धर्मका कभी विच्छेद न होना, क्लेशरहित निर्विघ्न संभोगसुखकी प्राप्ति होना, आचरण और कुलकी उन्नति करना तथा देवपूजा, आहारदान, द्विज बांधव आदिकोंका आदर सत्कार करना इत्यादि कार्मोंकी इच्छा करनेवाले पुरुषको यत्नपूर्वक श्रेष्ठ कन्याके साथ अथवा सज्जन पुरुषकी कन्याके साथ विवाह करना चाहिये। यदि श्रावक किसी श्रेष्ठ कन्याके साथ विवाह न करेगा तो ऊपर लिखे हुये धर्मकार्य उससे कभी नहीं हो सकेंगे ॥ ६० ॥

आगे—जिसके स्त्री नहीं है अथवा जिसके दुष्ट स्त्री है ऐसे पात्रको भूमि सुवर्ण आदि दान देनेसे कुछ उपकार नहीं होता, इसलिये श्रेष्ठ कन्या देकर सधर्मी पुरुषोंका उपकार करना ही चाहिये। इसी विधिको स्थापन करनेके लिये ऊपर लिखे अर्थका प्रकारांतरसे समर्थन करते हैं—

सुकलत्रं विना पात्रे भूहेमादिव्ययो वृथा।

कीटैर्दंदश्यमानेऽत कोऽम्बुसेकात् द्रुमे गुण ॥ ६१ ॥

अर्थ—जिसके श्रेष्ठ स्त्री नहीं है ऐसे पात्रको अर्थात् जिसमें मोक्षके कारण सम्यग्दर्शन आदि गुण विद्यमान

हैं परतु जिसके श्रेष्ठ स्त्री नहीं है ऐसे गृहस्थको पृथ्वी सुवर्ण, आदि दान देना व्यर्थ है क्योंकि जिस वृक्षका मध्यभाग घुनके कीडोंने बुरीतरहसे खा डाला है ऐसे वृक्षको जल सींचनेसे क्या लाभ है ? अर्थात् कुछ नहीं। अभिप्राय यह है कि जब विना स्त्रीवालेको धन देना व्यर्थ है तब साधर्मी पुरुषको श्रेष्ठ कन्या देकर धन देना चाहिये ॥६१॥

आगे—विषयसुखोंका उपभोग करनेसे ही चारित्रमोहनीयकर्मके उदयकी तीव्रता होती है और उन्हीं विषय सुखोंका उपभोग करनेसे वह चारित्रमोहनीयकर्मके उदयकी तीव्रता शात हो जाती है। इसलिये उन्हीं उपभोगोंके द्वारा चारित्रमोहनीयकर्मका तीव्र उदय शात कर फिर वह विषय सुखोंका उपभोग छोड देना चाहिये और अपने समान अन्य सधर्मी लोगोंसे भी छुडाकर उन्हें विरक्त कराना चाहिये ऐसा उपदेश देते हैं—

विषयेषु सुखभ्रांतिं कर्माभिमुखपाकजां।
छित्वा तदुपभोगेन त्याजयेत्तान् स्ववत्परं॥६२॥

अर्थ—अपने फल देनेके सन्मुख हुये चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे विषयोंमें जो सुखकी भ्रांति उत्पन्न हुई है अर्थात् ये विषय सुखके कारण हैं अथवा सुखस्वरूप हैं ऐसी जो विपरीत बुद्धि उत्पन्न हुई है उसे विषयसेवनके द्वारा नष्ट कर फिर उन विषयोंको छोड देना चाहिये। तथा जिसप्रकार उन विष

योंको छोडकर वह स्वय विरक्त हुआ है उसीप्रकार जिसको श्रेष्ठ कन्या या धन आदि दिया है ऐसे साधर्मी पुरुषसे वा अन्य साधर्मी पुरुषसे भी विषयोंको छुटाना चाहिये, और उन्हें विरक्त करना चाहिये ॥६२॥

आगे—इस पचमकालके कारण लोग प्राय. आचरण-रहित ही देखे जाते हैं इससे कितने ही दाता लोगोंके चित्त सशय अथवा ग्लानिसे भरजाते हैं इसलिये ऐसे दाताओंको समाधान करनेके लिये चार श्लोक कहते हैं—

दैवाल्लब्ध धन प्राणै सहावश्य विनाशि च ।
बहुधा विनियुजान सुधी समयिकान् क्षिपेत् ॥६३॥

अर्थ—जो धन इस जन्ममें केवल पूर्वपुण्यके उदयसे विना पुरुषार्थ किये अर्थात् पिता आदि पूर्वजोंका कमाया[१] हुआ ही मिला है वह भी अपने प्राणोंके साथ अवश्य ही नष्ट होगा अर्थात् मरनेके पीछे अपने काम न आवेगा, अपने साथ न जायगा ऐसे धनको जो लज्जा भय और पक्षपात आदि अनेक तरहसे खर्च करता है ऐसा अपना कल्याण चाहनेवाला कौन बुद्धिमान पुरुष है जो जैनधर्मको धारण करनेवाले गृहस्थ अथवा मुनिका तिरस्कार करे, अर्थात् कोई नहीं । अभिप्राय यह है कि धनाढ्य-लोग जब अपने लिये पूर्वजोंके मिले हुये धनको कार्य अकार्यका

१-पूर्वजोंके कमाये हुयेसे यह अभिप्राय है कि ऐसा धन उत्तम नहीं गिना जाता, उत्तम धन अपना कमाया हुआ गिना जाता है।

विचार न करते हुये जिसतिसतरह खर्च कर देते हैं तो उन्हें किसी धर्मात्मा भाईकी विपत्ति दूर करनेका समय आनेपर उसके अवगुण निकालकर अथवा गुणोंको ही अवगुण कहकर उसकी निंदा कभी नहीं करनी चाहिये ॥ ६३ ॥

आगे—उसे क्या करना चाहिये सो कहते हैं—

> विन्यस्यैदंयुगीनेषु प्रतिमासु जिनानिव ।
> भक्त्या पूर्वमुनीनर्चेत्कुतः श्रेयोऽतिचर्चिनां ॥६४॥

अर्थ—जिसप्रकार रत्न पाषाण आदिकी प्रतिमाओंमें ऋषभदेव आदि जिनेंद्रदेवकी स्थापनाकर उनकी पूजा करते हैं उसीमकार सद्गृहस्थको इस पंचमकालमें होनेवाले मुनियोंमें नाम स्थापना आदि विधिसे पूर्वकालके मुनियोंकी स्थापनाकर भक्तिपूर्वक उनकी पूजा करनी चाहिये । [1]क्योंकि अतिशय पीसनेवालेको अर्थात् सबजगह परीक्षा करनेवाले-

---

१–इसविषयमें सोमदेव आचार्यने इसप्रकार लिखा है

भुक्तिमात्रप्रदाने तु का परीक्षा तपस्विनां । ते सन्तः सन्त्वसन्तो वा गृही दानेन शुध्यति ॥ अर्थ—केवल आहारदान देनेके लिये मुनियोंकी क्या परीक्षा करना चाहिये ? अर्थात् कुछ नहीं । वे मुनि चाहे अच्छे हों या बुरे हों गृहस्थ तो उन्हें दान देनेसे शुद्ध ही हो जाता है अर्थात् गृहस्थको पुण्य ही होता है ।

सर्वारंभप्रवृत्तानां गृहस्थानां धनव्ययः । बहुधास्ति ततोऽत्यर्थं न कर्तव्या विचारणा ॥ अर्थ—इस संसारमें सब प्रकारके खेती व्यापार

को भी सुख और पुण्य कहासे मिल सकता है १। अभिप्राय यह है कि स्थापना करनेसे अपूज्य वस्तु भी पूज्य हो जाती है। जिसप्रकार प्रतिमामें अरहतकी स्थापनाकर अरहतकी पूजा

आदि आरंभ करनेवाले गृहस्थोंका धन प्रत्येक कार्यमें चाहे जितना खर्च होता है जब उधर उसका लक्ष्य नहीं है तो दान देनेमें भी बहुतसा विचार नहीं करना चाहिये।

यथायथा विशिष्यते तपोज्ञानादिभिर्गुणै । तथा तथाधिक पूज्या मुनयो गृहमेधिभि ॥ अर्थ–तप और ज्ञान आदि गुणोंके द्वारा मुनियोंकी योग्यता जैसी जैसी अधिक होती जाती है उसीतरह गृहस्थोंको उनकी अधिक अधिक पूजा करनी चाहिये।

दैवाल्लब्ध धन धन्यैर्वप्तव्य समयाश्रिते। एको मुनिर्भवेल्लभ्यो न लभ्यो वा यथागम ॥ अर्थ–पुण्यवान पुरुषोंको पूर्व पुण्यके उदयसे जो धन मिला है उसे अपने धर्मको पालन करनेवाले श्रावकोंके लिये यथायोग्य खर्च कर देना चाहिये। क्योंकि शास्त्रानुसार पूर्ण चारित्रको पालन करनेवाला कोई एक आदि मुनि मिले अथवा न भी मिले।

उच्चावचजनप्राय समयोऽय जिनेशिना। नैकस्मिन् पुरुषे तिष्ठेदेकस्तम इवालय ॥ अर्थ–यह श्री जिनेंद्रदेवका कहा हुआ धर्म ऊच नीच दोनों प्रकारके मनुष्योंसे भरा हुआ है। जिसप्रकार एक खंभेके आधार पर घर नहीं ठहर सकता उसीप्रकार यह धर्म भी किसी एक ऊच अथवा नीच मनुष्यके आधारपर नहीं रह सकता।

ते नामस्थापनाद्रव्यभावन्यासैश्चतुर्विधा। भवति मुनय सर्वे दानमानादिकर्मसु ॥ अर्थ–दान मान आदि क्रियाओंके करनेके लिये

करते हैं उसीप्रकार आजकलके मुनियोंमें पहिलेके मुनियोंकी स्थापना कर उन पहिलेके मुनियोंकी ही पूजा करनी चाहिये। स्थापना मात्र करनेके लिये विशेष परीक्षाकी आवश्यकता नहीं है ॥ ६४ ॥

आगे—फिर भी ऊपर लिखे हुये विषयको ही समर्थन करते हुये कहते हैं—

अर्थात् दान आदि देनेके लिये वे सब मुनि नाम स्थापना द्रव्य भाव इन निक्षेपोंसे चारप्रकारके होते हैं। भावार्थ—चारों प्रकारके मुनि पूज्य दान देनेयोग्य और सत्कार करनेयोग्य हैं। परतु इतना विशेष है कि—

उत्तरोत्तरभावेन विधिस्तेषु विशिष्यते। पुण्यार्जने गृहस्थाना जिनप्रतिकृतिष्विव ॥ अर्थ—जिसप्रकार जिनेंद्रदेवकी प्रतिमा और साक्षात् जिनेंद्रदेव इन दोनोंकी पूजामें प्राप्त होनेवाले पुण्यमे विशेषता है उसी प्रकार उन मुनियोंमें उत्तरोत्तर अर्थात् नाममुनिकी अपेक्षा स्थापनामुनि, स्थापनासे द्रव्य और द्रव्यनिक्षेपसे भावनिक्षेपद्वारा पूजा करनेसे गृहस्थोंके पुण्योपार्जनमें भी विशेषता होता है अर्थात् उत्तरोत्तर निक्षेपद्वारा पूजा करनेसे अधिक अधिक पुण्योपार्जन होता है।

काले कलौ चले चित्ते देहे चान्नादिकीटके। एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधरा नरा ॥ अर्थ—इस कलिकालमें चित्त सदा चलायमान रहता है शरीर एक तरहसे केवल अन्नका कीडा ही बन रहा है ऐसी अवस्थामें भी वर्तमानमें जिनरूप धारण करनेवाले (मुनि) विद्यमान है यही आश्चर्य है।

भावो हि पुण्याय मतः शुभः पापाय चाशुभः ।
तद्दुष्यन्तमतो रक्षेद्धीरः समयभक्तितः ॥ ६९ ॥

अर्थ--सिद्धांतके अनुसार शुभ परिणामोंसे पुण्यबंध होता है और अशुभ परिणामोंसे पापका बंध होता है इसलिये जिनके स्वभावमें कुछ विकार नहीं होता ऐसे धीर पुरुषोंको उचित है कि वे जैनशासनकी भक्तिसे अर्थात् कलिकालमें भी ये जैनशासनको (जैनमतको) धारण करते हैं इसलिये ये जिनदेवके समान पूज्य हैं ऐसी अनुराग बुद्धिसे हटते हुये अर्थात् दूषित होते हुये अपने परिणामोंकी रक्षा करें । अभिप्राय यह है कि जिनधर्मके धारण करनेवालोंमें भक्ति न होना अशुभ परिणाम हैं ऐसे परिणामोंको रोकना चाहिये और उनमें भक्तिरूप शुभ परिणाम करना चाहिये कि जिससे पुण्यका बंध हो ॥६९॥

आगे--ज्ञान और तप दोनों अलग अलग, तथा मिले हुये और उनके धारण करनेवाले क्यों पूज्य हैं उसमें हेतु कहते हैं--

---

यथा पूज्यं जिनेंद्राणां रूपं लेपादिनिर्मितं । तथा पूर्वमुनिच्छाया पूज्याः संप्रति संयताः ॥ अर्थ--जिसप्रकार चित्र आदिसे बनाया जिनेंद्रदेवका रूप पूज्य है उसी प्रकार वर्तमानकालके मुनि पूर्वकालके मुनियोंके प्रतिरूप हैं इसलिये ही वे पूज्य हैं।

ज्ञानमर्च्यं तपोऽगत्वात्तपोऽर्च्यं तत्परत्वत[1] ।
द्वयमर्च्यं शिवागत्वात्तद्वतोऽर्च्या यथागुण ॥ ६६ ॥

अर्थ—दीक्षा यात्रा प्रतिष्ठा आदिमें काम आनेवाला ऐसा जो साधकका ज्ञान है वह पूज्य है क्योंकि वह अनशन आदि तपका कारण है। तथा नैष्ठिकमें रहनेवाला तप भी पूज्य है क्योंकि वह ज्ञानकी वृद्धिमें कारण है और गणधरदेवमें रहनेवाले ज्ञान और तप दोनों ही पूज्य हैं क्योंकि ये दोनों ही मोक्षके कारण है। तथा ज्ञान और तप दोनोंको धारण करनेवाले ज्ञानी और तपस्वी अपने अपने गुणोंके अनुसार विशेष रीतिसे पूज्य हैं अर्थात् जो गुण जिसमें अधिक है उसीकी मुख्यतासे वह अधिक पूज्य है। अभिप्राय यह है कि ज्ञान तपका कारण है और तप ज्ञान बढानेमें कारण है तथा दोनों ही मोक्षके कारण है इसलिये यदि ये अलग अलग हो तब भी इनकी पूजा करनी चाहिये। यदि दोनों एक जगह मिले हुये हों तब भी पूजा करनी चाहिये और इनके धारण करनेवालों की भी पूजा करनी चाहिये ॥ ६६ ॥

आगे—मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टी पुरुषोंको सुपात्रके लिये आहारदान देनेसे जो पुण्य प्राप्त होता है उसका विशेष फल और अपात्रोंको धन देना व्यर्थ है ऐसा दिखलाते हुये कहते है—

१–यहांपर 'तत् ज्ञान पर यस्मात्' ऐसा समास करना चाहिये।

न्यग्मध्योत्तमकुत्स्यभोगजगतीभुक्तावशेषाद्वृषा-
त्तादृक्पात्रवितीर्णभुक्तिरसुदृग्देवो यथास्वं भवेत्।
सद्दृष्टिस्तु सुपात्रदानसुकृतोद्रेकात्सुभुक्तोत्तम
स्वर्भूमर्त्यपदोऽश्नुते शिवपदं व्यर्थस्त्वपात्रे व्ययः ॥६७॥

अर्थ—[1]पात्र चार प्रकारके हैं जघन्य मध्यम उत्तम और कुपात्र। इन चारोंप्रकारके पात्रोंको आहारदान देनेवाला मिथ्यादृष्टि पुरुष मरनेके पीछे अनुक्रमसे जघन्य, मध्यम, उत्तम भोगभूमि तथा कुभोगभूमिमें जन्म लेता है, वहां कल्पवृक्षोंसे मिलनेवाले इच्छानुसार सुखोंको भोगकर आयु पूर्ण होनेके पीछे बचेहुये पुण्यके प्रभावसे जैसा दान दिया था वैसा ही देव होता है। भावार्थ—सम्यग्दृष्टि जघन्यपात्र है उसे दान

१-उत्कृष्टपात्रमनगारमणुव्रताढ्यं, मध्यं व्रतेन रहितं सुदृशं जघन्यं। निर्दर्शनं व्रतनिकाययुतं कुपात्रं, युग्मोज्झितं नरमपात्रमिदं हि विद्धि॥ अर्थ—अनगार अर्थात् सम्यग्दर्शन सहित महाव्रती दिगंबर मुनि उत्तम पात्र है, अणुव्रती सम्यग्दृष्टी मध्यम पात्र है और व्रत रहित सम्यग्दृष्टी जघन्य पात्र है। ये तीनों ही सत्पात्र गिने जाते हैं। सम्यग्दर्शन रहित व्रती जीव कुपात्र है तथा जो सम्यग्दर्शन और व्रत इन दोनोंसे रहित है वे अपात्र है।

उत्तमपत्तं साहू मज्झमपत्तं च सावया भणिया। अविरद सम्माइट्ठी जहण्णपत्तं मुणेयव्वं॥ अर्थ—उत्तमपात्र साधु हैं, मध्यमपात्र अणुव्रती श्रावक हैं और जघन्यपात्र अविरत सम्यग्दृष्टी जानना।

देनेवाला मिथ्यादृष्टि जीव मरनेके पीछे जघन्य भोगभूमिमें जन्म लेता है वहापर एक पल्यकी आयु धारणकर कल्पवृक्ष आदिसे उत्पन्न हुये विषयोपभोगोंके सुख भोगता है और आयु पूर्ण होनेपर अपने बचे हुये पुण्यके अनुसार स्वर्गमें देव होता है। सम्यग्दर्शन और अणुव्रतोंसे पवित्र श्रावक मध्यमपात्र गिना जाता है, उसे दान देनेवाला मिथ्यादृष्टि जीव मरकर मध्यम भोगभूमिमें जन्म लेता है, वहा दो पल्यकी आयु होती है, निरतर दो पल्यतक वहाके कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न हुये सुख भोगकर आयु पूर्ण होनेपर अपने बचे हुये पुण्यके अनुसार स्वर्गमें देव उत्पन्न होता है। इसीतरह सम्यग्दर्शन और महाव्रतोंसे विभूषित मुनि उत्तमपात्र गिने जाते हैं। उन्हें दान देनेवाला मिथ्यादृष्टि मरकर उत्तम भोगभूमिमें जन्म लेता है, वहा तीन पल्यकी आयु होती है, तीन पल्यतक बराबर कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न हुये अनेक तरहके सुख भोगकर बचे हुये पुण्यके अनुसार देव होता है इसमें पात्रोंके भेदसे उसके सुखमें भेद पडनेका कारण यह है कि वह जैसे पात्रको दान देता है उस पात्रके निमित्तसे उसके परिणाम भी वैसेही शुभ होते है अर्थात् उत्तम पात्रके सयोगसे उत्तम शुभ परिणाम होते हैं और जघन्यसे जघन्य। तथा जैसे शुभ परिणाम होते हैं वैसा ही पुण्य होता है और जैसा पुण्य होता है वैसा ही भोगभूमि और स्वर्गोंके सुख मिलते हैं। तथा जो सम्यग्दर्शनरहित है परतु व्रत और तप

सहित है। उसे कुपात्र कहते हैं [1]कुपात्रको दान देनेवाला मिथ्यादृष्टि मरकर कुभोगभूमिमें उत्पन्न होता है। वहां एक पल्यकी आयु होती है, रहनेके लिये अच्छी अच्छी गुफायें दरी और वृक्ष हैं, खानेके लिये स्वादिष्ट मिट्टि और फल पुष्प मिलते हैं उन कुभोगभूमियोंमें जन्म लेनेवालोंमेंसे किसीके एक पैर होता है किसीके लंबे कान होते हैं। कोई कोई अश्वमुख गोमुख व्याघ्रमुख सींगवाले आदि अडतालीस कुभोगभूमियोंमें अलग अलग जातिके जीव निवास करते हैं वे जीव अपने समान ऐसी स्त्रीके साथ निरंतर भोगोपभोगोंका सेवन करते हुये आयु पूर्ण होनेपर बचे हुये पुण्यसे स्वर्गमें वाहनदेव, ज्योतिषी, व्यंतर, भवनवासी आदि नीच-

---

1-मिथ्यात्वग्रस्तचित्तेषु चारित्राभासभागिषु। दोषायैव भवेद्दानं पयः पानमिवाहिषु॥ अर्थ-चारित्राभासको धारण करनेवाले मिथ्यादृष्टियोंको दान देना सर्पको दूध पिलानेके समान केवल अशुभके लिये ही होता है। तथापि—

कारुण्यादथवौचित्यात्तेषां किंचिद्दिशन्नपि। दिशेदुद्धृतमेवान्नं गृहे भुक्तिं न कारयेत्॥ अर्थ-जो कदाचित् करुणाबुद्धिसे अथवा और किसी उचित संबंधसे किसीको कुछ देना हो तो अन्नादिक ही उठाकर दे देना चाहिये, उसे अपने घर भोजन कराना उचित नहीं।

सत्कारादि विधावेषां दर्शनं दूषितं भवेत्। यथा विशुद्धमप्यम्बु विषभाजनसंगमात्॥ अर्थ-जिसप्रकार अत्यंत शुद्ध जल भी विषके पात्रमें रखनेसे दूषित हो जाता है उसीप्रकार इन कुपात्रोंके सत्कारादि करनेमें भी सम्यग्दर्शनमें दोष लगता है।

देव होकर अतमे अनेक दुर्गतियोंको प्राप्त होते हुये संसारमें परिभ्रमण करते हैं। यहापर यह भी समझलेना चाहिये कि जो भोगभूमियोमे उत्पन्न होते हैं, मानुषोत्तर पर्वतसे लेकर स्वयप्रभ प्रर्वत तक जो तिर्यंच हैं, तथा जो म्लेच्छ राजा हैं, हाथी घोडे आदि सुखी जानवर हैं, वैश्या आदि नीच मनुष्य हैं, जो कि भोगोपभोगोंका सुख भोगते हुये सुखी जान पडते है वे सब कुपात्रदानसे उत्पन्न हुये मिथ्यात्वके साथ रहनेवाले पुण्यकर्मके उदयसे ही हुये हैं। जबतक उनका पुण्योदय है तबतक ही वे सुखी रहते हैं, पीछे मिथ्यात्व कर्मके साथ होनेवाले तीव्र पापसे वे अनेक दुर्गतियोंमें दुःख पाते हैं।

इसीतरह [1]सम्यग्दृष्टी जीव सुपात्र अर्थात् महातपस्वियोंको अथवा उत्तम मध्यम जघन्य इन तीनों तरहके पात्रोंको अपने और उस पात्रके कल्याणके लिये जो कुछ दान देता है और उस दान देनेसे जो कुछ उसे पुण्य प्राप्त होता है उस पुण्यके उदयसे बडीबडी ऋद्धियोंको धारण करनेवाले कल्पवासी देवोंके सुख

१–पात्राय विधिना दत्वा दान मृत्वा समाधिना। अच्युतान्तेषु कल्पेषु जायते शुद्धदृष्टय ॥ ज्ञात्वा धर्मप्रसादेन तत्र प्रभवमात्मन। पूजयति जिनाच्यास्ते भक्तया धर्मस्य वृद्धय ॥ अर्थ–सम्यग्दृष्टी जीव विधिपूर्वक सत्पात्रको दान देकर अतमें समाधिपूर्वक मरणकर अच्युत स्वर्गपर्यंत किसी स्वर्गमें देव होते हैं। वहा वे धर्मके प्रसादसे स्वर्गमें अपना जन्म जानकर धर्मवृद्धिकेलिये भक्तिपूर्वक श्री जिनेंद्रदेवकी पूजा करते हैं।

भोगकर और फिर इस मनुष्य लोकमें चक्रवर्ती तीर्थंकर आदि उत्तम पदोंके सुख भोगकर तथा अंतमें दीक्षा धारणकर मोक्ष प्राप्त करता है। तथा जो सम्यग्दर्शन और व्रत दोनोंसे रहित है उसे अपात्र कहते है ऐसे अपात्रको दान देना व्यर्थ है अर्थात् विपरीत फल (दु खादि) देनेवाला है अथवा निष्फल[1] है। अभिप्राय यह है कि पात्रको दान देनेसे अच्छा फल मिलता है और अपात्रको देना व्यर्थ जाता है उसका कुछ फल नहीं होता ॥ ६७ ॥

आगे—पात्रदानके पुण्योदयसे भोगभूमिमें जन्म लेनेवाले प्राणियोंकी जन्मसे सात सप्ताहमें ही क्या अवस्था हो जाती है वही दिखलानेके लिये कहते है—

अपात्रदानत किंचिन्न फल पापत पर। लभ्यते हि फल खेदो वालुकापुजपेषणे ॥ अर्थ—अपात्रको दान देनेसे पापके सिवाय और कुछ फल नहीं मिलता। कोल्हूमें पापका समूह पेलनेसे खेद ही फल मिलता है।

अपात्राय धन दत्ते यो हित्वा पात्रमुत्तम। साधु विहाय चौराय तदर्पयति स स्फुट ॥ अर्थ— जो गृहस्थ सत्पात्रको छोडकर अपात्रको धन देता है वह साधु पुरुषको छोडकर देखते देखते चोरको अर्पण करता है।

यत्र रत्नत्रय नास्ति तदपात्र विदुर्बुधा । उप्त तत्र वृथा सर्वमूषरायां क्षिताविव ॥ अर्थ—जिसमें रत्नत्रय न हो वह अपात्र है उसको दिया हुआ दान ऊपरमें बोये हुये बीजके समान निष्फल है।

सप्तोत्तानशया लिहन्ति दिवसान्स्वांगुष्ठमार्यास्तत
कौ रिंगति तत पदै कलगिरो याति स्खलद्भिस्तत ।
स्थेयोभिश्च तत कलागुणभृतस्तारुण्यभोगोद्गता
सप्ताहेन ततो भवति सुदृगादानेऽपि योग्यास्तत ॥६८॥

अर्थ—भोगभूमिमें जन्मे हुये मनुष्योंको आर्य कहते हैं वे आर्य अपने जन्म दिनसे सातदिनतक अर्थात् पहिले सप्ताहमें ऊपरकी ओर अपना मुख किये हुये पडे रहते है और अपना अगूठा चोंखते रहते है। उसके बाद सात दिनतक अर्थात् दूसरे सप्ताहमें वे पृथ्वीपर रिंगते हैं अर्थात् धीरे धीरे घुटनोंके बल चलते हैं। तदनतर सात दिनतक अर्थात् तीसरे सप्ताहमें वे आर्य मधुर भाषण करते हुये तथा इधर उधर पडते हुये अटपटी चालसे चलते है। चौथे सप्ताहमें सातदिनतक पृथ्वीपर स्थिरतासे पैर रखते हुये चलते है। उसके बाद पाचवें सप्ताहमें सातदिनतक गाना बजाना आदि कलाओंसे तथा लावण्य आदि गुणोंसे सुशोभित हो जाते हैं। तदनतर छट्ठे सप्ताहमें सात दिनमें ही नव यौवन और अपने इष्ट भोगादिके भोगनेमें समर्थ हो जाते है तथा उसके बाद सातवें सप्ताहमें वे आर्यलोग सम्यग्दर्शन ग्रहण करनेके योग्य हो जाते हैं। ग्रथकारने अपि शब्दसे आश्चर्य प्रगट किया है अर्थात् आश्चर्य है कि मनुष्य होकर भी उनचास दिनमें ही वे बढ जाते हैं और सम्यक्त्वके योग्य हो जाते हैं॥६८॥

आगे–मुनियोंको कैसा दान देना चाहिये इसीका निर्णय करनेके लिये कहते हैं—

तपःश्रुतोपयोगीनि निरवद्यानि भक्तित ।
मुनिभ्योऽन्नौषधावासपुस्तकादीनि कल्पयेत् ॥६९॥

अर्थ–तप और श्रुतज्ञानको उपकार करनेवाले तथा आहारशुद्धिमें कहे हुये [1]उच्छिष्ट उद्गम उत्पादन आदि दोषोंसे रहित ऐसे अन्न औषधि वसतिका पुस्तक और आदि शब्दसे पीछी कमंडलु आदि पदार्थ मुनियोंके लिये भक्तिपूर्वक श्रावकको देना चाहिये ॥ ६९ ॥

१–विवर्णं विरसं विद्धमसात्म्यं प्रसृतं च यत्। मुनिभ्योऽन्नं न तद्देयं यच्च भुक्तं गदावहं ॥ उच्छिष्टं नीचलोकार्हमन्यादिष्टं विगर्हितं। न देयं दुर्जनस्पृष्टं देवयक्षादिकल्पितं ॥ ग्रामांतरात्समानीतं मंत्रानीतमुपायनं। न देयमापणक्रीतं विरुद्धं वा यथर्तुकं ॥ दधिसर्पिपयोभक्ष्यप्रायं पर्युषितं मतं। गंधवर्णरसभ्रष्टमन्यत्सर्वं विनिंदितं ॥

अर्थ–जिसका वर्ण रस बिगड गया है, जो घुना हुआ है, जो प्रकृति विरुद्ध है, जो रोग उत्पन्न करनेवाला है ऐसा अन्न मुनिके लिये कभी नहीं देना चाहिये। जो उच्छिष्ट हो, नीच लोगोंके योग्य हो, किसी दूसरेके लिये तयार किया गया हो, जो निंद्य हो, जिसे किसी दुष्टने स्पर्श कर लिया हो, जिसे किसी देव या यक्षके लिये कल्पना करलिया हो, जो दूसरे गावसे लाया गया हो, जो मन्त्रसे अर्पितकर लाया गया हो, जो भेटमें आया हो, जो बाजारसे खरीदा गया हो, जो उस ऋतुके विरुद्ध हो जो घी दहीमें खाने योग्य हो. जिसका गंध वर्ण

आगे—अन्न आदि दानोंके फलोंके दृष्टांत दिखलाते हैं—

> भोगित्वाद्यतशांतिप्रभुपदमुदयं संयतेऽन्नप्रदानात्
> श्रीषेणो रुग्निषेधाद्धनपतितनया प्राप सर्वौषधर्द्धिं ।
> प्राक् तज्जन्मर्षिवासावनशुभकरणाच्छूकरः स्वर्गमग्र्यं
> कौंडेशः पुस्तकार्चावितरणविधिनाप्यागमांभोधिपारं ॥७०॥

अर्थ—राजा श्रीषेणने आदित्यगति और अरिंजय नामके चारणमुनियोंको विधिपूर्वक आहारदान दिया था उसी आहारदानके प्रभावसे वह प्रथम तो उत्तम भोगभूमिमें उत्तम आर्य हुआ और फिर कईवार स्वर्गोंके सुख भोगकर अंतमें उसने सोलहवें शांतिनाथतीर्थंकरका पद पाया। यहांपर केवल बीज मात्र दिखलाया है अर्थात् वह केवल आहारदान देनेसे ही तीर्थंकर नहीं होगया था किंतु आहारदान देनेसे उसने ऐसे पुण्य और पदकी प्राप्ति की थी कि उस पुण्यके प्रभावसे उस पदमें फिर तीर्थंकर प्रकृतिका बंध किया था। यदि वह आहारदान न देता तो उसे वह पुण्य और वह पद नहीं मिलता कि जिस पदमें जिस पुण्योदयसे वह तीर्थंकरका बंध कर सका था। इसलिये उसके तीर्थंकरपदमें भी परंपरासे आहारदान ही कारण है।

रस आदि गुण चलित होगये हों, जो जला हुआ हो तथा और भी जो निंद्य भोजन हो वह मुनिको कभी नहीं देना चाहिये।

इसीप्रकार देवकुल राजाके यहा बुहारी देनेवाली कोई कन्या थी उसने औषधदान देकर किसी मुनिका रोग दूर किया था उस औषधदानके प्रभावसे वह मरकर शेठ धनपतिकी वृषभसेना नामकी पुत्री हुई थी और वहा उसे ज्वर अतिसार आदि अनेक रोगोंको दूर करनेवाली सर्वौषधि ऋद्धि प्राप्त हुई थी। तथा एक सूकरने अपने पहिले भवमें मुनियोंके लिये वसतिका बनवानेका अभिप्राय किया था और उस भवमें मुनिकी रक्षा की थी इन दोनों कार्योंमें जो कुछ उसके शुभ परिणाम हुये थे उन शुभ परिणामोंसे वह सौधर्मस्वर्गमें बडी ऋद्धिको धारण करनेवाला उत्तम देव हुआ था। तथा गोविंद नामका एक ग्वालिया था उसने पुस्तककी पूजा कर विधिपूर्वक वह पुस्तक मुनिके लिये अर्पण की थी इसलिये उस दानके प्रभावसे वह कौंडेश नामका मुनि होकर द्वादशांग श्रुतज्ञानरूपी महासागरका पारगामी हो गया था ॥ ७० ॥

आगे—जिनधर्मकी परंपरा चलानेके लिये जो मुनि न हों तो उनकी उत्पत्ति करना और जो विद्यमान हुने हैं उनके र[illegible] [illegible]न त्रय आदि गुण बढाते रहना इन दोनों कार्योंके लिये [illegible] करनेको कहते है—

जिनधर्मं जगद्बन्धुमनुबु[illegible] ।
यतीन्[illegible]यितु यत्येत[illegible]तु गुणै [illegible]

के लिये पुत्र पौत्र आदि संतान उत्पन्न करनेका जैसा प्रयत्न करते हैं उसीप्रकार समस्त संसारका उपकार करनेवाले जिन धर्मको निरंतर चलानेके लिये नवीन नवीन मुनि बनानेका प्रयत्न करना चाहिये अर्थात् अच्छे अच्छे उदासीन सज्जन विद्वानोंको देखकर इसतरह प्रार्थना करना चाहिये कि जिससे वे जिनदीक्षा धारण करें। तथा उसी जिनधर्मको निरंतर चलानेके लिये जो मुनि विद्यमान हैं उन्हें श्रुतज्ञान आदि गुणोंसे उत्कृष्ट बनानेका प्रयत्न करना चाहिये, अर्थात् उनके पठन-पाठनकी सामग्री मिलाना चाहिये और योग्य आहार औषध शास्त्र और वसतिका इनका दान देकर उनके ज्ञान तथा तपमें सहायता पहुंचाना चाहिये ॥ ७१ ॥

आगे—कदाचित् कोई यह कहे कि "इस पंचम कालमें लोग प्राय दुष्कर्म करनेवाले होते हैं। यदि किसीको मुनि-दीक्षा भी दी जायगी तथापि उत्कृष्ट गुण नहीं आसकते। इस-लिये मुनि बनानेका प्रयत्न करना व्यर्थ है" इसप्रकार कहने-वाले गृहस्थोंके चित्तकी तरंगोंको रोकनेके लिये कहते हैं—

श्रेयो यत्नवतोऽस्त्येव कलिदोषाद्गुणद्युतौ ।
असिद्धावपि तत्सिद्धौ स्वपरानुग्रहो महान् ॥ ७२ ॥

अर्थ—इस पंचमकालके दोषसे अथवा पापकर्मोंके दो-षसे प्रयत्न करनेपर भी जो ज्ञान तप आदि गुणोंको प्रगट कर

नेवाले मुनि उत्पन्न नहीं हुये तथापि गुणवान मुनियोंके उत्पन्न होनेका प्रयत्न करनेवाले गृहस्थोंको पुण्य ही होता है। तथा प्रयत्न करनेपर पापकर्मोंके प्रतिघातसे कोई मुनि उत्पन्न होगया अर्थात् किसीने जिनदीक्षा ग्रहण कर ली तो प्रयत्न करनेवालेको, उन मुनिकी वैयावृत्य करनेवालोंको, अन्य साधर्मी लोगोंको और साधारण लोगोंको बडा भारी उपकार होता है। इसलिये जिनदीक्षा ग्रहण करने करानेका प्रयत्न सदा करते रहना चाहिये ॥ ७२ ॥

आगे—अणुव्रत और उपचाररूप महाव्रत धारण करनेवाली स्त्रियोंको भी धर्मपात्र जानकर उनका उपकार करना चाहिये ऐसा कहते हैं—

आर्यिका श्रावकाश्चापि सत्कुर्याद्गुणभूषणा ।
चतुर्विधेऽपि संघे यत्फलत्युप्तमनल्पशः ॥ ७३ ॥

अर्थ—जिनके श्रुत तप और शील आदि गुण ही आभूषण हैं ऐसी जो उपचारसे महाव्रत धारण करनेवाली आर्जिका हैं तथा जो अपनी शक्तिके अनुसार मूलगुण और उत्तरगुणोंको धारण करनेवाली श्राविका है, गृहस्थको यथायोग्य दान विनय और मान आदिसे उनका भी आदर सत्कार करना चाहिये। अपि शब्दसे यह सूचित होता है कि केवल व्रत धारण करनेवाली स्त्रियोंका ही आदर सत्कार नहीं करना चाहिये किंतु जो व्रत रहित और सम्यग्दर्शन सहित

स्त्रियों हैं उनका आदर सत्कार भी करना चाहिये। क्योंकि रत्नत्रय आदि गुणोंके समूहको धारण करनेवाले मुनि आर्जिका श्रावक श्राविका इन चार प्रकारके सघको विधिपूर्वक भोजन वसतिका आदि दिया हुआ दान अनेक प्रकारके इष्ट फलोंको देता है। 'चतुर्विधेऽपि' इसमें जो अपि शब्द है उससे यह सूचित होता है कि केवल चार प्रकारके सघको दिया हुआ दान ही इष्ट फलोंसे नहीं फलता है किंतु अरहतदेवकी प्रतिमा-अरहतदेवका चैत्यालय और अरहतदेवका कहाहुआ शास्त्र इनके लिये विधिपूर्वक दिया हुआ अपना थोडा धन भी बहुत होकर फलित होता है। अभिप्राय यह है कि जैसे चारप्रकारके सघको दिया हुआ दान बडी विभूतिके साथ फलता है उसी-प्रकार चैत्य चैत्यालय और शास्त्र इनको दिया हुआ दान भी बडी विभूतिके साथ फलता है। इसपरसे यह भी समझ लेना चाहिये कि गृहस्थको अपना धन खर्च करनेके लिये ये ऊपर लिखे हुये सात स्थान है। इन्हीं सातों स्थानोंमें गृहस्थोंको अपना धन खर्च करना चाहिये। इनमें धन खर्च करनेसे बडा भारी पुण्य होता है।

धर्मपात्रोंका उपकार करना गृहस्थके लिये एक आवश्यक कार्य है अर्थात् गृहस्थको अवश्य करना चाहिये यह बात कह चुके ॥७३॥

अब आगे—गृहस्थको कार्यपात्रोंके उपकार करनेका विधान बतलाते हैं—

धर्मार्थकामसधीचो यथौचित्यमुपाचरन् ।
सुधीस्त्रिवर्गसपत्या प्रेत्य चेह च मोदते ॥७४॥

अर्थ—जो बुद्धिमान पुरुष धर्म अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थोंके साधन करनेमें सहायता पहुचानेवाले पुरुषोंको यथायोग्य अर्थात् जो जिसके योग्य है उसको उसीतरह दान मान आदि देकर उपकार करता है वह पुरुष इस जन्म और परलोक दोनों लोकोंमें धर्म अर्थ काम इन तीनों पुरुषार्थोंकी सपदाओंसे आनदित होता है। इस श्लोकमें जो दो 'च' शब्द दिये है वे यह सूचित करते है कि धर्म अर्थ काम इन पुरुषार्थोंकी सहायता पहुचानेवालोंको दान मान आदि देनेसे जैसा इस लोकमें तीनों पुरुषार्थोंकी सपदाओंका आनद प्राप्त होता है ठीक वैसा ही आनद परलोकमें भी मिलता है । भावार्थ—दोनों लोकोंमें उसे समान आनद मिलता है—

इसप्रकार समानदत्ति और पात्रदत्ति इन दोनोंका निरूपण अच्छीतरह कर चुके ॥ ७४ ॥

अब आगे—गृहस्थको दयादत्ति अवश्य अवश्य करना चाहिये ऐसा उपदेश देते हुये कहते हैं—

सर्वेषा देहिना दुःखाद्बिभ्यतामभयप्रद ।
दयार्द्रो दातृधौरेयो निर्भी सौरूप्यमश्नुते ॥ ७५ ॥

अर्थ—जो गृहस्थ मन और शरीर सबधी सताप आदि दुःखोंसे भयभीत (डरे हुये) ऐसे समस्त प्राणि-

योंको जो [1]अभयदान देता है अर्थात् सबका भय दूर करता है वही दयालु है और वही अन्न आदि दान देनेवालोंमें मुख्य है। ऐसा पुरुष निर्भय होकर सुदरता, तथा उपलक्षणसे स्थिरता, गभीरता, पराक्रम, प्रभावशालीपना, सौभाग्य, शांतपना, नीरोगपना, अनेक तरहके भोगोपभोग, यशस्वीपना और बडी

१-तेनाधीत श्रुत सर्वं तेन तप्त पर तप। तेन कृत्स्नं कृत दान स्यादभयदानवान्॥ अर्थ-जिसने एक अभयदान ही दिया उसने समस्त द्वादशागका अध्ययन किया, उत्कृष्ट तप किया और आहार आदि समस्त दान दिये ऐसा समझना चाहिये।

धर्मार्थकाममोक्षाणा जीवित मूलमिष्यते। तद्रक्षता न किं दत्त हरता तन्न किं हृत॥ अर्थ-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंका मूल कारण एक जीवन ही है। जिसने ऐसे इस जीवनकी रक्षा की उसने क्या नहीं दिया अर्थात् सब कुछ दिया। तथा जिसने इसका हरण किया उसने सब कुछ हरण कर लिया।

दानमन्यद्भवेन्मा वा नरश्चेदभयप्रद। सर्वेषामेव दानाना मतस्तद्दानमुत्तम॥ अर्थ-जो मनुष्य अभयदान देता है वह अन्य दान दे अथवा न दे क्योंकि सब दानोंमें एक अभयदान ही उत्तम दान है। उसे देनेवाला मनुष्य स्वय उत्तम हो जाता है।

यो भूतेष्वभय दद्याद्भूतेभ्यस्तस्य नो भय। यादृग्वितीर्यते दान तादृगासाद्यते फल॥ अर्थ-जो समस्त प्राणियोंको अभयदान देता है उसको किसी भी प्राणीसे भय नहीं होता क्योंकि जो जैसा दान देता है उसे वैसा ही फल मिलता है।

आयु आदि अनेक लोकोत्तर (उत्कृष्ट) गुणोंको प्राप्त होता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चारों ही पुरुषार्थ जीवित रहनेपर सिद्ध हो सकते हैं इसलिये जीवन अर्थात् अभयदान देनेवालोंको कौन कौनसे इच्छानुसार पदार्थ प्राप्त नहीं होते है? अर्थात् सब ही होते है। भावार्थ–अभयदान देना सबसे उत्तम दान है॥७५॥

आगे—पहिले जो कर्म धर्म्यं इत्यादि २१ वें श्लोकमें कहा था उसीका कुछ विस्तार करते हैं उसमें भी अपने आश्रित लोगोंको पोषण और निराश्रित लोगोंको करुणाबुद्धिसे दान देकर दिनमें भोजन करना चाहिये और पानी आदि चीजोंका वह रात्रिमें भी त्याग नहीं कर सकता येही सब बातें दिखलाते हैं–

सौरूप्यमभयादाहुराहाराद्भोगवान् भवेत्। आरोग्यमौषधाज् ज्ञेय श्रुतात्स्यात्श्रुतकेवली॥ अर्थ—अभयदानसे सुदररुप आहारदानसे भोगोपभोग और औषधदानसे आरोग्य मिलता है तथा शास्त्रदान अर्थात् विद्यादान देनेसे श्रुतकेवली होता है।

मनोभूरिव कान्ताग सुवर्णाद्रिरिव स्थिर । सरस्वानिव गभीरो विवस्वानिव भासुर ॥ आदेय सुभग सौम्यस्त्यागी भोगी यशोनिधि । भवत्यभयदानेन चिरजीवी निरामय ॥ अर्थ—अभयदान देनेवाला मनुष्य कामदेवके समान सुदर, मेरूपर्वतके समान स्थिर, समुद्रके समान गभीर, सूर्यके समान तेजस्वी, प्रभावशाली शरीर धारण करनेवाला, सबको प्रिय, शांत, त्यागी, भोगी, यशस्वी, चिरजीवी और नीरोग होता है।

भृत्याश्रितान्वृत्यार्तान् कृपयानाश्रितानपि ।

भुंजीतान्ह्यम्बुभैषज्यताम्बूलैलादि निश्यपि ॥ ७६ ॥

अर्थ—अन्य किसी जीविकाके न होनेसे जिनका चित्त व्याकुल रहता है ऐसे आश्रित लोगोंको अर्थात् अपने सिवाय और कोई जिनका आश्रय नहीं है ऐसे सेवक पशु आदिकोंको, तथा जो अनाश्रित हैं जिनका संसारमें कोई आश्रय नहीं है ऐसे अनाथ मनुष्य और पशुओंको करुणाबुद्धिसे खिला पिलाकर फिर आप दाल भात आदि भोजन करे और वह दिनमें ही करे रातमें नहीं। पाक्षिक श्रावक रात्रिमें केवल जल, औषधि, पान, सुपारी, इलायची, और आदि शब्दसे जायफल कपूर मुखको सुगंध करनेवाले द्रव्य खा[1] सकता है ॥ ७६ ॥

आगे—स्त्री, पुष्पमाला आदि जो सेवन करनेयोग्य पदार्थ हैं वे भी जबतक प्राप्त न होसके तबतककी मर्यादा

१–ताम्बूलमौषधं तोयं मुक्त्वाहारादिकां क्रियां । प्रत्याख्यानं प्रदीयेत यावत्प्रातर्दिनं भवेत् ॥ अर्थ–तांबूल औषध और जल इन पदार्थोंको छोडकर शेष पदार्थोंकी आहारादि क्रियाका त्याग रात्रिके प्रारंभसे प्रात कालतक करना चाहिये । (नोट) आजकल जो रातमें बहुतसे लोग पेडा बरफी रवडी आदि खाते हैं यह बिल्कुल शास्त्रविरुद्ध और बुरी चाल है। गृहस्थोंको पान सुपारी आदि ऊपर लिखे पदार्थोंके सिवाय रातमें कुछ नहीं खाना चाहिये ।

लेकर उनका त्याग करना चाहिये, क्योंकि ऐसे त्यागका भी फल अवश्य मिलता है इसी बातको समर्थन करते हैं—

यावन्न सेव्या विषयास्तावत्तानाप्रवृत्तित ।
व्रतयेत्सव्रतो दैवान्मृतोऽमुत्र सुखायते ॥ ७७ ॥

अर्थ—अपने सेवन करने योग्य जो स्त्री पान आदि पदार्थ हैं उनके सेवन करनेमें जबतक अपनी प्रवृत्ति न हो अर्थात् जबतक उनके मिलनेकी सभावना न हो, गृहस्थोंको तब-तकके लिये उनका त्याग कर देना चाहिये। क्योंकि जो कदाचित् दैवयोगसे बीचमें ही मरण हो गया तो व्रत सहित होनेसे अर्थात् मरनेके समय व्रती होनेसे उसे परलोकमें सुख मिलता है ॥ ७७ ॥

आगे—तपश्चरण भी अपनी शक्तिके अनुसार करना चाहिये ऐसा जो पहिले कह चुके थे उसीकी विशेष विधि दिखलाते हैं—

पंचम्यादिविधिं कृत्वा शिवाताभ्युदयप्रद ।
उद्योतयेद् यथासपन्निमित्ते प्रोत्सहेन्मन ॥ ७८ ॥

अर्थ—गृहस्थोंको इद्र चक्रवर्ती आदि अनेक सुख और अतमें मोक्षसुख देनेवाले ऐसे पचमी पुष्पाजलि मुक्तावलि रत्नत्रय आदि विधानोंको विधिपूर्वक पालनकर अतमें अपनी सपत्ति और विभूतिके अनुसार उनका उद्यापन

करना चाहिये । यहा कदाचित् कोई ऐसी शका करे कि नित्यानुष्ठानमें यह सब है ही फिर यहा इसे विशेष क्यों कहा है तो इसके उत्तरमें ग्रथकार कहते है कि नित्य अनुष्ठानकी अपेक्षा नैमित्तिक अनुष्ठान करनेमें गृहस्थोंका चित्त अत्यत उत्साहको प्राप्त होता है अर्थात् नैमित्तिक अनुष्ठानोंमें गृहस्थोंका चित्त अधिक लगता है ॥ ७८ ॥

आगे—व्रतोंका ग्रहण करना, रक्षा करना और दैवयोगसे भग होनेपर प्रायश्चित लेकर फिर स्थापन करना इन सबकी विधि कहते हैं—

समीक्ष्यव्रतमादेयमात्त पाल्य प्रयत्नत ।
छिन्न दर्पात्प्रमादाद्वा प्रत्यवस्थाप्यमजसा ॥ ७९ ॥

अर्थ—अपना कल्याण करनेवाले पुरुषोंको अपनी शक्ति, देश, काल, अवस्था और सहायक आदिकोंका अच्छीतरह विचारकर व्रत ग्रहण करना चाहिये । तथा जो व्रत ग्रहण करलिये हैं उन्हें बडे प्रयत्नसे पालन करना चाहिये, और कदाचित् किसी मदके आवेशसे अथवा असावधानीसे व्रतका भग हो जाय अथवा भारी अतिचार लग जाय तो उसी समय प्रायश्चित्त लेकर फिरसे धारण करना चाहिये वा निर्मल करना चाहिये । भावार्थ—अपनी सबतरहकी शक्ति देखकर व्रत लेना चाहिये, लिये हुये व्रतोंकी रक्षा करनी चाहिये और कदाचित् किसीतरह व्रतका भग हो गया तो प्रायश्चित्तसे शुद्धकर पालन करना चाहिये ॥ ७९ ॥

आगे-व्रतका लक्षण कहते है—

सकल्पपूर्वक सेव्ये नियमोऽशुभकर्मण ।
निवृत्तिर्वा व्रत स्याद्वा प्रवृत्ति शुभकर्मणि ॥८०॥

अर्थ-स्वस्त्री, ताबूल, गध आदि जो सेवन करनेयोग्य भोगोपभोगके पदार्थ हैं उनमें सकल्पपूर्वक नियम करना कि मैं इतने पदार्थोंको इतने कालतक सेवन नहीं करुगा अथवा मै इतने पदार्थोंको इतने दिनोंतक ही सेवन करूगा आगे नहीं। इस प्रकार सकल्पपूर्वक त्याग करनेको व्रत कहते है। अथवा हिंसा आदि अशुभकर्मोंका सकल्पपूर्वक त्याग करना व्रत है। अथवा पात्रदान आदि शुभकर्मोंमें प्रवर्त होना भी व्रत है। भावार्थ-व्रत दो प्रकारके हैं प्रवृत्तिरूप और निवृत्तिरूप। अशुभ कर्मोंका त्याग करना निवृत्तिरूप है और शुभकार्योंका करना प्रवृत्तिरूप है। कितने ही व्रत दोनों रूपसे होते हैं ॥ ८० ॥

आगे-विशेष आगमका प्रमाण देकर जीवोंकी रक्षा करनेकी विधि कहते हैं—

न हिंस्यात्सर्वभूतानीत्यार्ष धर्मे प्रमाणयन्।
सागसोऽपि सदा रक्षेच्छक्त्या किं नु निरागस ॥ ८१ ॥

अर्थ-"कल्याण चाहनेवालोंको त्रस और स्थावर समस्त जीवोंमेंसे सकल्पपूर्वक किसीकी हिंसा भी नहीं करनी चाहिये" ऐसा महा ऋषियोंने कहा है। इसका प्रमाण मान-

कर धर्मात्मा पुरुषोंको धर्मकेलिये अपनी शक्तिके अनुसार अपराधी जीवोंकी सदा रक्षा करनी चाहिये। तथा जो निरपराधी जीव हैं उनकी विशेष रक्षा करनी चाहिये ॥ ८१ ॥

आगे—सकल्पी हिंसाके त्यागका उपदेश देते हुये प्रकारांतरसे उसे समर्थन करते हैं—

आरभेऽपि सदा हिंसा सुधी साकल्पिकीं त्यजेत्।
घ्नतोऽपि कर्षकादुच्चै पापोऽघ्नन्नपि धीवर ॥ ८२ ॥

अर्थ—जो शास्त्रानुसार हिंसाके फलको अच्छीतरह जानता है उसे सुधी कहते है ऐसे सुधी अर्थात् विद्वान पुरुषको जिनपूजा पात्रदान और कुटुबपोषण आदिके लिये खेती व्यापार आदि आजीविकाके कार्योंको करते हुये भी उन कार्योंमें सकल्पी हिंसा अर्थात् मै अमुक प्रयोजनकेलिये इस जीवको मारूगा ऐसी सकल्पपूर्वक हिंसाका त्याग सदाकेलिये अवश्य कर देना चाहिये। क्योंकि आरभी हिंसाका त्याग उससे हो नहीं सकता, इतना अवश्य है कि खेती व्यापार आदि आरभ भी उसे यत्नपूर्वक करने चाहिये। इसका अभिप्राय यह है कि सकल्पी हिंसामें बहुत पाप होता है आरभी हिंसामें उतना पाप नहीं होता। इसीको दृष्टांत द्वारा दिखलाते हैं। जो किसान विना सकल्पके देव ब्राह्मण और कुटुबपोषणके लिये खेती करनेमें बहुतसी हिंसा

करता है उसकी अपेक्षा मछली पकडनेवाला धीवर कि जिसने मछलिया पकडनेकेलिये जाल फैला रक्खा है वह यदि हिंसा न भी कर सके अर्थात् यदि उसके जालमें एक भी मछली न आवे तथापि वह [1]महा पापी है। भावार्थ—खेती आदिके करनेमें हिंसा होती ही है तथापि उसमें सकल्प नहीं करना चाहिये। क्योंकि सकल्प करनेसे ही अधिक हिंसाका भागी होता है। धीवर मछलियोंके मारनेका सकल्पकर जाल फैलाता है, इसलिये जालमें मछली न आनेपर भी उसे भारी हिंसाका पाप लगता है। तथा खेती करनेवाला विना सकल्पके अनेक जीवोंका घात करता है तो भी वह हिंसक नहीं कहलाता॥८२॥

आगे—अन्यमतावलबियोंने सिंह आदि घातक जीवोंकी हिंसा करनेका विधान तथा दुखी सुखी आदि जीवोंके घात करनेका विधान कहा है उसके निराकरण करनेकेलिये कहते हैं—

1—अघ्नन्नपि भवेत्पापी निघ्नन्नपि न पापभाक्। अभिध्यानविशेषेण यथा धीवरकर्षकौ॥ अर्थ—यह जिनमतका एक विलक्षण रहस्य है कि जीवोंका घात करता हुआ भी पापी नहीं होता और हिंसा नहीं भी करता हुआ पापी होता है यह केवल सकल्पका फल है जैसे कि किसान और धीवर। किसान खेती आदिमें हिंसा करता हुआ भी पापी नहीं है और धीवर जालमें मछली नहीं आनेपर भी सकल्प करनेसे ही महा पापी है।

हिंस्र दु खिसुखिप्राणिघात कुर्यान्न जातुचित्।
अतिप्रसगश्वभ्रार्तिसुखच्छेदसमीक्षणात् ॥ ८३ ॥

अर्थ—अपना कल्याण चाहनेवाले गृहस्थोंको हिंसक दुखी, सुखी आदि जीवोंका भी कभी घात नहीं करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करनेसे नीचे लिखे हुये अतिप्रसग आदि दोष आते हैं। क्रमसे उन्हीं दोषोंको दिखलाते हैं। कितने ही लोगोंका ऐसा मत है कि " सिंह व्याघ्र सर्प रीछ आदि जो हिंसक पशु हैं उन्हें अवश्य मार देना चाहिये क्योंकि वे सदा अपनेसे अशक्त जीवोंको मारते रहते है इसलिये उनसे दूसरे जीवोंको भी दु ख होता है और उन्हें स्वय बहुत हिंसा लगती है। जिससे वे जन्मातरमें दुर्गतिको प्राप्त होते हैं, यदि ऐसे सिंह आदि जीव मार दिये जायगे तो वे भी अधिक पाप करनेसे बचेंगे और दूसरे जीवोंको भी दु ख न होगा " परतु यह उनका कहना ठीक[1] नहीं है क्योंकि अतिप्रसग दोष आता

1-रक्षा भवति बहूनामेकस्यैवास्य जीवहरणेन। इति मत्वा कर्तव्य न हिंसन हिंस्रसत्त्वाना ॥ अर्थ-इस एकही जीवके मारनेसे बहुतसे जीवोंकी रक्षा होती है ऐसा मानकर हिंसक जीवोंका घात कभी नहीं करना चाहिये।

बहुसत्त्वघातिनोऽमी जीवत उपार्जयति गुरुपाप। इत्यनुकपा कृत्वा न हिंसनीया शरीरिणो हिंस्रा ॥ अर्थ-' बहुत जीवोंको घात करनेवाले ये जाव जीते रहेंगे तो अधिक पाप उपार्जन करेंगे ' इसप्रकारकी दया करके हिंसक जीवोंको नहीं मारना चाहिये।

है। देखो, " हिंसक जीवोंको मार देना चाहिये " ऐसा कहनेवाला भी हिंसाका उपदेश देता है इसलिये वह भी हिंसक हुआ तो फिर उसका भी घात करना चाहिये और फिर उसको मारनेवाला भी हिंसक हुआ इसलिये उसका भी घात करना चाहिये। इसतरह ऐसे मतवालोंको लाभके बदले उनके मूलका ही नाश हो जायगा। तथा अन्य बहुतसे जीवोंकी रक्षा करनेके अभिप्रायसे हिंसक जीवोंका घात करनेसे भी धर्मका संचय अथवा पापका नाश नहीं हो सकता क्योंकि धर्मका संचय अथवा पापका नाश तो दया करनेसे होता है हिंसासे नहीं। इसलिये कोई जीव चाहे जैसा हिंसक हो तथापि उसका वध कभी नहीं करना चाहिये। इसीतरह कितने ही लोगोंका ऐसा मत है कि " जो जीव दुखी हैं उनको मारकर दु खसे छुडा देना चाहिये " परंतु उनका यह कहना भी असंगत[1] है क्योंकि उनके मारनेसे इसलोकमें होनेवाले दु ख किसीतरह छूट भी गये तो भी वह इस दुर्मरणसे मरकर नरकमें पडा तो वहां उसे असंख्यात वर्षपर्यंत असह्य दु ख भोगने

1— बहुदु खा संज्ञपिता प्रयाति त्वचिरेण दु खविच्छित्तिं। इति वासनाकृपाणीमादाय न दु खिनोऽपि हंतव्या ॥ अर्थ—'अनेक दु खोंसे पीडितहुये जीवोंको मार देनेसे उनका दु ख शीघ्र ही नष्ट हो जायगा' इसप्रकार तर्कवितर्करूपी तल्वारको स्वीकारकर दु खी जीवोंको भी नहीं मारना चाहिये।

पड़ेंगे इसलिये उनका यह कहना थोड़ेसे दु खसे छुड़ाकर अधिक दु खमें डालदेनेके समान है। जिस अशुभ कर्मके उदयसे उसे दु ख हुआ है उसके मारनेसे वह कर्म नष्ट नहीं हो जाता, इसलिये उसको तो फिर भी दु ख होगा ही परतु मारनेवाला उसे मारकर व्यर्थ ही पापका भार लेता है, इसलिये कितने ही दु खोंसे दुःखी क्यों न हों उनका घात नहीं करना चाहिये। अन्य कितने ही महाशयोंका ऐसा मत है कि "जो जीव सुखी हैं उन्हें मार देना अच्छा है, क्योंकि ससारमें सुख दुर्लभ है, जो जीव सुखावस्थामें मार दिये जायगे वे सुखी ही होंगे, इसलिये सुखी जीवोंको सदा सुखी बनानेके लिये मार देना अच्छा है" परतु उनका यह कहना भी [1]भूलसे भरा हुआ है। क्योंकि सुखी जीवके मारनेसे उसके चित्तको अत्यत क्लेश होता है, मरनेमें वह दु खी होता है, इसलिये उसके सुखका नाश हुआ,

---

१-कृच्छ्रेण सुखावाप्तिर्भवति सुखिनो हता सुखिन एव। इति तर्कमडलाग्र सुखिना घाताय नादेय ॥ अर्थ-"सुखकी प्राप्ति बड़ी कठिनतासे होती है इसलिये मारे हुये सुखी जीव सुखी ही होंगे" सुखी जीवोंका घात करनेके लिये इसप्रकार कुतर्ककी तल्वार कभी हाथमें नहीं लेनी चाहिये।

उपलब्धिसुगतिसाधनसमाधिसारस्य भूयसोऽभ्यासात्। स्वगुरो शिष्येण शिरो न कर्तनीय सुधर्ममभिलषिता ॥ अर्थ-सत्यधर्मकी अभिलाषा करनेवाले शिष्यको अधिक अभ्यास करनेसे मोक्षका कारण ऐसा समाधिका सार अर्थात् ध्यान प्राप्त करनेवाले अपने गुरुका मस्तक नहीं काट डालना चाहिये।

इसके सिवाय उसकी इसप्रकार मृत्यु होनेसे उसके आर्तध्यान और रौद्रध्यान होता है जिससे मरकर वह दुर्गतिको जाता है और वहा उसे अनेक प्रकारके दु ख भोगने पडते हैं, इसलिये सुखी जीवको मारना उसके वर्तमान सुखका नाश करना और उसे दुर्गतिमें डालना है । इसलिये सुखी जीवका घात भी कभी नहीं करना चाहिये । इनके सिवाय और भी बहुतसे ऐसे मत हैं जो ऐसी ऐसी हिंसामें धर्म मानते हैं परतु उन सबका समाधान अन्य शास्त्रोंमें लिखा है इसलिये इस प्रकरणको यहा पर नहीं बढाते हैं । इस सबका अभिप्राय यह है कि हिंसा चाहे स्वगत (अपनी) हो अथवा परगत (दूसरे जीवकी हिंसा) उससे धर्मोपार्जन कभी नहीं हो सकता उसके करनेसे केवल पापका बोझा ही लादना पटता है ऐसा जानकर धर्मकी इच्छा करनेवालोंको अपनी शक्तिके अनुसार हिंसाके त्याग करनेका सदा प्रयत्न करते रहना चाहिये । यही आप्तसूक्तोपनिषत् अर्थात् अरहतदेवका कहा हुआ उत्तम युक्तियोंसे भरा हुआ सुदर वाक्य है ॥८३॥

धर्मो ही देवताभ्य प्रभवति ताभ्य प्रदेयमिह सर्वं । इति दुर्विवेककलिता धिषणा न प्राप्य देहिनो हिंस्या ॥ अर्थ—धर्म देवतासे उत्पन्न होता है इसलिये इसलोकमें उनके लिये सब कुछ दे देना योग्य है ऐसे अविवेकसे भरी हुई बुद्धिको पाकर देहधारी जीवोंको नहीं मारना चाहिये ।

आगे-पाक्षिक श्रावकको सम्यग्दर्शनको विशुद्ध रखनेके लिये तथा लोगोंका चित्त संतुष्ट करनेके लिये क्या क्या करना चाहिये सो कहते हैं-

स्थूललक्ष क्रियास्तीर्थयात्राद्या दृग्विशुद्धये ।
कुर्यात्तथेष्टभोज्याद्याः प्रीत्या लोकानुवृत्तये ॥८४॥

अर्थ-जिसके व्यवहार ही प्रधान है और जो दान देनेमें उदार है ऐसे गृहस्थको स्थूललक्ष कहते हैं। ऐसे पाक्षिक श्रावकको सम्यग्दर्शन निर्मल करनेकेलिये तीर्थयात्रा अर्थात् सम्मेदाचल गिरनार आदि जहां कि पहिले तीर्थंकर आदि पुण्यपुरुषोंने निवास किया था उनकी यात्रा करना, रथयात्रा करना, मुनियोंकी यात्रा कराना (यात्राके लिये संघ निकालना) और यदि शहरके पास कोई नशिया (शहरके पास बाहर जो मंदिर होता है उसे नशिया कहते हैं) हो तो वहांकी

को नाम विशति मोहं नयभंगविशारदानुपास्य गुरून् ।
विदित जिनमतरहस्यः श्रयन्नहिंसां विशुद्धमतिः ॥

अर्थ-नयभंगोंके जाननेमें प्रवीण ऐसे गुरुओंकी उपासना कर जिन-मतके रहस्योंको जाननेवाला और निर्मलबुद्धिको धारण करनेवाला ऐसा कौन है जो अहिंसाधर्मको जानकर स्वीकार करता हुआ भी पूर्वोक्त मतोंमें मूढ़ताको प्राप्त हो ? अर्थात् कोई बुद्धिमान् ऐसे हिंसक मतोंमें प्रवर्त नहीं होता।

यात्रा निकालना इत्यादि क्रियायें करनी चाहिये। तथा लोगोंके चित्त सतुष्ट करनेकेलिये प्रीतिपूर्वक समानधर्मी श्रावकोंको, इष्ट मित्रोंको और कुटुंबी लोगोंको अपने घर भोजन कराना चाहिये। आये हुये अतिथियोंका सत्कार और [1]भूतबलि आदि क्रियायें भी करना चाहिये ॥ ८४ ॥

आगे—अपना कल्याण चाहनेवालोंको कीर्ति भी संपादन करना चाहिये ऐसा कहते हैं—

> अकीर्त्या तप्यते चेतश्चेतस्तापोऽशुभास्रवः ।
> यत्तत्प्रसादाय सदा श्रेयसे कीर्तिमर्जयेत् ॥८५॥

अर्थ—अपयशसे अथवा यशके न होनेसे चित्तको संताप होता है तथा चित्तको संताप होना अर्थात् मनकी कलुषता होना पापका कारण है। इसलिये गृहस्थको पुण्योपार्जन करनेकेलिये चित्त प्रसन्न रखना चाहिये और चित्त प्रसन्न करनेकेलिये कीर्ति संपादन करना चाहिये। अथवा पुण्य बढानेकेलिये और अपना चित्त प्रसन्न करनेके लिये अपना यश फैलाना चाहिये ॥८५॥

आगे—कीर्ति संपादन करनेका उपाय बतलाते हैं—

> परासाधारणान्गुण्यप्रगण्यानघमर्षणान् ।
> गुणान् विस्तारयेन्नित्यं कीर्तिविस्तारणोद्यतः ॥८६॥

१—यक्षोंके लिये जो भेट दीजाती है उसे भूतबलि कहते हैं। यह क्रिया भी गृहस्थोंके लिये ग्राह्य है।

अर्थ–जिस पुरुषको चारों ओर अपनी कीर्ति फैलानेकी इच्छा है अर्थात् जो अपना यश फैलाना चाहता है उसे यश फैलानेके लिये जो अन्य साधारण मनुष्योंमें नहीं हो सकें, जिन्हें गुणवान लोग भी उत्कृष्टतासे मानें और जो पापोंको नाश करनेवाले हैं ऐसे सत्य, दान, शौच और शील आदि गुणोंको धारण कर नित्य बढाते रहना चाहिये ॥ ८६ ॥

आगे–इसप्रकार आचरण धारण करनेवाले पाक्षिक श्रावकको अनुक्रमसे एक एक सीढी चढकर अतमें मुनिव्रत स्वीकार करना चाहिये ऐसा कहते हैं–

सैष प्राथमकल्पिको जिनवचोऽभ्यासामृतेनासकृ-
न्निर्वेदद्रुममावपन् शमरसोद्गारोद्धुर बिभ्रति ।
पाकं कालिकमुत्तरोत्तरमहान्येतस्य चर्याफला-
न्यासाद्योद्यतशक्तिरुद्धचरितप्रासादमारोहतु ॥ ८७ ॥

अर्थ–जिसने एकदेश संयम पालन करना प्रारंभ किया है ऐसा यह पाक्षिक श्रावक जिनेंद्रदेवके कहे हुये शास्त्रोंके अभ्यास करनेरूप अमृतसे वैराग्यरूप वृक्षको अर्थात् संसार शरीर और भोगोपभोगसे विरक्त होनेरूप वृक्षको (वैराग्यभावनाको) बार बार सिंचन करता हुआ तथा रसनाइंद्रियके द्वारा ग्रहण करने योग्य ऐसे प्रशम सुखरूपी (शांतताके सुखरूपी) रसके प्रगट होनेसे जो उत्कृष्ट माने जाते हैं और जो काललब्धिके

अनुसार प्राप्त हुये हैं ऐसे आत्माके परिणामोंको धारण करनेवाले तथा उत्तरोत्तर बढते हुये ऐसे वैराग्यरूपी वृक्षके दर्शनिक व्रत आदि ग्यारह प्रतिमारूप फलोंका स्वाद लेता हुआ अर्थात् अनुभव करता हुआ और उन प्रतिमारूप फलोंके स्वाद लेनेसे ही जिसकी सामर्थ्य प्रगट होगई है ऐसा यह पाक्षिक श्रावक सल्लेखनाके अंतमें होनेवाला जो मुनियोंका धर्मरूप राजभवन है उसपर चढो। भावार्थ— इस पाक्षिक श्रावकको स्वाध्याय आदिके द्वारा भोगादिकोंसे उदास होकर अनुक्रमसे ग्यारह प्रतिमाओंको धारण करते हुये सल्लेखना अर्थात् ग्यारहवीं प्रतिमाके अंतमें मुनिव्रत धारण करना चाहिये।

इसप्रकार पंडितप्रवर आशाधरविरचित स्वोपज्ञ सागारधर्मको प्रकाश करनेवाली भव्यकुमुदचंद्रिका टीकाके अनुसार हिंदीभाषानुवादमें दूसरा अध्याय (प्रारंभसे ग्यारहवा) समाप्त हुआ।

तीसरा अध्याय

आगे—प्रथम ही नैष्ठिकका लक्षण कहते हैं—

देशयमघ्नकषायक्षयोपशमतारतम्यवशतः स्यात्।
दर्शनिकाद्येकादशदशावशो नैष्ठिकः सुलेश्यतरः॥१॥

अर्थ—देशसंयमको घात करनेवाले अप्रत्याख्याना-वरण संबंधी क्रोध, मान, माया, लोभरूप कषायका ज्यों ज्यों [1]क्षयोपशम होता जाता है अर्थात् जिसमें मद्यत्याग आदि मूलगुण अतिचार रहित निर्मल पालन किये जाते हैं और शुद्ध सम्यग्दर्शन है ऐसी दर्शनप्रतिमासे लेकर आगे अप्रत्याख्याना-वरण कषायोंका जैसाजैसा अधिक क्षयोपशम होता जाता है उसी-के अनुसार दर्शनिक व्रत आदि जो संयमके ग्यारह स्थान प्रगट होते हैं जिन्हें ग्यारह प्रतिमा कहते हैं। उन ग्यारह प्रतिमाओंके जो वशीभूत है, आधीन है अर्थात् उन ग्यारह प्रतिमाओंका जो पालन करते हैं। भावार्थ—जो

१—अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ इन सर्वघाती आठों प्रकृतियोंके उदयाभावी क्षय होनेसे तथा इन्हीं आठों प्रकृतियोंकी सत्तावस्थाका उपशम होनेसे और प्रत्याख्यानावरण संज्वलन नोकषाय इन देशघाती प्रकृतियोंका यथासंभव उदय होनेसे देशसंयम प्रगट होता है।

घटमान देशसंयम श्रावक है, तथा जिनके द्वारा यह जीव पुण्य और पापोंको स्वयं स्वीकार करे अथवा जो आत्माको कृश कर दें अर्थात् जिनके द्वारा आत्माके गुण ढक जाय ऐसी जो कषायके उदयसे मिली हुई योगोंकी प्रवृत्ति है उसे भाव लेश्या कहते हैं। शरीरके वर्णको द्रव्य लेश्या कहते हैं ये दोनों ही प्रकारकी लेश्यायें कृष्ण नील कापोत पीत पद्म और शुक्लके भेदसे छह प्रकारकी होती हैं। इन छह प्रकारकी [1]लेश्याओंमेंसे जिसके प्रशस्त लेश्या है और वे भी आगे आगे अधिक अधिक प्रशस्त होती गई हैं अर्थात् पाक्षिक की अपेक्षा दर्शन प्रतिमावालेके उत्कृष्ट लेश्यायें

१–लिम्पत्यात्मीकरोत्यात्मा पुण्यपापे यया स्वयं। सा लेश्येत्युच्यते सद्भिर्द्विविधा द्रव्यभावतः ॥ अर्थ–जिसके निमित्तसे आत्मा स्वयं पुण्य पापको स्वीकार करता है उसे लेश्या कहते हैं वह दो प्रकारकी है एक द्रव्य लेश्या और दूसरी भाव लेश्या।

प्रवृत्तिर्योगिकी लेश्या कषायोदयरंजिता। भावतो द्रव्यतो देहच्छविः षोढोभयी मता ॥ अर्थ–कषायोंके उदयसे मिली हुई योगोंकी प्रवृत्तिको भाव लेश्या कहते हैं और शरीरके काले पीले आदि वर्णको द्रव्य लेश्या कहते हैं। इन दोनोंके ही छह छह भेद हैं–

कृष्णा नीलाथ कापोती पीता पद्मा सिता स्मृता। लेश्या षड्भिः सदा ताभिर्गृह्यते कर्म जन्मिभिः ॥ अर्थ– कृष्णा नीला कापोती पीता पद्मा शुक्ला– ये छह लेश्या हैं। संसारमें समस्त जीव इन छहों लेश्याओंके द्वारा कर्म ग्रहण करते हैं।

हैं तथा दर्शन प्रतिमावालेसे दूसरी व्रत प्रतिमावालेके उत्कृष्ट हैं, दूसरीसे तीसरी प्रतिमामें उत्कृष्ट अर्थात् अधिक शुभ हैं, इसीप्रकार अनुक्रमसे जिसकी लेश्यायें विशुद्ध होती गई हैं ऐसे

योगाविरतिमिथ्यात्वकषायजनितोऽगिना । सस्कारो भावलेश्या स्ति कल्मापास्रवकारण ॥ अर्थ– प्राणियोंके योग अविरति मिथ्यात्व और कषायसे जो सस्कार उत्पन्न हुआ है वही भाव लेश्या है और वह अशुभकर्मके आस्रवका कारण है।

कापोती कथिता तीव्रो नीला तीव्रतरो जिनै । कृष्णा तीव्रतमो लेश्या परिणाम शरीरिणा ॥ पीता निवेदिता मद पद्मा मदतरो बुधै । शुक्ला मदतमस्तासा वृद्धि षट्स्थानयायिनी ॥ अर्थ–देहधारी जीवोंके जो तीव्र परिणाम हैं उन्हें कापोती लेश्या उनसे भी अधिक तीव्र परिणामोंको नीला लेश्या तथा उनसे अधिक तीव्र परिणामोंको कृष्ण लेश्या कहते हैं। तथा इसतरह मद परिणामोंको पीता, उनसे भी अधिक मद परिणामोंको पद्मा और सबसे मद परिणामोंको शुक्ला लेश्या कहते हैं इसप्रकार लेश्याओंकी वृद्धि छह स्थानोंमें होती है।

रागद्वेषग्रहाविष्टो दुर्ग्रहो दुष्टमानस । क्रोधमानादिभिस्तीव्रैर्ग्रस्तोऽनन्तानुबधिभि ॥ निर्दयो निरनुक्रोशो मद्यमासादिलपट । सर्वदा कदनासक्त कृष्णलेश्यान्वितो जन ॥ अर्थ–कृष्णलेश्यावाला पुरुष रागद्वेषरूपी ग्रहसे घिरा रहता है, दुराग्रही, दुष्ट विचारोंको करनेवाला अनतानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ इन कषायोंसहित, निर्दय, कठोर, मद्य, मास आदिके सेवन करनेमें लपट और पाप करनेमें आसक्त होता है।

श्रावकको नैष्ठिक कहते हैं। भावार्थ--अप्रत्याख्यानावरण कषायके क्षयोपशमके अनुसार जो ग्यारह प्रतिमाओंमेंसे किसी

क्रोधी मानी मायी लोभी, रागी द्वेषी मोही शोकी। हिंस्र क्रूरश्चण्डश्चौरो मूर्ख स्तब्ध स्पर्धाकारी ॥ निद्रालु कामुको मद कृत्या कृत्याविचारक। महामूर्च्छो महारम्भो नीललेश्यो निगद्यते ॥ अर्थ-जो जीव क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी, रागी, द्वेषी, मोही, शोकी, हिंसक, क्रूर, भयंकर, चोर, मूर्ख, सुस्त, ईर्षा करनेवाला, बहुत सोने वाला, कामी, जड, कृत्य अकृत्यका विचार न करनेवाला, अधिक परिग्रह रखनेवाला और अधिक आरम्भ करनेवाला है उसके नील लेश्या समझना चाहिये।

शोकभीमत्सरासूयापरनिंदापरायण। प्रशंसति सदात्मानं स्तय मानं प्रहृष्यति ॥ वृद्धिहानी न जानाति न मूढ स्वपरांतर। अहंकारग्रहग्रस्त समस्ता कुरुते क्रिया ॥ श्लाघितो नितरा दत्ते रणे मर्तुमपाहते। परकीययशोध्वंसी युक्त कापोतलेश्यया ॥ अर्थ-शोक, भय, मत्सरता, असूया, परनिंदा आदि करनेमे तत्पर, सदा अपनी प्रशसा करनेवाला, दूसरेके मुखसे अपनी प्रशसा सुनकर हर्ष माननेवाला, हानि लाभको न जाननेवाला, अपने और दूसरेके अतरको न देखने वाला, अहकाररूपी ग्रहसे घिरा हुआ, इच्छानुसार सब क्रियाओंको करनेवाला, प्रशसा करनेपर सदा देनेवाला, युद्धमे मरनेतककी इच्छा करनेवाला और दूसरेके यशको नाश करनेवाला जो मनुष्य है उसके कापोती लेश्या समझना चाहिये।

समदृष्टिरविद्वेषो हिताहितविवेचक। वदान्य सदयो दक्ष पीतलेश्यो महामना ॥ अर्थ-सबको समान देखनेवाला (पक्षपातरहित),

प्रतिमाका पलन करते हैं और जिनके उत्तरोत्तर विशुद्ध लेश्यायें हैं ऐसे श्रावकोंको नैष्ठिक श्रावक कहते हैं ॥ १ ॥

द्वेषरहित, हित और अहितका विचार करनेवाला, दातार, दयालु, सत्कार्योंमें निपुण और उदारचित्तवाला पुरुष पीतलेश्यावाला समझना चाहिये।

शुचिर्दानरतो भद्रो विनीतात्मा प्रियंवद । साधुपूजोद्यत साधु पद्मलेश्यो नयप्रिय ॥ अर्थ–आचार और मनसे शुद्ध, दान देनेमें सदा तत्पर, शुभ चिंतवन करनेवाला, विनयवान्, प्रिय वचन कहनेवाला, सज्जन पुरुषोंके सत्कार करनेमें सदा उद्यत, न्यायमार्गसे चलने वाला ऐसा जो सज्जन पुरुष है उसके पद्म लेश्या समझनी चाहिये।

निर्निदानोऽनहंकार पक्षपातोज्झितोऽशठ । रागद्वेषपराचीन शुक्ललेश्य स्थिराशय ॥ अर्थ–निदानरहित अर्थात् मुझे धन मिले, पुत्रकी प्राप्ति हो, यह मिले, वह मिले इत्यादि विकल्पोंसे रहित, अहंकार रहित, पक्षपात रहित, सज्जन, रागद्वेषसे पराङ्मुख और स्थिर बुद्धिवाला जो महात्मा है उसके शुक्ल लेश्या जानना चाहिये।

तेज पद्मा तथा शुक्ला लेश्यास्तिस्र प्रशस्तिका । संवेगमुत्तम प्राप्त क्रमेण प्रतिपद्यते ॥ अर्थ–पीत पद्म और शुक्ल ये तीनों शुभ लेश्यायें हैं। जो पुरुष उत्तम संवेग अर्थात् धर्ममें प्रीतिको प्राप्त होता है उसको ये क्रमसे प्राप्त होती हैं।

षट् षट् चतुर्षु विज्ञेयास्तिस्रस्तिस्र शुभास्त्रिषु । शुक्ला गुणेषु षट्स्वेका लेश्या निर्लेश्यमन्तिम ॥ अर्थ–प्रथमके चार गुणस्थानोंमें मले कमें छह छह लेश्या हैं आगेके तीन गुणस्थानोंमें अर्थात् पांचवें छठे और सातवें गुणस्थानोंमें पीत पद्म शुक्ल ये तीनों शुभ लेश्या हैं। सातसे

आगे—दर्शनिक आदि प्रतिमाओंके नाम कहकर उनके गृहस्थ ब्रह्मचारी और भिक्षुक तथा जघन्य मध्यम उत्तम ऐसे भेद दिखलाते हुये कहते हैं—

दर्शनिकोऽथ व्रतिकः सामायिकी प्रोषधोपवासी च ।
सचित्तदिवामैथुनविरतौ गृहिणोऽणुयमिषु हीनाः षट् ॥२॥
अब्रह्मारम्भपरिग्रहविरता वर्णिनस्त्रयो मध्याः ।
अनुमतिविरतोद्दिष्टविरतावुभौ भिक्षुकौ प्रकृष्टौ च ॥३॥

अर्थ—यहांपर अथ शब्दका अर्थ अनन्तर है और उसका प्रत्येक प्रतिमाके साथ अन्वय है । इससे यह सूचित होता है कि प्रतिमायें एकके बाद दूसरी और दूसरीके बाद तीसरी इसप्रकार अनुक्रमसे होती है । दर्शनिक, व्रतिक, सामयिकी, प्रोषधोपवासी, सचित्तविरत और दिवामैथुनविरत ये छह अर्थात् प्रथमकी छह प्रतिमाओंको धारण करनेवाले श्रावक देशसंयमियोंमें जघन्य हैं और [1]गृहस्थ (गृहस्थाश्रम पालन करनेवाले) कहलाते हैं । तथा अब्रह्मविरत (ब्रह्मचारी) आरंभ

आगे छह गुणस्थानोंमें अर्थात् आठवेंसे तेरहवे गुणस्थानतक केवल एक शुक्ल लेश्या है और अतके चौदहवें गुणस्थानमें लेश्याका सर्वथा अभाव है ।

१—षडत्र गृहिणो ज्ञेयास्त्रय स्युर्ब्रह्मचारिण । भिक्षुकौ द्वौ तु निर्दिष्टौ तत स्यात्सर्वतो यति ॥ अर्थ—इन ग्यारह प्रतिमाओंमेंसे पहिली छह प्रतिमाओंको धारण करनेवाला गृहस्थ होता है । उसके बादकी

त्यागी और परिग्रहत्यागी इनकी ब्रह्मचारी संज्ञा है और ये मध्यम श्रावक कहलाते हैं। तथा अनुमतविरत और उद्दिष्टविरत इनकी भिक्षुक संज्ञा है और ये उत्कृष्ट कहलाते हैं। अल्प भिक्षुको भिक्षुक कहते हैं ये दोनों मुनिकी अपेक्षासे हीन अवस्थाके हैं इसलिये भिक्षुक कहलाते हैं। (मुनि भिक्षु कहलाते हैं।) ॥ २-३ ॥

आगे—नैष्ठिक भी कैसा होनेसे पाक्षिक कहलाता है सो कहते हैं—

दुर्लेश्याभिभवाज्जातु विषये क्वचिदुत्सुकः ।
स्खलन्नपि क्वापि गुणे पाक्षिकः स्यान्न नैष्ठिकः ॥४॥

अर्थ—यदि नैष्ठिक श्रावक कृष्ण, नील, कापोत इन तीनों अशुभ लेश्याओंमेंसे किसी लेश्याके वश होकर अर्थात् किसी निमित्तके मिलनेसे चेतनशक्तिका अशुभलेश्यारूप संस्कार

तीन प्रतिमाओंको धारण करनेवाला ब्रह्मचारी और अंतकी दो प्रतिमाओंको धारण करनेवाला भिक्षुक होता है। तथा इसके बाद परिग्रहोंका त्यागी मुनि होता है।

आद्यास्तु षड्जघन्या स्युर्मध्यमास्तदनु त्रयः। शेषौ द्वावुत्तमावुक्तौ जैनेषु जिनशासने॥ अर्थ-जैनियोंमें पहिली छह प्रतिमाधारी श्रावकोंकी जघन्य संज्ञा है उसके आगेकी तीन प्रतिमाओंको धारण करनेवालोंकी मध्यम और शेषकी दो प्रतिमाओंको धारण करने वालोंकी उत्तम संज्ञा है। ऐसा जिनशासनमें कहा है।

प्रगट होनेसे अथवा किसी निमित्तके मिलनेपर उन अशुभ लेश्याओंका आश्रय लेकर स्त्रीसेवन आदि पाचों इद्रियोंके विषयोंमेंसे किसी विषयमें किसी एक समय भी अभिलाषा करे अथवा पूर्वकालमें अभ्यास न होनेसे वा सयम अति कठिन होनेसे मद्यविरति आदि किसी गुणमें भी वह अतिचार भी लगावे तो वह गृहस्थ पाक्षिक ही कहलाता है, नैष्ठिक नहीं। अभिप्राय-यह है कि चाहे वह सब गुणोंमें अतिचार न लगावे किसी एक गुणमें ही अतिचार लगावे अथवा सब इद्रियोंके विषयोंकी अभिलाषा न करे किंतु किसी एक इद्रियके विषयकी अभिलाषा करे और वह भी हमेशा नहीं कभी किसी समय, तथापि वह नैष्ठिक नहीं कहला सकता वह पाक्षिक ही गिना जायगा ॥४॥

आगे—दर्शन आदि ग्यारह प्रतिमाओंमेंसे किसी एक प्रतिमातक पालन करता हुआ श्रावक उस प्रतिमामें होनेवाले किसी गुणमें यदि अतिचार लगावे तो द्रव्यकी अपेक्षा उसे उसी प्रतिमाका पालन करनेवाला कहेंगे, परतु भावकी अपेक्षा उसके उससे पहिलेकी प्रतिमा समझना चाहिये यही बात कहते हैं—

तद्वद्दर्शनिकादिश्च स्थैर्यं स्वे स्वे व्रतेऽव्रजन्।
लभते पूर्वमेवार्थाव्यपदेशं न तूत्तरं ॥५॥

अर्थ—जिसप्रकार नैष्ठिक श्रावक मद्यविरति आदि गुणोंमें अतिचार लगाता हुआ पाक्षिक कहलाता है उसीप्रकार

दर्शनिक व्रतिक आदि प्रतिमाधारी श्रावक भी यदि अतिचार रहित आठ मूलगुण आदि अपने अपने गुणोंमें स्थिर न रहें, किसी जगह किसी समय किसीतरह चलायमान हो जाय तो परमार्थसे वे उस प्रतिमासे पहिली प्रतिमामें गिने जायगे, उस प्रतिमामें नहीं। व्यवहारसे उस प्रतिमामें गिने जा सकते है। भावार्थ—जिसने पाचवीं या सातवीं प्रतिमा धारण की है। यदि वह उस पाचवीं या सातवीं प्रतिमामें अतिचार लगावे तो उसके चौथी या छट्टी प्रतिमा ही गिनी जायगी। यदि वह चोथी या छट्टी प्रतिमामें भी अतिचार लगावे तो उसके तीसरी या पाचवी ही गिनी जायगी। इसीप्रकार प्रत्येक प्रतिमाधारी श्रावक यदि उस प्रतिमामें अतिचार लगावे तो उसे उससे पहिली प्रतिमामें गिनना चाहिये। व्यवहारसे वही प्रतिमा गिनी जा सकती है ॥ ८ ॥

आगे—इसी बातको फिर समर्थन करते हैं-

> प्रारब्धो घटमानो निष्पन्नः श्चार्हतस्य देशयम ।
> योग इव भवति यस्य त्रिधा स योगीव देशयमी ॥९॥

अर्थ—प्रारब्धयोग, घटमानयोग और निष्पन्नयोग ऐसे के तीन भेद हैं। इनको धारण करनेवाला योगी नैगम नयोंकी अपेक्षासे जैसे प्रारब्धयोगी (जिसने योग साधन का प्रारम किया है वह नैगम नयकी अपेक्षा योगी है),

घटमान योगी (जिसे योगका अच्छा अभ्यास है) और निष्पन्न योगी (जिसका योग पूर्णताको प्राप्त हो गया है) ऐसे तीन प्रकारका कहलाता है उसीप्रकार अरहंतको ही शरण माननेवाले जिसकिसी सज्जनका देशसयम, प्रारब्ध, घटमान और निष्पन्न ऐसे तीन प्रकार है उनको धारण करनेवाला वह देश सयमी, प्रारब्धदेशसयमी (जिसने देशसयम प्रारभ वा स्वीकार किया है और जो नैगम नयसे देशसयमी गिना जाता है), घटमान देशसयमी (जिसे देशसयमका अच्छा अभ्यास है) और निष्पन्नदेशसयमी (जिसका देशसयम पूर्णताको प्राप्त हो चुका है) ऐसे तीन प्रकारका कहलाता है भावार्थ—देशसयमके प्रारब्ध घटमान और निष्पन्न ऐसे तीन भेद हैं और उनके धारण करनेवाले भी क्रमसे प्रारब्ध, घटमान और निष्पन्न कहलाते हैं। जो देशसयमको पालन करना प्रारम करता है उसको प्रारब्ध कहते है, जिसे पालन करनेका अच्छा अभ्यास हो जाता है उसे घटमान कहते है और जिसका देशसयम पूर्ण हो जाता है उसे निष्पन्न कहते हैं ॥७॥

इसप्रकार प्रतिमाओंकी विशुद्धता कह चुके ।

अब आगे—दर्शनिकका स्वरूप कहनेके लिये दो श्लोक कहते है–

पाक्षिकाचारसस्कारदृढीकृतविशुद्धदृक् ।
भवागभोगनिर्विण्ण परमेष्ठिपदैकधी ॥७॥

निर्मूलयन्मलान्मूलगुणेष्वग्रगुणोत्सुकः ।
न्याय्या वृत्तिं तनुस्थित्यै तन्वन् दर्शनिको मतः ॥८॥

अर्थ—पाक्षिक श्रावकके आचार जो पहिले दूसरे अध्यायमें निरूपण कर चुके हैं उनको उत्कृष्ट रीतिसे धारणकर जिसने अपना निर्मल सम्यग्दर्शन निश्चल किया है, जो संसार, शरीर और भोगोपभोगादि इष्ट विषयोंसे विरक्त है, अथवा संसारके कारण ऐसे भोगोंसे अर्थात् गृद्धतापूर्वक स्त्री आदि विषयोंके सेवन करनेसे विरक्त है, भावार्थ—जो प्रत्याख्यानावरण नामा चारित्रमोहनीयकर्मके उदयसे स्त्री आदि विषयोंका सेवन करता हुआ भी उसमें अतिशय लीन नहीं होता, अरहंत सिद्ध आदि पंचपरमेष्ठियोंके चरणकमलोंमें ही जिसका अंतःकरण है, अर्थात् जो भारी विपत्ति पडनेपर भी उसके दूर करनेके लिये शासन देवता आदिका आराधन नहीं करता, जिसने आठ मूलगुणोंके अतिचार जडमूलसे नाश कर दिये हैं, अर्थात् जो [1]मूलगुणोंको निरतिचार पालन करता है, जो व्रत आदि

१—आदावेते स्फुटमिह गुणा निर्मला धारणीयाः पापध्वंसि व्रतमपमलं कुर्वता श्रावकीयं । कर्तुं शक्यं स्थिरगुरुभरं मंदिरं गर्तपूरं न स्थेयोभिर्दृढतममृते निर्मितं भावनाले ॥ अर्थ—जो पुरुष पापके नाश करनेवाले श्रावकके व्रत निर्दोष पालना चाहता है उसको प्रथम ही मद्यविरति आदिके मूलगुण निर्दोष अर्थात् निरतिचार पालन करने चाहिये। क्योंकि जो घर बडे मजबूत पत्थरोंसे बनायागया

आगेकी प्रतिमाओंके धारण करनेमें उत्कंठित है और जो केवल शरीरकी [1]रक्षा करनेके लिये अपने वर्ण, कुल और व्रतोंके अनुसार खेती व्यापार आदि आजीविका करता है उसे एवंभूत नयकी अपेक्षासे दर्शनिक श्रावक कहते हैं। यहां इतना और समझलेना चाहिये कि दर्शन प्रतिमाको धारण करनेवाला विषय सेवन करनेकेलिये आजीविका नहीं करता केवल शरीर-रक्षा और कुटुंब पालन करनेकेलिये करता है। तथा यह जो लिखा कि "वह भारी विपत्ति पडनेपर भी उसके दूर करनेके लिये शासन देवताओंका आराधन कभी नहीं करता इसका यह अभिप्राय है कि दर्शन प्रतिमावाला विपत्ति दूर करनेके लिये शासनदेवताओंका आराधन नहीं करता, किंतु पाक्षिक श्रावक विपत्ति आदि पड़नेपर उसके दूर करनेके लिये शासनदेवताओंका आराधन कर सकता है। इसी अभिप्रायको सूचित करनेके लिये "परमेष्ठिपदैकधी" इस पदमें एक शब्द दिया है। अर्थात् दर्शनप्रतिमा धारी

है यदि उसकी नींव पक्की न हो तो वह ठहर नहीं सकता। इसीतरह मूलगुणके अभावमें उत्तरगुण नहीं हो सक्ते।

१–कृषिं वणिज्यां गोरक्ष्यमुपायैर्गुणिनं नृपं। लोकद्वयाविरुद्धा च धनार्थी संश्रयेत् क्रियां॥ अर्थ–जिसको धनकी इच्छा है वह किसी उपायसे गुणी राजाका आश्रय लेकर दोनों लोकोंसे अविरुद्ध ऐसी कृषि, व्यापार गोरक्षण आदि क्रियाओंको करै।

श्रावककी बुद्धि एक रूपसे परमेष्ठीके चरणकमलोंमें है परंतु पाक्षिककी बुद्धि एकरूपसे परमेष्ठीके चरणोंमें नहीं है वह शासनदेवता आदिके आराधन करनेमें भी लगती हैं। इसी तरह "एवमूतनयकी अपेक्षासे दर्शनिक श्रावक कहते हैं" यह जो लिखा है उसका यह अभिप्राय है कि ऊपर लिखे हुये गुण जिसमें हैं वह एवमूत नयसे दर्शनिक श्रावक है और जो पाक्षिकके आचरण पालन करता है अर्थात् जो पाक्षिक है वह नैगम नयकी अपेक्षासे दर्शनिकश्रावक है। इसप्रकार कहनेसे श्री समंतभद्रस्वामीने जो लिखा है "श्रावक पदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु। स्वगुण पूर्वगुणै सह संतिष्ठते क्रमविवृद्धा" अर्थात् "भगवानने श्रावकोंके ग्यारह स्थान (प्रतिमा) कहे हैं उनमें अपने अपने स्थानके गुण पहिली प्रतिमाके गुणोंके साथ साथ क्रमसे बढ़ते हुये रहते हैं"। इसमें भी कोई विरोध नहीं आता। भावार्थ—जब श्रावकके ग्यारह ही स्थान हैं तब ग्यारह प्रतिमाधारियोंकी ही श्रावक संज्ञा होगी पाक्षिककी श्रावक संज्ञा नहीं होगी, परंतु द्रव्यनिक्षेपसे पाक्षिककी भी दर्शनिकसंज्ञा माननेसे कोई विरोध नहीं आता। इसलिये दर्शनप्रतिमाका जो ऊपर लक्षण लिखा गया है वह एवमूत नयकी अपेक्षासे है नैगमनय अथवा द्रव्यनिक्षेपसे पाक्षिकको भी दर्शनिक कहते हैं ॥ ८ ॥

आगे—मद्यत्याग आदि व्रतोंको प्रगट करनेके लिये

मद्यमास आदिका व्यापार भी नहीं करना चाहिये ऐसा दिखलाते हैं–

सद्यादिविक्रयादीनि नार्यं कुर्यान्न कारयेत् ।
न चानुमन्येत मनोवाक्कायैस्तद्व्रतद्युते ॥ ९ ॥

अर्थ––मद्यविरति आठ मूलगुणोंको निर्मल करनेके लिये दर्शनिक श्रावकको मद्य मास मधु मक्खन आदि पदार्थ नहीं बेचना चाहिये अर्थात् इनका व्यापार नहीं करना चाहिये। आदि शब्दसे अचार मुरब्बा आदिके बनानेका उपदेश भी नहीं देना चाहिये न इनकी विधि आदि बतलाना चाहिये । तथा इनका व्यापार आदि दूसरेसे भी नहीं कराना चाहिये और न मन वचन कायसे दूसरेके व्यापार आदि करनेमें सम्मति देना चाहिये अथवा अनुमोदना भी नहीं करनी चाहिये ॥९॥

आगे––जिनके सबधसे मद्यत्याग आदि व्रतोंमें हानि पहुचती है उनका उपदेश देते हैं–

भज मद्यादिभाज स्त्रीस्तादृशै सह ससृजन् ।
भुक्त्यादौ चैति साकीर्ति मद्यादिविरतिक्षतिं ॥ १० ॥

अर्थ––जो व्रती पुरुष मद्यमास आदि भक्षण करनेवाली स्त्रियोंको सेवन करता है, अथवा मद्यमास आदि खानेवाले लोगोंके साथ भोजन[1] बर्तन आसन आदिका सबध रखता है,

१–मद्यादिस्वादिगेहेषु पानमन्न च नाचरेत् । तदामत्रादिसपर्कं न कुर्वीत कदाचन ॥ अर्थ–मद्यमास आदि सेवन करनेवालेके घर

संसारमें उसकी निंदा भी होती है और उसके अष्टमूलगुण भी नष्ट हो जाते हैं ॥ १० ॥

इसप्रकार सामान्य रीतिसे मूलव्रतोंके अतिचार दूर करनेके लिये निरूपण कर चुके।

अब आगे—मद्यत्याग आदि व्रतोंके अतिचार दूर करनेके लिये कहते हैं—

संधानकं त्यजेत्सर्वं दधि तक्रं द्व्यहोषितं ।
काञ्जिकं पुष्पितमपि मद्यव्रतमलोऽन्यथा ॥११॥

अर्थ—दर्शनिक श्रावकको अचार मुरब्बा आदि सब प्रकारका संधान नहीं खाना चाहिये, दहीबड़ाका भी त्याग करना चाहिये। इसका भी कारण यह है कि अचार आदिमें बहुतसे जीव उत्पन्न होते रहते हैं। दूसरी जगह लिखा भी है- " जायंतेऽनंतशो यत्र प्राणिनो रसकायिकाः। संधानानि न वल्भ्यंते तानि सर्वाणि भाक्तिकैः ॥ " अर्थात् " भक्त लोग जिसमें रसकायके अनंत जीव उत्पन्न होते रहते हैं ऐसे सब तरहके संधानोंको नहीं खाते हैं। " तथा इसीतरह जिसे दो दिन और दो रात बीतचुकी हैं ऐसे दही और छाछको नहीं खाना चाहिये और जिसके ऊपर सफेद सफेद फूलसे आगये हैं अथवा जिसे दो दिन और दो रात बीतचुकी हैं ऐसी कांजी

अन्न पानका सेवन नहीं करना चाहिये और न कभी उसके बर्तन आदि चाजोंसे स्पर्श करना चाहिये।

(छाछमें मोठ जौ बाजरीके आटेको मिलाकर और खट्टी हो जानेपर औटाते हैं उसे रावडी अथवा काजी कहते हैं।) भी नहीं खाना चाहिये। यदि वह इन पदार्थोंको खायगा तो मद्यत्याग व्रतमें अतिचार लगेंगे। भावार्थ—ये ऊपर लिखे हुये मद्यत्याग व्रतके अतिचार हैं, दर्शनिक श्रावकको इन्हें बिल्कुल छोड देना चाहिये ॥ ११ ॥

आगे—मांसत्यागव्रतके अतिचार कहते हैं—

चर्मस्थमम्भः स्नेहश्च हिंग्वसंहृतचर्म च ।
सर्वं च भोज्यं व्यापन्नं दोषः स्यादामिषव्रते ॥ १२ ॥

अर्थ—चमडेके वर्तनमें रक्खा हुआ जल, घी, तेल आदि, चमडेकी लपेटी हुई या उसमें रक्खी हुई हींग और जो स्वादसे चलित हो गये हैं ऐसे घी आदि समस्त पदार्थ इनका सेवन करना मांसत्याग व्रतके अतिचार हैं। भावार्थ—चरस मसक आदि चमड़ेके वर्तनोंमें रक्खा हुआ वा चमड़ेके वर्तनसे निकाला हुआ जल, कुप्पा आदि चमड़ेके वर्तनमें रक्खा हुआ तेल घी आदि पदार्थ, चमड़ेके वर्तनोंमें वा जो चमड़ेसे गसी गई है ऐसी टोकनीमें, तलवारकी म्यान आदिमें रक्खे हुये आम आदि फल, चमडेकी बनी हुई चालनी, सूप, तराजू आदिमें निकाला हुआ आटा आदि पदार्थ, जिसने चमड़ा और मांसको हींगरूप नहीं बना लिया है ऐसी चमड़ेमें रक्खीहुई चमडेमें बधी हुई चमडेसे ढकीहुई वा चमडेपर

सुखाई हुई हींग इसीप्रकार जमडेपर रक्खाहुआ चमड़ेमें बंधा हुआ या फैलायाहुआ नमक आदि पदार्थ और जिनका स्वाद बिगड गया है ऐसे घी भात आदि खानेके सब पदार्थ इन सबतरहके पदार्थोंका खाना मांसत्यागव्रतके अतिचार हैं। इसलिये मांस त्याग करनेवालोंको इन सबका त्याग करना चाहिये ॥ १३ ॥

आगे—मधुत्याग व्रतके अतिचार दूर करनेके लिये कहते हैं—

प्रायः पुष्पाणि नाश्नीयान्मधुव्रतविशुद्धये।
वस्त्यादिष्वपि मध्वादिप्रयोगं नार्हति व्रती ॥ १४ ॥

अर्थ—शहतके त्याग करनेवाले दर्शनिक श्रावकको उस मधुत्यागव्रतको विशुद्ध रखनेके लिये अर्थात् निरतिचार पालन करनेकेलिये प्रायः किसीतरहके फूल नहीं खाना चाहिये। प्रायः शब्द कहनेसे यह तात्पर्य है कि महुआ और भिलावे आदिके फूल कि जिन्हें अच्छी तरह शोध सकते हैं उनके खानेका अत्यंत निषेध नहीं है, इसीप्रकार नागकेसर आदिके सूके फूलोंके खानेका भी अत्यंत निषेध नहीं है। तथा इसीतरह मधुविरत श्रावकको वस्तिकर्म, पिंडदान, नेत्रोंमें अंजन लगाना तथा मुहमें मकडी आदिके चले जानेपर इलाज करना आदि कार्योंके लिये भी मद्य मांस मधुका उपयोग नहीं करना चाहिये। अपि शब्दसे यह सूचित होता है कि शरीरका

स्वास्थ्य रखनेकेलिये वाजीकरण आदि वीर्य बढानेवाली औषधियोंमें भी मद्य मांस और मधुका उपयोग नहीं करना चाहिये ॥ १३ ॥

आगे—पंचोदुंबरत्याग व्रतके अतिचार दूर करनेके लिये कहते हैं—

सर्वं फलमविज्ञातं वार्ताकादि त्वदारितं।
तद्वद्भल्लादिसिंबीश्च खादेन्नोदुंबरव्रती ॥ १४ ॥

अर्थ—पीपलफल आदि उदंबर फलोंके त्याग करनेवाले श्रावकको अजानफल जिन्हें वह नहीं पहचानता है नहीं खाना चाहिये तथा ककड़ी वा कचरिया, वेर, सुपारी आदि फलोंको और रमास मटर आदिकी फलियोंको विदारण किये विना अर्थात् मध्यभागको शोधन किये विना नहीं खाना चाहिये। भावार्थ—अजानफल तथा भीतर विना देखे हुये फल फलिया आदि उदंबर त्याग व्रतके अतिचार हैं। उदंबर त्यागीको इनका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥ १४ ॥

आगे—रात्रिभोजनत्यागव्रतके अतिचार कहते हैं—

मुहूर्तेऽन्त्ये तथाद्येऽह्नो वल्भानस्तमिताशिनः।
गदच्छिदेऽप्याम्रघृताद्युपयोगश्च दुष्यति ॥१५॥

अर्थ—जिसको सूर्य अस्त होनेके पहिले ही भोजन करनेकी प्रतिज्ञा है ऐसे श्रावकको दिनके पहिले और अंतके

मुहूर्तमें अर्थात् सूर्योदयसे दो घडीतक और सूर्य अस्त होनेमें जो दो घडी शेष रहीं हैं उनमें भोजन नहीं करना चाहिये। तथा रोग दूर करनेकेलिये आम, चिरोंजी, केला, दालचीनी आदि फल और घी, दूध, ईखकारस आदि रस भी उससमय अर्थात् सूर्योदयसे दो घडीतक और सूर्य अस्त होनेकी पहिली दो घडीमें नहीं खाना चाहिये। अपि शब्दसे यह भी सूचित होता है कि जब उससमय रोग आदि दूर करनेकेलिये फल आदि पदार्थ नहीं खाना चाहिये तब अपना स्वास्थ्य बनाये रखनेकेलिये तो उससमय इनको कभी नहीं खाना चाहिये। भावार्थ–सूर्योदयसे दो घडीतक और सूर्य अस्त होनेमें जो दो घडी बाकी रहती है उनमें कुछ भी चीज खाना रात्रिभोजनत्यागव्रतके अतिचार हैं। रात्रिभोजनत्यागी दर्शनिक श्रावकको इससमय खानेका अवश्य त्याग करना चाहिये ॥१५॥

आगे–जलगालनव्रतके अतिचार छोडनेके लिये कहते हैं–

मुहूर्तयुग्मोर्ध्वमगालनं वा दुर्वाससा गालनमम्बुनो वा।
अन्यत्र वा गालितशेषितस्य न्यासो निपानेऽस्य न तद्व्रतेऽर्च्यः ॥१६॥

अर्थ–छने हुये पानीको भी दो मुहूर्त अर्थात् चार घडीके पीछे नहीं छानना, तथा छोटे, छेदवाले मैले, और पुराने कपडेसे छानना और छाननेके बाद बचेहुये पानीको किसी दूसरे जलाशयमें डालना ये जलगालनव्रतमें दोष उत्पन्न करनेवाले वा

निंद्य वा अतिचार हैं। दर्शनिक श्रावकको ऐसे अतिचार कभी नहीं लगाने चाहिये ॥ १६ ॥

आगे-श्री वसुनंदि सिद्धांतचक्रवर्तीने दर्शनिक श्रावकका लक्षण ऐसा लिखा है-" पचोदुंबरसहिया सत्तवि वसणाइ जो विवज्जेई। सम्मत्त विसुद्धमई सो दंसण सावओ भणिओ ॥" अर्थात्-" जिसने पांचों उदंबरोंके साथ सप्त व्यसनोंका त्याग कर दिया है और सम्यग्दर्शनसे जिसकी बुद्धि विशुद्ध हो रही है उसे दर्शनिक श्रावक कहते हैं।" इसीके अनुसार जूआ आदि व्यसनोंके छोडनेका उपदेश देनेकेलिये इन व्यसनोंसे इस लोकमें नाश होता है और परलोकमें निंद्य होना पडता है इसीको उदाहरण दिखलाते हुये कहते हैं-

> द्यूताद्धर्मतुजो बकस्य पिशिताम्मद्याद्यदूनां विप
> च्चारो कामुकया शिवस्य चुरया यद्ब्रह्मदत्तस्य च।
> पापर्द्ध्या परदारतो दशमुखस्योच्चैरनुश्रूयते
> द्यूतादिव्यसनानि घोरदुरितान्युज्झेत्तदार्यैस्त्रिधा ॥ १७ ॥

अर्थ-जूआ खेलनेसे महाराज युधिष्ठिरको, मांस भक्षण करनेसे राजा बकको, मद्यपान करनेसे यदुवंशियोंको, वेश्यासेवन करनेसे शेठ चारुदत्तको, चोरी करनेसे शिवभूति ब्राह्मणको, शिकार खेलनेसे ब्रह्मदत्त अंतिम चक्रवर्तीको और परस्त्रीकी अभिलाषा करनेसे रावणको बडी भारी विपत्ति आई थी

ऐसा वृद्ध लोगोंकी परपरासे सुनते आते हैं इसलिये सद्ग्रहस्थको दुर्गतिके दुःखोंके कारण और पापोंको उत्पन्न करनेवाले ऐसे द्यूत, मांस, मद्य, वेश्या, चोरी, शिकार और परस्त्री इन सातों व्यसनोंको मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे त्याग करना चाहिये॥१७॥

आगे—व्यसन शब्दकी निरुक्ति दिखलाकर जूआ आदि व्यसन घोर पापके कारण हैं और कल्याणको रोकनेके हेतु हैं यही दिखलाते हैं तथा इन व्यसनोंके त्याग करनेवालोंको रसायन बनाना आदि उपव्यसन भी दूरसे ही छोडना चाहिये क्योंकि इनका फल भी व्यसनोंके ही समान बुरा है। आगे यही उपदेश देते हैं—

जाग्रत्तीव्रकषायकर्कशमनस्कारार्पितैर्दुष्कृतै ।
श्चैतन्यं तिरयत्तमस्तरदपि द्यूतादि यच्छ्रेयस ।
पुंसो व्यस्यति तद्विदो व्यसनमित्याख्यान्त्यतस्तद्व्रत
कुर्वीतापि रसादिसिद्धिपरतां तत्सोदरीं दूरगां ॥१८॥

अर्थ—निरंतर उदयमें आये हुये और जो किसीतरह निवारण न किये जा सकें ऐसे तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभ इन कषायोंके निमित्तसे जो चित्तके परिणाम अत्यंत कठिन हो जाते हैं अर्थात् दृढ कर्मबंधन करनेकेलिये तैयार हो जाते हैं ऐसे उन परिणामोंके द्वारा उत्पन्न हुये पापोंसे जो आत्माके चैतन्य परिणामोंको ढक लेते हैं तथा जो मिथ्यात्वको भी उत्प

अर्थ—जिसने जूआ खेलनेका त्याग कर दिया है ऐसे दर्शनिक श्रावकको केवल मन प्रसन्न करनेकेलिये भी होड अर्थात् शर्त लगाकर दौडना या एक दूसरेकी ईर्षासे दौडना, आदि शब्दसे जूआ देखना आदि भी उसके मतमें दोष उत्पन्न करनेवाले हैं अर्थात् अतिचार हैं। जब केवल मन प्रसन्न करनेकेलिये शर्त लगाना दोष है तब फिर धन मिलनेकी इच्छासे शर्त लगाना या शर्त लगाकर कोई काम करना दर्शनिक श्रावककेलिये बडा भारी दोष है इसका भी कारण यह है कि शर्त लगाने या जूआ देखनेसे हर्ष और क्रोध उत्पन्न होता है और हर्ष तथा क्रोध अर्थात् रागद्वेष परिणाम परमार्थसे पापके कारण हैं इसलिये शर्त लगाने किंवा जूआ देखने आदिसे पाप ही उत्पन्न होता है ॥ १९ ॥

आगे—वेश्यात्यागव्रतके अतिचार छोडनेके लिये कहते हैं—

त्यजेत्तौर्यत्रिकासक्तिं वृथाट्या षिड्गसंगतिं ।
नित्यं पण्यांगनात्यागी तद्गेहगमनादि च ॥ २० ॥

अर्थ—जिसने वेश्यासेवनका त्याग कर दिया है ऐसे श्रावकको गीत नृत्य और बाजे इन तीनोंमें आसक्त नहीं होना चाहिये, विना प्रयोजन इधर उधर फिरना नहीं चाहिये, विट व्यभिचारी लोगोंकी संगति नहीं करनी चाहिये और वेश्याके घर आना जाना उसके साथ बातचीत करना और उसका आदर सत्कार करना आदिका भी सर्वथा त्याग कर

देना चाहिये । इस श्लोकमें जो नित्य शब्द दिया है उसका यह तात्पर्य है कि इस व्रतको पालन करनेकेलिये सदा प्रयत्न करते रहना चाहिये—ऊपर लिखे दोषोंसे सदा बचते रहना चाहिये । तथा गीत नृत्य और बाजेमें आसक्त नहीं होना चाहिये यह जो लिखा है उसका यह अभिप्राय है कि वह इन तीनोंमें अत्यंत आसक्त नहीं होवे किंतु यदि वह जिनमंदिर वा चैत्यालयमें धर्मवृद्धिकेलिये गीत नृत्य बाजे आदि सुने या देखे तो उसमें उसको कोई दोष नहीं है ॥२०॥

आगे—चौर्यव्यसनत्यागव्रतके अतिचार कहते हैं—

दायादाज्जीवतो राजवर्चसाद्गृह्णतो धनं ।
दायं वापन्हुवानस्य क्वाचौर्यव्यसनं शुचि ॥२१॥

अर्थ—जो कुलकी साधारण संपत्तिमें भाग लेनेवाले भाई काका भतीजे आदि हैं उन्हें दायाद कहते हैं । जो दर्शनिक श्रावक देश काल जाति कुल आदिके अनुसार नहीं किंतु राजाके प्रतापसे दायादके जीवित रहते हुये भी उससे गाव सुवर्ण आदि द्रव्य ले लेता है अथवा जो कुलके साधारण द्रव्यको भाई दायादोंसे छिपा लेता है उसके किस देश और किस कालमें अचौर्यव्रत निरतिचार हो सकता है ? अर्थात् कभी नहीं । भावार्थ—ये अचौर्यव्रतके अतिचार हैं इनके त्याग करनेसे ही अचौर्यव्रत निर्मल रहता है । ऊपर जो दायादके जीवित रहते हुये भी उससे जो गाव सुवर्ण आदि ले लेता है

यह लिखा है उसका अभिप्राय यह है कि यदि वह किसी दायादके मरने पर यथायोग्य न्याय और नीतिके अनुसार उसका धन ले तो उसमें उसे कोई दोष नहीं है ॥२१॥

आगे-पापर्द्धित्यागव्रतके (शिकार खेलनेके त्यागके) अतिचार छोडनेके लिये कहते हैं—

वस्त्रनाणकपुस्तादिन्यस्तजीवच्छिदादिकं ।
न कुर्यात्त्यक्तपापर्द्धिस्तद्धि लोकेऽपि गर्हितं ॥ २२ ॥

अर्थ-जिसने शिकार खेलनेका त्याग कर दिया है ऐसे श्रावकको पचरंगे वस्त्र, रुपया, पैसा, आदि मुद्रा, पुस्तक, काष्ठ, पाषाण, धातु, दांत आदिमें नाम निक्षेप अथवा " यह वही है " इसप्रकारके स्थापना निक्षेपसे स्थापन किये हुये हाथी घोडे आदि जीवोंका छेदन भेदन आदि कभी नहीं करना चाहिये। क्योंकि वस्त्र पुस्तक आदिमें बनाये हुये जीवोंका छेदन भेदन करना केवल शास्त्रोंमें ही निंद्य नहीं है किंतु लोकव्यवहारमें भी निंद्य गिना जाता है ॥ २२ ॥

आगे-परस्त्रीत्यागव्रतके अतिचार छोडनेके लिये कहते हैं-

कन्यादूषणगांधर्वविवाहादि विवर्जयेत् ।
परस्त्रीव्यसनत्यागव्रतशुद्धिविधित्सया ॥ २३ ॥

अर्थ-परस्त्री त्याग करनेवाले दर्शनिक श्रावकको परस्त्री व्यसनके त्यागरूप व्रतको शुद्ध रखनेकी इच्छासे किसी कुमारी

कन्याके साथ विषय सेवन नहीं करना चाहिये अथवा इस कन्याका विवाह किसी अन्यके साथ न हो मेरे ही साथ हो इस अभिप्रायसे अर्थात् अपना विवाह करनेके लिये किसी कन्याके दोष प्रगट नहीं करना चाहिये । तथा किसी कन्याके साथ गांधर्व विवाह भी नहीं करना चाहिये । माता पिता भाई आदिकी संमति और प्रमाणके विना पुरुष और कुमारीके परस्परके प्रेमसे जो विवाहरूप संबंध हो जाता है उसे गांधर्वविवाह कहते हैं ऐसा विवाह भी उसके लिये सदोष है तथा आदि शब्दसे किसी कन्याको हरणकर उसके साथ विवाह नहीं करना चाहिये । भावार्थ–ये सब परस्त्रीत्यागके अतिचार हैं दर्शनिक श्रावकको इनका अवश्य त्याग करना चाहिये ॥ २३ ॥

इसप्रकार पांच व्यसनोंके अतिचार यहां कहे तथा मद्य और मांस व्यसनके अतिचार पहिले कहचुके हैं इसतरह सातों व्यसनोंके अतिचार कह चुके ।

अब आगे—जैसे दोनों लोकोंके विरुद्ध होनेसे मद्य मांस आदि व्यसनोंका स्वयं त्याग करता है उसीप्रकार व्रतोंको विशुद्ध रखनेकेलिये दूसरोंके लिये भी उनका प्रयोग नहीं करना चाहिये । इसका उपदेश देते हैं–

त्यजते यदिहामुत्राप्यपायावद्यकृत्स्वयं ।
तत्परेऽपि प्रयोक्तव्यं नैव तद्व्रतशुद्धये ॥२४॥

अर्थ—जो वस्तु इसलोक और परलोकमें अपाय करने वाली अर्थात् कल्याणसे अलग रखनेवाली है अकल्याण करने- वाली है और अवद्य अर्थात् निंद्य है ऐसी वस्तुका सकल्पपूर्वक जैसे स्वय त्याग करता है उसीप्रकार अपना व्रत शुद्ध रखनेके- लिये किसी दूसरे पुरुषके काममें उस त्यागी हुई वस्तुका प्रयोग नहीं करना चाहिये। भावार्थ—जिस वस्तुका स्वय त्याग कर दिया है उसे दूसरेको खिलाना या दूसरेके काममें लानेका त्याग भी कर देना चाहिये ॥२४॥

इसप्रकार जिसने दर्शनप्रतिमा धारण की है ऐसे श्राव कोंको अपना प्रतिज्ञा निर्वाह करनेके लिये आगेके श्लोकोंसे कुछ शिक्षा देते हुये कहते हैं—

अनारंभवध मुचेचरेन्नारंभमुद्धुर।
स्वाचाराप्रतिलोमेन लोकाचार प्रमाणयेत् ॥२५॥

अर्थ—दर्शनिक श्रावक तप सयम आदिका साधन जो अपना शरीर है उसकी स्थितिके लिये जो खेती व्यापार आदि करता है ऐसी क्रियाओंके सिवाय उसे अन्य सब प्राणियोंकी हिंसाका त्याग कर देना चाहिये। भावार्थ—शरीरकी स्थितिके लिये जो खेती व्यापार आदिमें हिंसा होती है वह तो होती ही है इसके सिवाय बाकी सब हिंसाका त्याग कर देना चाहिये। ऐसा कहनेसे स्वामी समतभद्राचार्यने दर्शनप्रतिमाका लक्षण " दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्य " अर्थात् "दर्शनिक श्रावक तात्त्विक

मार्गको अर्थात् दिखलाये हुये अणुव्रत आदिको धारण करनेवाला होता है" यह जो लिखा है उसका भी ग्रहण हो जाता है क्योंकि जब खेती व्यापार आदिमें होनेवाली हिंसाके सिवाय बाकी हिंसाका त्याग करादिया तब पांचों अणुव्रतोंके अनुकूल अपनी सब क्रियायें करनेके लिये उपदेश हो ही चुका, अर्थात् अणुव्रतोंके अनुसार ही उसे सब क्रियायें करनी चाहिये। तथा अपने निर्वाह करनेयोग्य खेती व्यापार आदि आरंभोंको स्वयं न करना चाहिये, क्योंकि यदि वह खेती व्यापार आदि स्वयं करेगा तो प्रतिज्ञा किये हुये धर्मकार्योंके करनेमें अवकाश न मिलनेसे उसे बडी व्याकुलता उठानी पडेगी। यदि वह दूसरोंसे करावेगा तो एक काम घट जानेसे फिर उसे धर्मकार्योंमें किसी तरहकी व्याकुलता नहीं होगी, इसलिये खेती व्यापार आदि आरंभ दूसरोंसे ही कराना ठीक है। इसके सिवाय जिसमें अपने प्रतिज्ञा किये हुये व्रतोंके पालन करनेमें किसीतरहकी हानि न हो इसप्रकारसे स्वामीकी सेवा, खरीदना, बेचना आदि लौकिक क्रियाओंको स्वीकार करना चाहिये, अर्थात् जिस कामके करनेमें अपने व्रतोंमें विरोध न आवे ऐसे कामोंके करनेकेलिये किसीतरहका विसवाद या झगडा नहीं करना चाहिये। भावार्थ–दर्शनिक श्रावकको ये ऊपर लिखी हुई सब शिक्षायें स्वीकार करना चाहिये ॥२५॥

आगे—स्त्रीको स्वयं धर्मनिष्ठ बनानेके लिये उपदेश देते हैं—

व्युत्पादयेत्तरां धर्मे पत्नीं प्रेम परं नयन्।
सा हि मुग्धा विरुद्धा वा धर्माद्भ्रंशयते तरां ॥२६॥

अर्थ—दर्शनिक श्रावकको अपना समस्त परिवार धर्ममें व्युत्पन्न करना चाहिये तथा अपनेमें और धर्ममें दोनोंमें स्त्रीका उत्कृष्ट प्रेम बढाता हुआ उसे धर्ममें सबसे अधिक व्युत्पन्न करना चाहिये । क्योंकि यदि स्त्री धर्मको नहीं जानती होगी वा धर्म से विरुद्ध होगी अथवा अपनेमे (पतिमे) विरुद्ध होगी तो वह परिवारके लोगोंसे अधिकतर धर्मसे भ्रष्ट कर देगी। भावार्थ-धर्मको नहीं जानते हुये अथवा धर्मसे विमुख ऐसे परिवारके लोग मनुष्यको धर्मसे च्युत कर देते हैं और यदि ऐसी ही स्त्री हुई तो वह उन परिवारके लोगोंसे भी अधिक धर्मभ्रष्ट कर देती है । क्योंकि गृहस्थोंके धर्मकार्य भी प्राय. सब स्त्रियोंके आधीन हैं। इसलिये अपने धर्मका निर्वाह करनेके लिये स्त्रीको धर्मशिक्षा देना अवश्य कर्तव्य है ॥ २६ ॥

आगे—ऊपर जो लिखा है " अपनेमें स्त्रीका प्रेम उत्कृष्ट रीतिसे बढाना चाहिये " उसीका समर्थन करते हैं—

स्त्रीणां पत्युरुपेक्षैव परं वैरस्य कारणं ।
तन्नोपेक्षेत जातु स्त्रीं वाञ्छन् लोकद्वये हितं ॥ २७ ॥

अर्थ–स्त्रियोंका अनादर करना ही पतिके लिये परम विरागता अथवा परम विरोधका कारण हो जाता है पतिकी कुरूपता अथवा दरिद्रतासे स्त्रिया कभी विरोध नहीं करती हैं अथवा पतिको कष्ट नहीं पहुचाती हैं । इसलिये इस लोक और परलोकमें सुख और सुखके कारणोंकी अभिलाषा करनेवाले पुरुषको स्त्रीकी अवज्ञा अथवा धर्मकार्योंके समय उसकी उपेक्षा कभी नहीं करनी चाहिये । भावार्थ– पति चाहे कुरूप हो या दरिद्र हो उसपर स्त्रीका स्वाभाविक प्रेम होता ही है यदि पति उसकी अवज्ञा करता है या धर्मकार्योंमें उसे वचित रखता है, वा उपेक्षा करता है तब परस्पर वैमनस्य होना समव हो जाता है । इसलिये स्त्रीकी अवज्ञा करना या धर्मकार्योंसे उसे अलग रखना सर्वथा अनुचित है ॥ २७ ॥

आगे–धर्म सुख आदिकी इच्छा करनेवाली कुलस्त्रियों-को सदा पतिके अनुसार ही चलना चाहिये ऐसी प्रकरणके अनुसार स्त्रियोंको शिक्षा देते हुये कहते हैं–

नित्य भर्तृमनीभूय वर्तितव्य कुलस्त्रिया ।
धर्मश्रीशर्मकीर्त्येककेतन हि पतिव्रता ॥ २८ ॥

अर्थ–कुलस्त्रीको मन वचन कायसे सदा पतिके चित्तके अनुसार ही चलना चाहिये अर्थात् पतिके चित्तके अनुकूल ही चितवन करना चाहिये, अनुकूल ही कहना चाहिये और

पतिके अनुकूल ही सब काम करना चाहिये। क्योंकि पतिकी सेवा करना ही जिनका व्रत है, जिनकी प्रतिज्ञा है, अथवा पतिकी सेवा करना ही जिनकी शुभ कर्ममें प्रवृत्ति वा अशुभ कर्मसे निवृत्तिरूप व्रत है ऐसी पतिव्रता स्त्रियां ही धर्म अर्थात् पुण्य, श्री अर्थात् विभूति वा सरस्वती, तथा आनद और कीर्ति इनका एक घर वा ध्वजा हैं। भावार्थ–पतिव्रता स्त्री ही धर्म सेवन करनेवाली है, वही श्रीमती अर्थात् विभूति और सरस्वती-को धारण करनेवाली है, वही आनद वा सुख भोगनेवाली और अपनी कीर्ति फैलानेवाली है। इसलिये स्त्रियोंको सदा पतिके अनुकूल ही चलना चाहिये ॥२८॥

आगे–धर्म, अर्थ और शरीरकी रक्षा करनेवाले पुरुषको अपनी कुलस्त्रीमें भी अत्यत आसक्त नहीं होना चाहिये ऐसा कहते हैं–

> भजेद्देहमनस्तापशमात स्त्रियमन्नवत्।
> क्षीयते खलु धर्मार्थकायास्तदतिसेवया ॥२९॥

अर्थ–जिसप्रकार देह और मनका सताप दूर करनेकेलिये परिमित अन्नका सेवन किया जाता है उसीप्रकार दर्शनिक श्रावकको अथवा ब्राह्मण क्षत्रिय और गृहस्थ इन तीनों वर्णोंको शरीर और मनके सतापकी शाति जितनेमें हो उतना ही परिमित स्त्रीका सेवन करना चाहिये। क्योंकि जिसप्रकार

अन्नका अधिक सेवन करनेसे धर्म अर्थ और शरीर तीनों ही नष्ट होते हैं उसीप्रकार स्त्रीका अधिक सेवन करनेसे भी धर्म अर्थ और शरीर तीनों नष्ट हो जाते हैं ॥२९॥

आगे-सत्पुत्र उत्पन्न करनेकेलिये प्रयत्न करनेकी विधि बतलाते है-

प्रयतेत सधर्मिण्यामुत्पादयितुमात्मज ।
व्युत्पादयितुमाचारे स्ववत्त्रातुमथापथात् ॥३०॥

अर्थ-दर्शनिक श्रावकको सधर्मिणी अर्थात् जिसका धर्म सदा अपने समान है ऐसी कुलस्त्रीमें औरस पुत्र उत्पन्न करनेकेलिये प्रयत्न करना चाहिये। पुत्रका नाम आत्मज है जिसका अर्थ ' अपनेसे उत्पन्न हुआ ' है। अपनेसे उत्पन्न हुये ऐसे पुत्रके लिये कुलस्त्रीकी रक्षा करनेमें नित्य प्रयत्न वा परम आदर करना चाहिये। तथा पुत्रको आचार अर्थात् लोक और लोकके व्यवहारमें अपने समान अनेक तरहके उत्कृष्ट ज्ञान सपादन करानेका प्रयत्न करना चाहिये। तथा धर्मसे भ्रष्ट करनेवाले दुराचारसे उसकी रक्षा करनेकेलिये अपने समान ही सदा प्रयत्न करना चाहिये। भावार्थ-पुत्रके लिये स्त्रीकी रक्षा करनी चाहिये। और पुत्र होनेपर उसे पारमार्थिक व्यावहारिक शिक्षा देकर तथा कुलपरपरासे चली आई ऐसी विशेष बातोंको बतलाकर सब विषयमें निपुण कर देना चाहिये। तथा कुमार्गसे भी उसे सदा बचाते रहना चाहिये। यह बात ध्यानमें रहे कि इन सब

बातोंको कुमार्गसे बचना और कुल तथा लोकके व्यवहारमें निपुण होना आदि बातोंको पहिले स्वय कर लेना चाहिये और फिर वैसा ही पुत्रको बना लेना चाहिये । यदि वह स्वय इन बातोंमें निपुण न होगा तो वह अपने पुत्रको भी कभी निपुण नहीं कर सकता । यद्यपि वह भाई भतीजे आदिको पुत्र मान सकता है वा दत्तक लेसकता है परतु वे न तो अपने समान ही हो सकेंगे और न औरस पुत्रकी बराबरी ही कर सकेंगे । इसलिये औरस पुत्र उत्पन्न करनेके लिये स्त्रीकी रक्षा करना आवश्यक है ॥ ३० ॥

आगे–श्रावकको अपने पुत्रके विना आगेकी प्रतिमायें प्राप्त होना कठिन है इसी विषयको उदाहरण दिखलाते हुये कहते हैं–

विना स्वपुत्र कुत्र स्व न्यस्य भार निराकुल ।
गृही सुशिष्य गणिवत्प्रोत्सहेत परे पदे ॥ ३१ ॥

अर्थ–जिसप्रकार धर्माचार्य अपने ही समान अर्थात् आचार्य पदकी योग्यता रखनेवाले शिष्यके विना सघके निर्वाह करनेरूप भारको छोड नहीं सकता और सघका भार छोडे विना निराकुल होकर अपने आत्माके शुद्ध सस्कार करने अथवा मोक्ष प्राप्त करनेमें उत्साह नहीं कर सकता, उसीप्रकार दर्शनिक श्रावक अथवा गृहस्थ भी अपने ही समान पुत्रके विना अपने कुटुबके पालन करनेका भार किसपर छोडकर

निराकुल होता हुआ व्रत सामायिक आदि आगेकी प्रतिमाओंमें अथवा वानप्रस्थ आश्रममें उत्साह करेगा अर्थात् न वह कुटंब पालन करनेका भार छोड़ सकता है और न निराकुल होकर आगेकी प्रतिमायें वा वानप्रस्थ आश्रम धारण कर सकता है। इसलिये मोक्षपद चाहनेवाले आचार्यको अपने ही समान योग्यता रखनेवाला शिष्य तैयार करना चाहिये और आगेकी प्रतिमायें अथवा वानप्रस्थ आश्रम धारण करनेकी इच्छा करनेवाले दर्शनिक श्रावकको अपने ही समान योग्यता रखनेवाला पुत्र तैयार करना चाहिये। तथा जिसप्रकार आचार्य अपने योग्य शिष्यको आचार्य पद देकर मोक्ष प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है उसीप्रकार गृहस्थको भी अथवा दर्शनिक श्रावकको भी अपने पुत्रको घरका सब भार सौंपकर आगेकी प्रतिमायें धारण करना चाहिये ॥३१॥

आगे—दर्शनप्रतिमाके लक्षणका उपसहार करते हुये व्रत प्रतिमा धारण करनेकी योग्यता दिखलाते हुये कहते हैं—

दर्शनप्रतिमामित्थमारुह्य विषयेष्वरं।

विरज्यन् सत्त्वसज्ज सन् व्रती भवितुमर्हति ॥३२॥

अर्थ—जो श्रावक "पाक्षिकाचारसंस्कार" आदि तीसरे अध्यायके सातवें श्लोकसे लेकर जो दर्शन प्रतिमाका स्वरूप कहा है उसे धारण कर चुका है तथा जो स्त्री आदि इंद्रियोंके विषयोंसे

पाक्षिक श्रावककी अपेक्षा अथवा अपनी पहिली अवस्थाकी अपेक्षा स्वय अधिक विरक्त होगया है और जो धैर्य आदि सात्त्विक भावोंको धारण करता है ऐसा श्रावक दूसरी व्रत प्रतिमा धारण करनेके योग्य होता है ॥३२॥

इसप्रकार पंडितप्रवर आशाधरविरचित स्वोपज्ञ (निजविरचित) सागारधर्मामृतको प्रगट करनेवाली भव्यकुमुदचंद्रिका टीकाके अनुसार नवीन हिंदीभाषानुवादमें धर्मामृतका बारहवा और सागारधर्मामृतका तीसरा अध्याय समाप्त हुआ।

चौथा अध्याय.

आगे–व्रतप्रतिमाका निरूपण तीन अध्यायोंमें करेंगे उसमें प्रथम ही व्रतप्रतिमाका लक्षण कहते हैं–

सपूर्णदृग्मूलगुणो नि शल्य साम्यकाम्यया ।
धारयन्नुत्तरगुणानक्षूणान् व्रतिको भवेत् ॥१॥

अर्थ—जो पुरुष केवल उपयोगके आश्रय रहनेवाले अतरग अतिचारोंसे तथा चेष्टा वा क्रियाके आश्रय रहनेवाले बहिरग अतिचारोंसे रहित निर्मल पूर्ण सम्यग्दर्शन पालन करता है तथा दोनोंतरहके अतिचारोंसे रहित पूर्ण अखड मूलगुणोंको धारण करता है, जो शल्यरहित है । शल्य नाम बाणका है । जो छातीमें लगेहुये बाणके समान शरीर और मनको दु ख देनेवाला कर्मोंके उदयका विकार हो उसे शल्य कहते हैं । उसके तीन भेद हैं–मिथ्यात्व, माया और निदान । विपरीत श्रद्धानको मिथ्यात्व कहते है । बचना, ठगना वा छलकपट करना माया है । तप सयम आदिसे होनेवाली विशेष आकाक्षा वा इच्छाको निदान[१] कहते हैं। इन तीनों शल्योंसे रहित सम्यग्दर्शन

१–तप सयमाद्यनुभावेन काक्षाविशेष निदान। तद्द्वेधा प्रशस्तेतर-भेदात् । प्रशस्त पुनर्द्विविध विमुक्तिससारनिमित्तभेदात् ॥ तत्र विमुक्तिनिमित्त कर्मक्षयाद्याकाक्षा ॥ अर्थ–तपश्चरण सयम आदिके

और मूलगुणों सहित जो पुरुष इष्ट अनिष्ट पदार्थोंसे रागद्वेष दूर करनेकेलिये अतिचाररहित उत्तरगुणोंको सुगमतासे धारण करता है वह व्रती कहलाता है। यहांपर इतना और समझ लेना चाहिये कि इष्ट अनिष्ट पदार्थोंसे रागद्वेष दूर करनेकेलिये वह उत्तरगुणोंको निरतिचार पालन करता है किसी

द्वारा किसी इष्ट फलकी प्राप्तिकी इच्छा करना निदान है। यह दो प्रकारका है–एक प्रशस्त और दूसरा अप्रशस्त। उसमेंभी प्रशस्तके दो भेद हैं–एक मुक्तिका कारण और दूसरा संसारका कारण। समस्त कर्मोंके क्षय करनेकी आकांक्षा करना मुक्तिका कारण प्रशस्त निदान है। कहा भी है—

कर्मव्यपायं भवदुःखहानिं बोधिं समाधिं जिनबोधसिद्धिं। आकांक्षितः क्षीणकषायवृत्तेर्विमुक्तिहेतुः कथितं निदानं॥ अर्थ–जिसके कषाय नष्ट होगये हैं ऐसा पुरुष कर्मोंका नाश, संसारके दुःखोंकी हानि, रत्नत्रय, समाधि और केवलज्ञानकी सिद्धि होनेकी इच्छा करे तो उस इच्छाको मुक्तिका कारण प्रशस्त निदान कहते हैं।

जिनधर्मसिद्ध्यर्थं तु नात्याद्याकांक्षणं संसारनिमित्तं। अर्थ–जिन धर्मकी सिद्धि और वृद्धि करनेकेलिये अपनी जाति आदिकी आकांक्षा करना सो संसारका कारण निदान है। कहा भी है—

जातिं कुलं बंधुविवर्जितत्वं दरिद्रतां वा जिनधर्मसिद्ध्यै। प्रयाचमानस्य विशुद्धवृत्तेः संसारहेतुर्गदितं निदानं॥ अर्थ–विशुद्ध चारित्रवालेको जिनधर्मकी वृद्धि करनेकेलिये जो उत्तम जाति, उत्तम कुल, बंधुसे रहित होना, और परिग्रहसे रहितपनाकी जो इच्छा होती है उसको संसारका कारण प्रशस्त निदान कहते हैं।

लाभ या अन्यकी इच्छासे नहीं । यदि वह किसी लाभ आदि-की इच्छासे ही व्रत पालन करे तो वह व्रती नहीं समझा जा सकता । तथा वह व्रती शल्यरहित होना चाहिये । यहांपर कदाचित् कोई यह प्रश्न करे कि 'सपूर्णदृग्मूलगुण' अर्थात् 'जिसके सम्यग्दर्शन और मूलगुण पूर्ण हैं' ऐसा कहनेसे ही उसके शल्योंका अभाव सिद्ध होता है फिर "वह शल्यरहित होना चाहिये" यह विशेषण व्यर्थ ही क्यों दिया है? परंतु इसका समाधान इसप्रकार है कि तुम कहते हो वह ठीक है

अप्रशस्त निदानके भी दो भेद हैं–एक भोगार्थनिदान और दूसरा मानार्थ निदान । एक घातकत्व निदान भी है परंतु वह मानार्थनिदानमें अंतर्भूत हो जाता है इसलिये उसे अलग नहीं कहा है।

ऊपर लिखे निदानोंमेंसे पहिली प्रतिमा धारण करनेवालेको मुक्तिनिदान ही उपकारी है, बाकीके तीन निदान साक्षात् व परंपरासे जन्ममरणरूप दुःखोंके ही कारण हैं इसलिये ये कभी नहीं करने चाहिये क्योंकि—

मोक्षेऽपि मोहादभिलाषदोषो विशेषतो मोक्षनिषेधकारी । यतस्ततोऽध्यात्मरतो मुमुक्षुर्भवेत्किम यत्र कृताभिलाषः ॥ अर्थ–कदाचित् किसी जीवको मोहकर्मके उदयसे मोक्षकी अभिलाषा होती है, परंतु वह अभिलाषा भी विशेषकर मोक्षसे रोकनेवाली है । क्योंकि मोक्षाभिलाषी जीवको निरंतर आत्मामें लीन होना चाहिये उसे अन्य किसी-की अभिलाषा करना उचित नहीं है ।

किंतु उसमें इतना और विशेष है कि जिसने थोडे दिनसे ही व्रत धारण किये हैं वह उन व्रतोंको शल्यरहित पालन करनेके लिये पहिलेके विभ्रमरूप सस्कारोंसे उत्पन्न हुये परिणामोंकी परपराको दूर करनेका फिर भी प्रयत्न करता है, अर्थात् यद्यपि पाहिलेके विभ्रमरूप परिणाम उसके नहीं है तथापि उस विभ्रमके सस्कारसे उन परिणामोंकी जो परपरा बनी हुई है उनके दूर करनेका वह फिर भी प्रयत्न करता है इसीका उपदेश देनेकेलिये नि शल्य यह विशेपण दिया है। उपदेश देनेमें यदि कोई बात प्रकारातरसे दुवारा भी कही जाय तो भी उसमें कोई दोप नहीं माना जाता ॥ १ ॥

आगे—तीनों शल्योंके दूर करनेका हेतु बतलाते है—

सागारो वानगारो वा यन्नि शल्यो व्रतीष्यते ।
तच्छल्यवत्तद्दग्मायानिदानान्युद्धरेध्द्दद ॥ २ ॥

अर्थ—चाहे गृहस्थ हो अथवा मुनि हो जो शल्य रहित व्रत धारण करता है वही व्रती कहलाता है। यहा पर इसप्रकार समझलेना चाहिये कि शल्यके दूर होनेपर ही व्रतोंके होतेहुये व्रती कहलाता है। व्रत होनेपर यदि नि - शल्य न हो तो वह व्रती नहीं कहला सक्ता। जैसे जिसके बहुतसा धीदूध होता है उसे गाय, भैंस पालन करनेवाला ग्वालिया कहते हैं परतु जिसके अनेक गाय भैंस होनेपर भी घी

दूध न हो तो उसे कोई भी ग्वालिया नहीं कहता इसीप्रकार घी दूध होनेपर भी यदि वह गाय भैंस न रखता हो अर्थात् खरीदकर ही घी दूध रखता हो तो भी उसे ग्वालिया नहीं कहते। इसीप्रकार जो शल्यरहित है परंतु अहिंसा आदि व्रत पालन नहीं करता वह भी व्रती नहीं है, तथा अहिंसा आदि व्रत पालन करता हुआ भी यदि शल्यरहित न हो तो भी वह व्रती नहीं है किंतु जो व्रत पालन करता हो और शल्यरहित हो वही व्रती कहलाता है। इसलिये जैसे हमलोग छातीमें लगे हुये बाणको निकाल डालते है उसीप्रकार मिथ्यात्व माया और निदान इनतीनों शल्योंको हृदयसे निकाल डालना चाहिये॥२॥

आगे—शल्यसहित व्रतोंको धिक्कार देते हुये कहते हैं—

आभात्यसत्यदृग्मायानिदानैः साहचर्यतः ।
यान्यव्रतानि व्रतवद्दुःखोदर्काणि तानि धिक् ॥३॥

अर्थ—जो असत्यदृक् अर्थात् विपरीत श्रद्धान वा मिथ्यात्व, माया और निदान इन तीनों शल्योंके सबबसे व्रतोंके समान जान पड़ते हैं और जो अंतमें केवल दुःख ही देनेवाले है ऐसे अव्रतोंको धिक्कार हो। भावार्थ—शल्यसहित व्रत अव्रत ही हैं और इसलिये ही अंतमें दुःख देनेवाले है। ऐसे अव्रत (शल्य-सहित व्रत) निंद्य है उनकेलिये आचार्य वारवार धिक्कार देते हैं ॥ ३ ॥

आगे—उत्तरगुणोंका निर्णय करनेकेलिये कहते हैं—

पचधाणुव्रत त्रेधा गुणव्रतमगारिणा ।
शिक्षाव्रत चतुर्धाति गुणा स्युर्द्वादशोत्तरे ॥४॥

अर्थ-पाच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये बारहव्रत गृहस्थोंके उत्तरगुण हैं । यहांपर गुण शब्दका अर्थ सयमके भेद हैं । सयमके मूल भेदोंको मूलगुण और उत्तर भेदोंको उत्तरगुण कहते हैं । ये मद्यत्याग आदि आठ मूलगुण धारण करनेके पीछे धारण किये जाते हैं और मूलगुणोंसे उत्कृष्ट हैं इसलिये इन्हें उत्तरगुण कहते हैं । महाव्रतोंकी अपेक्षा जो लघु वा छोटे हों उन्हें अणुव्रत कहते हैं और वे अहिंसा आदि पाच हैं । यह अणुव्रतोंकी पाच सख्या आचार्योंके बहुमतसे लिखी गई है अर्थात् प्राय बहुतसे आचार्य पाच ही अणुव्रत मानते हैं । जो अणुव्रतोंकी सख्या पाच मानते हैं वे रात्रिभोजनत्यागव्रतको अहिंसा अणुव्रतकी भावना होनेसे उसीमें अतर्भूत करलेते हैं परतु किसी किसी आचार्यने रात्रि भोजनत्यागव्रतको छट्ठा अणुव्रत माना है अर्थात् इसतरह अणुव्रतोंकी सख्या [1]छह मानी है । जो अणुव्रतोंका उपकार

१-चारित्रसारमें लिखा है—

वधादसत्याच्चौर्याच्च कामाद्ग्रथान्निवर्तन । पचधाणुव्रत राज्यभुक्ति षष्ठमणुव्रत ॥ अर्थ-हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह इनका त्याग करना पाच अणुव्रत हैं तथा रात्रिभोजनत्याग भी छट्ठा अणुव्रत है ।

करें उन्हें गुणव्रत कहते है, दिग्व्रत आदि अणुव्रतोंको बढाते रहते है इसलिये वे गुणव्रत कहलाते हैं और वे तीन प्रकारके हैं। जो व्रत शिक्षा वा अभ्यासके लिये किये जाते हैं उन्हें शिक्षाव्रत कहते है, देशावकाशिक, सामयिक आदि व्रतोंका प्रतिदिन अभ्यास किया जाता है इसलिये ये शिक्षाव्रत कहलाते है और वे चार प्रकारके है। गुणव्रत और शिक्षाव्रतोंमें यही भेद है कि शिक्षाव्रतोंका अभ्यास प्रतिदिन किया जाता है और गुणव्रत प्राय जन्मभरके लिये धारण किये जाते है। अथवा विशेष श्रुतज्ञानकी भावनाओंमें परिणत होनेसे अर्थात् श्रुतज्ञानकी भावनाओंका चिंतवन करनेसे ही देशावकाशिक आदि शिक्षाव्रतोंका निर्वाह अच्छी तरह हो जाता है इसलिये जिनमें शिक्षाजनक विद्याओंका ग्रहण किया जाय अथवा जिनमें शिक्षा ही प्रधान हो उन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं। इसप्रकार भी ये गुणव्रत वा अणुव्रतोंसे भिन्न है ॥ ४ ॥

आगे–सामान्य रीतिसे पाचों अणुव्रतोंका लक्षण कहते हैं–

विरति स्थूलवधादेर्मनोवचोऽगकृतकारितानुमतै ।
क्वचिदपरेऽप्यननुमतै पचाहिंसाचणुव्रतानि स्यु ॥५॥

अर्थ–स्थूल वध आदि अर्थात् स्थूल हिंसा, स्थूल असत्य, स्थूल चोरी, स्थूल अब्रह्म और स्थूल परिग्रह इन पाचों स्थूल पापोंका मन वचन कायसे तथा कृतकारित अनुमोदनासे जो

त्याग करना है उसे अणुव्रत कहते हैं और वह अणुव्रत अहिंसा सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहपरिणामके भेदसे पांचप्रकारका है। इसमें भी इतना विशेष और है कि इन अणुव्रतोंको धारण करनेवाले श्रावक दो प्रकारके होते हैं एक तो वे कि जो घरमें रहनेसे विरक्त हो चुके हैं अर्थात् जिन्होंने घर रहना छोड दिया है, जो उदासीन होगये है, और दूसरे वे जो घरमें ही रहते हैं अर्थात् जो गृहस्थ हैं। इन दोनोंमेंसे जो उदासीन वा घरसे विरक्त श्रावक हैं उनके तो मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना इन नौप्रकारसे पांचों स्थूल पापोंका त्यागरूप अणुव्रत होते है और जो गृहस्थ श्रावक हैं उनके अनुमतिका त्याग नहीं होता उनके मन वचन काय और कृत कारित ऐसे छह प्रकारसे ही पांचों स्थूल पापोंका त्याग होता है।

आगे—इसीको कुछ विस्तारसे लिखते हैं—जिसमें स्थूल जीवोंका घात होता हो अथवा अन्य मिथ्यादृष्टियोंमें भी जो हिंसारूपसे प्रसिद्ध हो उसे स्थूल हिंसा कहते है इसीतरह झूठ चोरी आदि भी जो सब जगह प्रसिद्ध हों और स्थूल विषयक हों वे स्थूल चोरी झूठ आदि कहे जाते हैं। इन स्थूल हिंसा झूठ चोरी अब्रह्म और परिग्रह पांचों स्थूल पापोंका मन वचन काय, कृत कारित अनुमोदना इन नौप्रकारसे त्यागरूप जो अहिंसा सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य और परिग्रहपरिमाण पांच अणुव्रत हैं वे गृहत्यागी श्रावकके होते हैं और ये उत्कृष्ट अणुव्रत कहलाते हैं। तथा जो गृहस्थ श्रावकके मन वचन काय और कृतकारित इनके संबंधरूप छहप्रकारसे पांचों स्थूल पापोंका

त्यागरूप अणुव्रत हैं वे मध्यम वृत्तिसे अणुव्रत कहे जाते हैं अर्थात् वे मध्यम अणुव्रत हैं। गृहस्थ इन मध्यम अणुव्रतोंको ही पालन कर सकता है। क्योंकि यद्यपि वह हिंसादि पाप मन वचन कायसे न करता है और न कराता है परंतु उसके पुत्र पौत्र आदि जो हिंसादि पाप करते कराते हैं अथवा हिंसादिके कारण मिलाते हैं उसमें वह अपनी अनुमति वा समतिका त्याग नहीं कर सकता और इसतरह वह अनुमोदनासे त्याग नहीं कर सकता इसलिये वह छहप्रकारसे हिंसादि पापोंका त्याग कर मध्यम अणुव्रत धारण करता है। इसप्रकार स्थूल हिंसादि पापोंके त्यागरूप जो अणुव्रत हैं उनके दो या तीन भेद होते हैं और इन तीनोंमेंसे कोई भी एक प्रकारका अणुव्रत धारण करना अच्छा और कल्याण करनेवाला ही है, क्योंकि अणुव्रत न धारण करनेसे जो बहुतसे हिंसादि पाप लगते हैं उनमेंसे जितने पाप छूट जाय उतने ही अच्छे हैं। इसलिये किसीप्रकारका भी अणुव्रत धारण कर लेना अच्छा है। श्लोकमें जो अपि शब्द दिया है वह यह सूचित करता है कि यदि किसी [1]अन्यप्रकारसे भी स्थूल हिंसा आदि पापोंका त्याग किया जाय

1–इसका यह अभिप्राय है कि कोई मनुष्य स्थूल हिंसादि पापोंको स्वयं नहीं करता परंतु वह करानेका त्याग नहीं कर सकता अथवा मन वचनसे त्याग नहीं कर सकता, केवल शरीरसे त्याग करता है। यदि वह स्वयं करनेका ही त्याग कर दे या शरीरसे ही त्याग करदे अथवा केवल मनसे वा वचनसे ही त्याग कर दे अथवा और भी किसी किसी मर्यादासे थोडा बहुत त्याग कर दे तो वह उसका त्याग अणुव्रत ही गिना जायगा।

तो वह भी अणुव्रत गिना जाता है। क्योंकि जो व्रत अपनी शक्तिके अनुसार पालन किया जाता है उसीका निर्वाह सुखपूर्वक होता है और उसीसे इस जीवका कल्याण होता है।

पापोंके त्याग करनेके भेद मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना इनके संबंधमें उनचास होते हैं। जैसे हिंसा मनसे नहीं करना, वचनसे नहीं करना, शरीरसे (कायसे) नहीं करना, मन और वचनसे नहीं करना, मन और कायसे नहीं करना, वचन और कायसे नहीं करना तथा मन वचन काय इन तीनोंसे मिलकर नहीं करना। इसप्रकार कृत अर्थात् करनेके सात भेद हुये। इसीप्रकार कारित अर्थात् करानेके सात भेद और अनुमोदना अर्थात् समति देनेके सात भेद हुये। सब इकईस भेद हुये। तथा हिंसाके करने करानेका मनसे त्याग करना, वचनसे त्याग करना, कायसे त्याग करना, मन वचनसे त्याग करना, मन कायसे त्याग करना, वचन कायसे त्याग करना और मन वचन काय तीनोंसे त्याग करना इसप्रकार करने करानेके सात भेद हुये। इसीप्रकार कृत अनुमोदना अर्थात् करने और समति देनेके सात भेद, कारित और अनुमोदना अर्थात् कराने और समति देनेके सात भेद, और कृत कारित अनुमोदनाके सात भेद इसप्रकार सब अट्ठाईस भेद ये हुये। सब मिलकर उनचास भेद हुये। ये उनचास नीचे लिखे कोष्ठकसे स्पष्ट जान पड़ते हैं—

१	मनकृत	वचनकृत	कायकृत	मन वचनकृत	मन कायकृत	वचन कायकृत	मन वचन काय कृत
२	मनकारित	वचन कारित	काय कारित	मन वचनकारित	मन कायकारित	वचन कायकारित	मन वचन काय कारित
३	मनोनुमत	वचनानुमत	कायानुमत	मनोवचनानुमत	मन कायानुमत	वचनकायानुमत	मन वचन कायानुमत
४	मन कृतकारित	वचनकृतकारित	कायकृतकारित	मन वचनकृतकारित	मन कायकृतकारित	वचन कायकृतकारित	मन वचन काय कृतकारित
५	मन कृतानुमत	वचन कृतानुमत	काय कृतानुमत	मन वचनकृतानुमत	मन कायकृतानुमत	वचन कायकृतानुमत	मन वचन काय कृतानुमत
६	मनकारितानुमत	वचनकारितानुमत	कायकारितानुमत	मन वचनकारितानुमत	मन काय कारितानुमत	वचन कायकारितानुमत	मन वचनकाय-कारितानुमत
७	मन कृत कारि-तानुमत	वचन कृत कारितानुमत	काय कृत कारितानुमत	मन वचनकृतकारि-तानुमत	मन कायकृतकारितानुमत	वचन कायकृत कारितानुमत	मनवचनकाय कृतकारितानुमत
	१	२	३	४	५	६	७

इसप्रकार हिंसा आदि पापोंके त्यागके ऊपर लिखे हुये उनचास भेद हुये। इनके भूतकाल, वर्तमानकाल और भविष्यत्काल संबंधी त्याग करनेसे तिगुने अर्थात् एकसौ सैंतालीस भेद होते हैं। जैसे-उनचास प्रकारसे पहिले किये हिंसा आदि पापोंका पश्चात्ताप करना अथवा पहिले किये हुये पापोंका उनचास तरहसे पश्चात्ताप करना, वर्तमान कालमें उनचास तरहसे हिंसाका त्याग करना और भविष्यत्कालमें इन उनचासतरहसे हिंसादि पाप न करनेका निश्चय करना। इसप्रकार त्यागके सब एकसौ सैंतालीस भेद होते हैं। यहांपर अहिंसाव्रतके जो एकसौ सैंतालीस भेद दिखलाये हैं उसीप्रकार सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहत्याग इन व्रतोंके भी प्रत्येकके एकसौ सैंतालीस भेद जानना। इसप्रकार पांचों अणुव्रतोंके संक्षेपसे सातसौ पैंतीस भेद हुये।

ऊपर जो मन वचन कायके भेद दिखलाये गये हैं उनमेंसे दो दो तीन तीनके कुछ एक भेद लेकर यथासंभव दिखलाते हैं। जो स्थूलहिंसा मनसे वचनसे और कायसे स्वयं नहीं करता न दूसरेसे कराता है तथा जो स्थूल हिंसा मनसे और वचनसे नहीं करता और न कराता है तथा अनुमति भी नहीं देता, अथवा मनसे और शरीरसे, अथवा वचनसे और शरीरसे करता कराता नहीं और न अनुमति देता है इत्यादि। इनमेंसे जब वह मन और वचनसे हिंसा करने करानेका त्यागी

है तब वह उस हिंसाका मनसे चिंतवन नहीं करता और न वचनसे कोई हिंसक शब्द कहता है परतु वह असैनी जीवके समान केवल शरीरसे ही दुष्ट व्यापार करता है। इसीतरह जब वह मन और कायसे हिंसा नहीं करता न कराता है उससमय वह मनसे भी हिंसाका विचार नहीं करता और न शरीरसे कुछ दुष्ट व्यापार (क्रिया) करता कराता है परतु वह वचनसे " मैं इसे मारता हू वा सताता हू " आदि शब्द कहता है। इसीप्रकार जब वह वचन और कायसे हिंसा नहीं करता न कराता है उससमय वह केवल मनसे ही हिंसा करने करानेका सकल्प करता रहता है। ऊपर लिखे हुये उदाहरणोंमें मन, वचनसे वा मन कायसे वा वचन कायसे वा तीनोंसे वह करने करानेका त्यागी है इसलिये वह अपनी समति मन वचन काय तीनोंसे दे सकता है। क्योंकि वह अनुमोदनाका त्यागी नहीं है। जिसप्रकार ऊपर लिखे हुये दो तीन उदाहरण दिखलाये हैं उसीप्रकार बाकीके सब भेद समझलेना चाहिये।

इस श्लोकमें ' स्थूलहिंसा आदि पापोंका त्याग ' ऐसा कहा है। यह स्थूल शब्द उपलक्षणरूप है अर्थात् इसमें और भी कईप्रकारकी हिंसाका त्याग किया जा सकता है और इस-लिये ही " निरपराधी जीवकी सकल्पपूर्वक हिंसाका त्याग

भी इसमें [1]शामिल किया जाता है " अर्थात् अहिंसा अणुव्रती निरपराधी जीवकी सकल्पपूर्वक हिंसाका भी त्यागी होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि अणुव्रती निरपराधी जीवोंकी सकल्पपूर्वक हिंसाका त्यागी है वह अपराधी जीवोंकी सकल्पी हिंसाका त्याग नहीं भी कर सकता है। इसलिये ही " दण्डो हि केवलो लोकमिम चामु च रक्षति। राज्ञा शत्रौ च पुत्रे च यथादोष सम धृत ।" अर्थात्—" चाहे वह राजाका शत्रु हो अथवा पुत्र हो उसके किये हुये दोषके अनुसार दड देना ही राजाको इस लोक और पर लोकमें रक्षा करता है। " इस वचनसे अपराधी जीवोंको उनके अपराधके अनुसार यथायोग्य दड देनेवाले चक्रवर्ती आदि राजाओंके भी अणुव्रत हो सकते हैं तथा ' अणुव्रत धारण करनेवालोंने भी अनेक युद्ध किये हैं अनेक शत्रुओंको मारा है ' आदि जो अनेक पुराणोंमें सुना जाता है उसमें भी कोई विरोध नहीं आता है। क्योंकि उन्होंने अपने पदके अनुसार अणुव्रत ग्रहण किये थे ॥५॥

१–पगुकुष्ठिकुणित्वादि दृष्ट्वा हिंसाफल सुधी । निरागस्त्रस जतूना हिंसा सकल्पतस्त्यजेत् ॥ अर्थ–लगडे होना, कोढी होना, बहिरा होना, कुबडा होना आदि सब हिंसाके फल हैं। ऐसा देखकर बुद्धिमानोंको निरपराधी जीवोंकी सकल्पपूर्वक हिंसाका त्याग अवश्य कर देना चाहिये।

आगे—स्थूल इस विशेषणका प्रयोजन दिखलाते हैं—

स्थूलहिंसाद्याश्रयत्वात्स्थूलानामपि दुर्दृशां ।
तत्त्वेन वा प्रसिद्धत्वाद्वधादि स्थूलमिष्यते ॥६॥

अर्थ—जिसके आश्रय होकर हिंसा आदि पाप किये जाते हैं वह स्थूल हो अर्थात् जिस जीवकी हिंसा करना है वह स्थूल वा बादर अथवा त्रस हो, जिसके विषयमें झूठ बोलना है वह कोई बडी बात हो, जिसकी चोरी करना है वह बडी अर्थात् कीमती हो, जिस स्त्रीके साथ संभोग करना है वह स्थूल अर्थात् दूसरेकी हो, अपनी न हो, जिस वस्तुका संग्रह करना है वह भी बहुत हो। ऐसे ऐसे स्थूल पदार्थोंके आश्रय होनेवाले जो हिंसा आदि पांचों ही पापकर्म हैं वे स्थूलवधादि कहलाते हैं। अथवा सूक्ष्मज्ञानसे रहित ऐसे मिथ्यादृष्टि लोगोंमें भी जो हिंसा झूठ चोरी आदि पापरूपसे ही प्रसिद्ध हों उन्हें स्थूल-वधादि (स्थूल हिंसा आदि) कहते हैं। वा शब्दसे जो हिंसा झूठ चोरी आदि स्थूलरूपसे किये जाते हैं वे भी स्थूलहिंसा आदि ही कहलाते हैं। भावार्थ—जो हिंसा झूठ चोरी आदि लोकमें प्रसिद्ध है, उन्हींका त्याग करना अणुव्रत है ॥६॥

आगे—उत्सर्गरूप अहिंसाणुव्रतको कहते हैं—

शांतायष्टकषायस्य संकल्पैर्नवभिस्त्रसान् ।
अहिंसतो दयार्द्रस्य स्यादहिंसेत्यणुव्रत ॥७॥

अर्थ—जिसके अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ

तथा अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ ये आठों कषाय शांत हो गये हैं अथवा जिसने ये आठों कषाय शांत कर दिये है, तथा जो आगेके दो श्लोकोंमें लिखे अनुसार मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे अर्थात् नौ प्रकारसे संकल्पपूर्वक द्वींद्रिय तेइंद्रिय चौइंद्रिय और पचेंद्रिय जीवोंकी हिंसा नहीं करता है। और जो दयालु है अर्थात् जिसका अंतःकरण करुणासे कोमल है, कारण पड़नेपर स्थावर जीवोंका घात करता है तथापि उसके हृदयमें उससमय भी बहुत दया आती है। ऐसे भव्य जीवके पहिला अहिंसा अणुव्रत होता है।

यहांपर कृत कारित अनुमोदना तीनोंका ग्रहण किया है, उसमें कृतका ग्रहण अपनी स्वतंत्रता दिखलानेके लिये है, कारितका ग्रहण किसी दूसरे मनुष्यकेद्वारा करानेकी अपेक्षासे है और अनुमोदनाका ग्रहण मनके परिणाम दिखलानेके लिये है। भावार्थ-वह न स्वयं करता है, न किसी दूसरेसे कराता है और न करते हुयेको भला मानता है। इसी विषयको स्पष्ट रीतिसे दिखलाते हैं। (१) मनसे त्रस जीवोंकी हिंसा करनेका त्याग करना अर्थात् मनमें कभी मारनेका संकल्प नहीं करना। (२) मनसे हिंसा करानेका त्याग करना अर्थात् मनमें कभी दूसरेसे हिंसा करानेका संकल्प नहीं करना। (३) मनसे हिंसामें अनुमति नहीं देना अर्थात् किसी दूसरेने की हुई हिंसामें "उसने अच्छा किया" इसप्रकार मनसे अनुमोदना नहीं

करना। (४) वचनसे हिंसा नहीं करना अर्थात् मैं मारता हू ऐसा शब्द उच्चारण नहीं करना। (५) वचनसे हिंसा नहीं कराना अर्थात् "तू मार वा हिंसा कर" इसप्रकार वचनसे नहीं कहना। (६) वचनसे हिंसाकी अनुमोदना नहीं करना अर्थात् जो हिंसा किसी दूसरेने की है उसमें "उसने अच्छा किया अथवा तूने अच्छा किया" इसप्रकार शब्दोंका उच्चारण नहीं करना अथवा ऐसे शब्द मुहसे नहीं निकालना। (७) कायसे हिंसा नहीं करना अर्थात् त्रस जीवोंकी हिंसा करनेकेलिये स्वय हाथ थप्पड आदि नहीं उठाना अथवा किसी जीव की हिंसा करनेकेलिये शरीरका कोई व्यापार नहीं करना। कायसे हिंसा नहीं कराना अर्थात् त्रस जीवोंकी हिंसा करनेकेलिये उगली आदिसे इशारा नहीं करना अथवा और भी शरीरसे किसी तरहकी प्रेरणा नहीं करना। तथा कायसे हिंसामें अनुमति नहीं देना अर्थात् जो कोई त्रस जीवकी हिंसा करनेमें प्रवृत्त हो रहा है उसकेलिये ताली या चुटकी बजाकर सम्मति नहीं देना। इसप्रकार नौ प्रकारके सकल्प होते हैं इन नौप्रकारके सकल्पोंसे त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग करदेना उत्कृष्ट अहिंसाणुव्रत है ॥७॥

आगे—दो श्लोकोंमे इसी विषयको स्पष्ट करते हैं—

इम सत्त्व हिनस्मीम हिंधि हिंध्येष साध्विम ।
हिनस्तीति वद नाभिसदध्यान्मनसा गिरा ॥८॥
वर्तेत न जीववधे करादिना दृष्टिमुष्टिसधाने ।
न च वर्तयेत्पर तत्परे नखच्छोटिका न च रचयेत् ॥९॥

अर्थ—जिसने घरमें रहनेका त्याग कर दिया है ऐसे गृहत्यागी श्रावकको " मैं इस सामनेके जीवको मारता हूं " ऐसा मनमें कभी चिंतवन नहीं करना चाहिये और न ऐसे शब्द ही मुंहसे निकालने चाहिये। तथा इसीतरह "इस जीवको तू मार " और "इस जीवको यह मारता है सो बहुत अच्छा करता है" ऐसे विचार कभी मनमें नहीं लाना चाहिये और न मुहसे ही ऐसे शब्द निकालने चाहिये। इसीप्रकार आखसे देखने और हाथ मुट्ठी आदिसे उठानेयोग्य पुस्तक आसन आदि जो जो उपकरण है उनसे होनेवाली हिंसामें भी हाथ उगली आदि अग उपागसे प्रवृत्ति न करे। जैसा किसी दूसरे आचार्यने भी लिखा है—" आसन शयन यान मार्गमन्यच्च वस्तुयत्। अदृष्ट तन्न सेवेत यथाकाल भजन्नपि॥ " अर्थात्—" श्रावकको आसन शय्या सवारी मार्ग आदि जो जो वस्तु समयानुसार काममें लानी चाहिये वह उसे देख शोधकर काममें लानी चाहिये विना देखे शोधे कभी कोई वस्तु काममे नहीं लानी चाहिये। " यहापर दृष्टि मुष्टि सधान अर्थात् आखसे देखनेयोग्य और हाथ उगली आदिसे उठानेयोग्य ऐसा जो लिखा है उसमेंसे आखसे देखने योग्यका यह अभिप्राय है कि ज्ञानसे विचार करनेयोग्य जो क्रियायें है उन्हें विचारकर करे और हाथ उगली आदिसे उठानेयोग्यका यह अभिप्राय है कि जिस वस्तुको वह श्रावक रक्खे या उठावे उसे देख शोधकर रक्खे उठावे विना विचारकर और विना देख शोधकर कोई काम न

करे। इसीप्रकार गृहत्यागी श्रावकको किसी त्रस जीवके घात करानेकेलिये किसी अन्य पुरुषसे प्रेरणा नहीं करना चाहिये अर्थात् किसी अन्यसे हिंसा नहीं कराना चाहिय और न स्वयमेव हिंसा करते हुये किसी मनुष्यकेलिये ताली चुटकी आदि बजाकर उसकी अनुमोदना करनी चाहिये ॥८-९॥

इसप्रकार गृहत्यागी श्रावकके अहिंसाणुव्रतकी विधि कही।

अब आगे-गृहस्थ श्रावकके अहिंसाणुव्रतका उपदेश देते हुये कहते हैं—

> इत्यनारंभजां जह्याद्धिंसामारंभजां प्रति।
> व्यर्थस्थावरहिंसावद्यतनामावहेद्गृही ॥१०॥

अर्थ-जिसप्रकार गृहत्यागी श्रावक आसन उपवेशन (बैठना) आदि अनारंभ क्रियाओंमें हिंसाका त्याग करता है उसीप्रकार गृहस्थ श्रावकको भी आसन शय्या आदि अनारंभ क्रियाओंमें होनेवाली हिंसाका [1]त्याग करना चाहिये

१-हिंसा द्वेधा प्रोक्तारंभानारंभभेदतो दक्षैः। गृहवासतो निवृत्तो द्वेधापि त्रायते तां च॥ गृहवाससेवनरतो मंदकषायः प्रवर्तितारंभः। आरंभजां स हिंसां शक्नोति न रक्षितुं नियतं॥ अर्थ-हिंसा दो प्रकारकी है एक खेती व्यापार आदि आरंभसे होनेवाली और रखना उठाना आदि अनारंभसे होनेवाली। गृहत्यागी श्रावक इन दोनों प्रकारकी हिंसाका त्यागी होता है तथा खेती व्यापार आदि आरंभ करनेवाला और क्रोधादि कषाय जिसके मंद होगये हैं ऐसा गृहस्थ श्रावक खेती व्यापार आदि आरंभसे होनेवाली हिंसाका त्याग नहीं कर सकता ऐसा नियम है।

अर्थात् उठना बैठना रखना उठाना आदि क्रियाओंको देख शोधकर सावधानीसे करना चाहिये। कहा भी है—"गृहकार्याणि सर्वाणि दृष्टिपूतानि कारयेत्" अर्थात् घरके सब काम देखकर करना चाहिये कि जिसमें किसी जीवकी हिंसा न हो सके। तथा जिसप्रकार विना कारण एकेंद्रीय जीवोंकी हिंसा न होने देनेमें सावधानी रक्खी जाती है उसीप्रकार खेती व्यापार आदि आरंभ कार्योंसे होनेवाली हिंसामें भी समिति रखनी चाहिये अर्थात् उसमें भी ऐसे यत्नसे चलना चाहिये कि जिससे अधिक हिंसा न होने पावे ॥१०॥

आगे—स्थावर जीवोंकी हिंसा न करनेका उपदेश देते हैं—

> यन्मुक्त्यङ्गमहिंसैव तन्मुमुक्षुरुपासकः ।
> एकाक्षवधमप्युज्झेत्स्यान्नावर्ज्यभोगकृत् ॥११॥

अर्थ—यह बात सिद्ध है कि द्रव्यहिंसा और भावहिंसाका त्याग करना ही मोक्षका साधन है इसलिये मोक्षकी इच्छा करनेवाले श्रावकको सेवन करने योग्य जिन भोगोपभोगोंका त्याग हो ही नहीं सकता अथवा जिनका संग्रह करना ही चाहिये ऐसे सेवन करने योग्य भोगोपभोगोंमें होनेवाली एकेंद्रिय जीवोंकी हिंसाको छोड कर बाकी बचे हुये [1]एकेंद्रिय जीवों

१–जे तसकाया जीवा पुव्वुद्दिट्ठा ण हिंसियव्वा ते। एगेंदियावि णिकारणेण पढमं वदं थूलं ॥ अर्थ—पहिले कहे हुये त्रस कायके जीवोंको नहीं मारना तथा विना कारणके एकेंद्रियादि जीवोंको भी नहीं मारना सो पहिला स्थूलव्रत अर्थात् अहिंसा अणुव्रत है।

की हिंसाका त्याग भी अवश्य कर देना चाहिये। भावार्थ–योग्य भोगोपभोगोंके सेवन करनेमें जो एकेंद्रिय जीवोंकी हिंसा होती है वह तो गृहस्थसे छूट ही नहीं सकती परन्तु जिसप्रकार वह त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग करता है उसीप्रकार उन भोगोपभोगोंमें होनेवाली हिंसाके सिवाय जो स्थावर जीवोंकी हिंसा है उसका त्याग भी उस मोक्षकी इच्छा करनेवाले श्रावकको अवश्य कर देना चाहिये। यहांपर 'मोक्षकी इच्छा करनेवाले श्रावकको' ऐसा जो लिखा है उसका यह अभिप्राय है कि भोगोपभोगोंकी इच्छा करनेवाले श्रावकके लिये उन भोगोपभोगोंमें होनेवाली हिंसाके सिवाय स्थावर जीवोंकी हिंसाके त्याग करनेका नियम नहीं हैं यह नियम केवल मुमुक्षु श्रावकके लिये है ॥ ११ ॥

स्तोकैकेंद्रियघाताद्गृहिणां संपन्नयोग्यविषयाणां। शेषस्थावरमारणविरमणमपि भवति करणीयं ॥ अर्थ–इंद्रियोंके विषयोंकी न्यायपूर्वक सेवा करनेवाले श्रावकोंको काममें आनेवाले थोडे एकेंद्रिय जीवोंके घात करनेके सिवाय बाकी स्थावर जीवोंके मारनेका त्याग भी अवश्य करने योग्य है।

भूपयःपवनाग्नीनां तृणादीनां च हिंसनं। यावत्प्रयोजनं स्वस्य तावत्कुर्यादजंतुजित् ॥ अर्थ–अहिंसक श्रावकको जितनेमें अपना प्रयोजन हो उतनी ही पृथ्वी अप तेज वायु और वनस्पतिकायिक जीवोंकी हिंसा करनी चाहिये। भावार्थ–शेषका त्याग कर देना चाहिये।

आगे-संकल्पी हिंसाका नियम करते हैं—

गृहवासो विनारम्भान्नाचारम्भो विना वधात्।
त्याज्य स यत्नात्तन्मुख्यो दुस्त्यजस्त्वानुषंगिक ॥१२॥

अर्थ-खेती व्यापार आदि जो आरंभ आजीविकाके उपाय हैं उनके विना गृहस्थाश्रम चल नहीं सकता, और खेती व्यापार आदि आरंभ विना हिंसाके नहीं होसकते इसलिये श्रावकको "मैं अपने इस प्रयोजनके लिये इस जीवको मारता हू" ऐसे संकल्पपूर्वक जो संकल्पी हिंसा है उसका त्याग प्रयत्नपूर्वक अर्थात् सावधानीसे अवश्य कर देना चाहिये। क्योंकि खेती व्यापार आदि आरंभसे होनेवाली हिंसाका त्याग करना गृहस्थ श्रावकके लिये अति कठिन है ॥ १२ ॥

आगे-प्रयत्नपूर्वक त्याग करनेयोग्य हिंसाका उपदेश देते हैं-

दु समुत्पद्यते जतोर्मन संक्लिश्यतेऽस्यते।
तत्पर्यायश्च यस्या सा हिंसा हेया प्रयत्नत ॥ १३ ॥

अर्थ-जिस हिंसाके करनेमें अपने जीव और परजीवको दु ख होता है अर्थात् अपने पराये शरीरको कष्ट पहुचता है, तथा उसके मनको अत्यंत संताप होता है और जिसकी हिंसा की जाती है उस जीवकी वर्तमानकालकी पर्याय नष्ट हो जाती है ऐसी हिंसा गृहस्थ श्रावकको प्रयत्नपूर्वक छोड देनी चाहिये॥१३॥

आगे—यहासे आगे अहिंसा अणुव्रतकी आराधना

करनेका उपदेश देनेकेलिये लिखेंगे उसमेंभी पहिले अणुव्रत पालन करनेवाले श्रावकको उद्देशकर कहते हैं-

सतोषपोषतो य स्यादल्पारभपरिग्रह ।
भावशुध्येकसर्गोऽसावहिंसाणुव्रत भजेत् ॥१४॥

अर्थ—जो श्रावक अधिक सतोष होनेसे खेती व्यापार आदि थोडा आरभ करता है तथा स्त्री, पुत्र,धन, धान्य आदि परिग्रहमें 'यह मेरा है मैं इनका स्वामी हू' ऐसा ममत्व परिणाम भी थोडा रखता है, अर्थात् जिसे आरभ परिग्रहसे आर्त और रौद्रध्यान विशेषरूपसे नहीं होता, थोडे ही आरभ परिग्रहमें जो सतुष्ट रहता है, तथा जो मनको विशुद्ध रखनेमें सदा तल्लीन रहता है ऐसे गृहस्थको अहिंसा अणुव्रत पालन करना चाहिये ॥१४॥

आगे—पाचों अतिचारोंको टालकर वचनगुप्ति, मनोगुप्ति आदि पाचप्रकारकी भावनाओंसे अहिंसा अणुव्रतको साधन करना चाहिये ऐसा उपदेश देते हैं-

मुचन् वध वधच्छेदमतिभाराधिरोपण ।
भुक्तिरोध च दुर्भावाद्भावनाभिस्तदाविशेत् ॥१५॥

अर्थ—किसी दुष्ट हेतुसे किये हुये वध आदि पाचों अर्थात् बाधना, मारना, छेदना, अधिक बोझा लादना तथा अन्न पानका निरोध करना इन पाचों अहिंसा अणुव्रतोंके अतिचारोंको

छोडकर श्रावकोंको वाग्गुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदान-निक्षेपणसमिति और आलोकितपानभोजन इन पांचों भावनाओंसे अहिंसा अणुव्रतको पालन करना चाहिये ।

इसका विस्तार वा खुलासा इसप्रकार है— रस्सी आदिसे गाय मनुष्य आदिकोंको बांधना वा रोक रखना बंध कहलाता है । यह अहिंसा अणुव्रतका पहिला अतिचार है। इसमें इतना विशेष है कि विनय नम्रता आदि गुण सिखानेकेलिये पुत्र शिष्य आदिकोंको भी कभी कभी रस्सी आदिसे बांधना वा रोकना पडता है परंतु वह बांधना अतिचार नहीं है इसीको दिखलानेके लिये इस श्लोकमें दुर्भावात् ऐसा कहा है ।

दुर्भावका अर्थ बुरे परिणाम हैं। बुरे परिणामोंसे अर्थात् तीव्र कषायके उदयसे जो रस्सी आदिसे बांधना वा रोकना है वह अतिचार है ऐसा अतिचार व्रती श्रावकको छोड देना चाहिये। इस अतिचारके छोडनेकी विधि इसप्रकार है—मनुष्य, पक्षी आदि द्विपद और घोडा, बैल आदि चतुष्पदोंको बांध रखना बंध है। वह दो प्रकारका है एक सार्थक (जिसमें अपना कुछ प्रयोजन हो) और दूसरा अनर्थक अर्थात् जिसमें अपना कुछ प्रयोजन न हो । इन दोनोंमेंसे जो अनर्थक बंध है वह श्रावकको करना योग्य नहीं है, अर्थात् उसे कभी नहीं करना चाहिये । सार्थक बंध भी दो प्रकारका है, एक सापेक्ष अर्थात् किसी अपेक्षासे

और दूसरा निरपेक्ष अर्थात् जो विना किसीकी अपेक्षासे किया गया है। घोडा बैल आदि जानवरोंको जो रस्सीकी ढीली गाठसे बाधते है कि जिससे अग्नि आदि लगनेपर अथवा और कोई उपद्रव होनेपर वे जानवर उसे गाठ या रस्सीसे स्वय छूट सकें अथवा उसे तोड सकें। इसे सापेक्ष बंधन कहते हैं। तथा इन्हीं जानवरोंको दृढतापूर्वक बहुत कड़ी रीतिसे बाधना निरपेक्ष बधन है। इसीप्रकार दासी, दास, चोर, जार तथा प्रमादी पुत्र शिष्य आदिकोंको भी जब बाधना पडे तो उन्हें इसरीतिसे बांधना चाहिये कि जिसमें वे हलचल सकें। बधन करनेवालोंको यह बात भी ध्यानमें रखना चाहिये कि जिसको बधनमें रक्खा है उसकी रक्षा भी पूर्ण रीतिसे की जाय कि जिससे अग्नि आदिसे उसका विनाश न हो जाय। अथवा दासी, दास आदि द्विपद और घोडा, बैल आदि चतुष्पद, इन सबका सग्रह श्रावकको इसप्रकार करना चाहिये अथवा ऐसे दासी दास घोडा बैल आदिकोंका सग्रह करना चाहिये कि जो बिना बाधे ही रह सकें। इसप्रकार बंध नामका अहिंसा अणुव्रतका पहिला अतिचार है।

वध—लकडी चाबुक आदिसे मारनेको वध कहते हैं। यह भी यदि बुरे परिणामोंसे किया जाय तो बंधके समान अतिचार होता है। यदि कोई शिष्य या दास विनय वा नम्रता न करे तो उसके मर्मस्थानको छोड कर किसी लता अथवा

हाथ आदिसे एक या दो बार मारना चाहिये। यद्यपि वध शब्दका अर्थ प्राणघात होता है परंतु व्रती श्रावक प्राणघातका सर्वथा त्याग प्रथम ही कर चुका है इसलिये अतिचारोंमें ग्रहण किये हुये वध शब्दका अर्थ छडी आदिसे ताडन करना ही लेना चाहिये। इसप्रकार यह वध नामका अहिंसाणुव्रतका दूसरा अतिचार है।

छेद—नाक कान आदि शरीरके अवयवोंके काटनेको छेद कहते हैं। वे शरीरके अवयव यदि बुरे परिणामोंसे काटे जाय तो अतिचार है। जैसे निर्दय होकर हाथ पैर आदि काट लेते हैं। यदि किसीके शरीरमें फोडा या गूमडा हो गया हो और उसकी स्वास्थ्यरक्षा करनेके लिये उसे चिरना या काटना पडे अथवा जलाना पडे तो आश्वासन देकर चीरना, काटना या जलाना भी अतिचार नहीं है, क्योंकि उसमें चीरने या काटनेवालेके परिणाम बुरे नहीं हैं। इसप्रकार यह तीसरा अतिचार है।

अतिभारारोपण—बैल घोडा आदि पशु अथवा दास दासी आदिकी पीठपर अथवा सिर या गर्दनपर उसकी शक्तिसे अधिक बोझा लादनेको अतिभारारोपण कहते हैं। वह भी यदि बुरे परिणामोंसे अर्थात् क्रोध या लोभसे किया जाय तो अतिचार होता है। इसके पालन करनेकी भी यह विधि है कि श्रावकको दास दासी अथवा घोडा बैल आदिपर बोझा लादकर

जीविका करना पहिलेसे ही छोड देना चाहिये, यही सबसे अच्छा पक्ष है। यदि कोई श्रावक ऐसी आजीविका नहीं छोड सकता हो तो दास दासियोंपर इतना बोझा लादना वा रखना चाहिये कि जितनेको वे स्वयं उठालें और स्वयं उतारले तथा उन्हें उचित समयपर छोड देना चाहिये। घोडा बैल आदि जानवरोंपर जितना भार वे ले जा सकें उससे कुछ कम ही रखना चाहिये, हल गाडी आदिमें लगे हुये पशुओंको खाने पीने और आराम लेनेकेलिये उचित समयपर छोड देना चाहिये। इसप्रकार यह अतिभारारोपण नामका चौथा अतिचार है।

भुक्तिरोध—दूसरे जीवोंके खाने पीनेके निरोध करने वा रोक देनेको भुक्तिरोध कहते हैं। यह भी यदि बुरे परिणामोंसे किया जाय तो बधके समान अतिचार होता है। जिससमय किसी भी प्राणीको तीव्र भूख या प्यास लगती है यदि उस-समय उसकी शांति करनेके लिये कुछ उपाय न किया जाय अथवा उसकी शांति न हो तो वह प्राणी तडफ तडफकर मर जाता है। इसलिये किसी भी जीवके खाने पीनेकी रुकावट कभी नहीं करना चाहिये। यदि किसीसे कुछ अपराध भी हुआ हो तो उससे वचनसे ही कहना चाहिये कि "आज तुझे भोजन नहीं दिया जायगा" परंतु भोजनके समय उसे अवश्य भोजन देना चाहिये। श्रावकोंको प्रत्येक दिन अपने भोजनके समय अपने आश्रित जीवोंको अथवा और भी किसी

भूखे जीवको भोजन कराकर ही स्वयं भोजन करना चाहिये। यदि किसीने उपवास किया हो अथवा जो किसी ज्वरादि रोगसे पीड़ित हो तो उसे भोजन देना उचित नहीं है अर्थात् ऐसे समय भोजन न देना भी अतिचार नहीं है। तथा इसी-तरह किसी तरहकी (ज्वर आदिकी अथवा किसी पापकी) शांति करनेकेलिये अपने आश्रित लोगोंसे उपवास आदि भी कराना चाहिये, ऐसे उपवास करानेमें भुक्तिनिरोधका दोष नहीं है क्योंकि वह बुरे परिणामोंसे नहीं कराया गया है। इसप्रकार यह भुक्तिनिरोध नामका अहिंसाणुव्रतका पाचवां अतिचार है। यहांपर बहुत कहनेसे कुछ विशेष लाभ नहीं है व्रती श्रावकको इतना अवश्य ध्यानमें रखना चाहिये कि जिसमें मूलगुण और अहिंसाणुव्रतमें किसीतरहका [1]अतिचार न लगने पावे इसप्रकार यत्नपूर्वक अपना वर्ताव रखना चाहिये ॥१५॥

आगे—मंदबुद्धि जीवोंको सहज रीतिसे स्मरण हो इस-लिये ऊपर लिखेहुये कथनको ही फिर थोडासा स्पष्ट करते हुये कहते हैं—

१—व्रतानि पुण्याय भवंति जंतो न सातिचाराणि निषेवितानि।
सस्यानि किं क्वापि फलंति लोके मलोपलीढानि कदाचनापि॥

अर्थ—जीवोंको व्रत करनेसे पुण्य होता है इसलिये उन व्रतोंको सातिचार पालन नहीं करना चाहिये अतिचार रहित पालन करना चाहिये। क्योंकि संसारमें मलिन धान्य बोनेसे कभी भी फल लगते हुये देखे हैं? अर्थात् कभी नहीं।

गवाद्यैर्नैष्ठिको वृत्तिं त्यजेद्बंधादिना विना ।
भोग्यान् वा तानुपेयात्तं योजयेद्वा न निर्दयं ॥१६॥

अर्थ—नैष्ठिकश्रावकको गाय, बैल, घोडे आदि पशुओंसे अपने जीविकाके व्यापार बिलकुल छोड देने चाहिये यह सबसे उत्तम पक्ष है। अथवा वह नैष्ठिक श्रावक गाय, घोडे आदि पशुओंको दूध अथवा सवारी आदिकेलिये रख सकता है परंतु उन्हें विना बांधे और विनां ताडना किये वा विना मारे ही रखना चाहिये अर्थात् उन्हें ताडना मारना वा बांधना नहीं चाहिये यह मध्यम पक्ष है। तथा कदाचित् उन्हें बांधना ही पडे तो उन्हें निर्दयतासे अर्थात् बहुत कठिनतासे नहीं बांधना चाहिये और न कठिनतासे बंधाना ही चाहिये यह तीसरा अधम (जघन्य) पक्ष है। यहांपर यह और समझलेना चाहिये, कि येसब नियम नैष्ठिक श्रावकके लियेहैं पाक्षिकके लिये नहीं है।

यहां कदाचित कोई यह शंका करे कि अणुव्रतोंमें श्रावकने केवल हिंसाका ही त्याग किया है बांधने वा मारनेका त्याग नहीं किया है इसलिये किसीको बांधने वा मारनेमें भी व्रती श्रावकको कोई दोष वा अतिचार नहीं है क्योंकि हिंसाका त्यागरूप व्रत किसीके मारने वा बांधनेसे खंडित नहीं होता अर्थात् बांधने वा छडी आदिसे मारनेमें किसीकी हिंसा नहीं होती अहिंसाणुव्रतका पूर्ण पालन होता है। कदाचित् यह कहो कि हिंसाके त्याग करते समय बांधने मारने आदिका

भी त्याग कर दिया है तो फिर बाधने वा मारनेसे उसके व्रतोंका ही भग हो जायगा, क्योंकि जिसका त्याग किया था वही अपने हाथसे फिर हुआ। इसप्रकार भी बध आदिको अतिचार वा दोप नहीं कह सकते। इसके सिवाय एक बात यह भी है कि कदाचित् बध, वध, छेद आदिकोंका भी त्याग कराया जायगा तो फिर व्रतोंकी सख्याका भग हो जायगा क्योंकि प्रत्येक व्रतोंमें अतिचारोंकी सख्या बहुत है यदि उन सबका ही त्याग किया जायगा तो बहुतसे व्रत हो जायगे और फिर अणुव्रत पाच ही है ऐसा नहीं कह सकोगे। इसलिये बध, वध, छेद आदि अतिचार नहीं है यही मानना सबसे अच्छा है। परतु—

इसका समाधान इसप्रकार है कि—श्रावकने केवल हिंसाका ही त्याग किया है बधादिका नहीं परतु हिंसाके त्याग करनेसे अर्थरूपसे उनका भी त्याग हो जाता है क्योंकि बध आदि भी हिंसाके कारण है। इतना अवश्य है कि बाधने मारने आदिसे व्रतोंका भग नहीं होता किंतु व्रतोंमें अतिचार ही लगते है। इसी बातको स्पष्ट रीतिसे दिखलाते हैं। व्रत दो प्रकारके हैं एक अतरगसे त्याग करना और दूसरा बहिरगसे त्याग करना। उनमेंसे बधन आदि करनेवालेके यद्यपि "मैं इस जीवको मारता हू अथवा मारूगा" ऐसे परिणामोंका अभाव है तथापि क्रोधादि कषायोंके आवेशसे दूसरे जीवोंकी

प्राणहानिको नहीं गिनता हुआ बाधने वा मारनेमें प्रवृत्त होता है, परतु उससे उस जीवका घात नहीं होता। इसप्रकार निर्दयताके त्यागकी अपेक्षा न करके बाधने वा मारनेमें प्रवृत्त होनेसे अतरग व्रतका भग होता है और हिंसा न होनेसे बहिरग व्रतका पालन होता है। इसलिये व्रतके एकदेश भग होनेसे और एक देश पालन होनेसे बाधने, मारने आदिको अतिचार सज्ञा ही होती है। यही बात अन्य आचार्योंने भी लिखी है—जैसे—

"न मारयामीति कृतव्रतस्य विनैव मृत्यु क इहातिचार ।
निगद्यते य कुपितो वधादीन् करोत्यसौ स्यान्नियमानपेक्ष: ।
मृत्योरभावान्नियमोऽस्ति तस्य कोपाद्दयाहीनतया हि भग ।
देशस्य भगादनुपालनाच्च पूज्या अतीचारमुदाहरति ॥२॥"

अर्थात्—जिसने "मैं किसी जीवकी हिंसा नहीं करूगा" ऐसा व्रत धारण किया है उसके क्रोध करने वा [illegible] बान-नेमें कभी अतिचार नहीं हो सकते क्योंकि [illegible] वा [illegible] करनेमें किसी तरहकी हिंसा नहीं होती और [illegible] बाधने वा मारनेका त्याग ही किया है। कदाचित् [illegible] शका करे, तो उसका समाधान यह है कि क्रोध [illegible] मारना [illegible] आदि हिंसाके कारण हैं, जब यह [illegible] हुए [illegible] पशुओंके बाधने वा मारनेमें प्रवृत्त होता है [illegible]

क्रोधादि विद्यमान है परंतु अहिंसाणुव्रतको धारण करनेवाले श्रावकका अंतःकरण सर्वथा दयापूर्ण होना चाहिये और यदि वह वैसा न होकर क्रोध सहित हुआ तो यद्यपि उसके हाथसे साक्षात् हिंसा नहीं हुई है तथापि हिंसाके कारण क्रोधादि उत्पन्न होनेसे अंतरंग दयारूप व्रतका नाश हुआ और उस बंधनादि व्यापारसे प्रत्यक्ष प्राणहानि नहीं हुई। इसलिये बहिरंग व्रतका पालन हुआ। इसप्रकार एकदेशके भंग होने और एक देशके पालन होनेसे पूज्य आचार्योंने बंधादिको अतिचार कहा है।"

इसके सिवाय यह जो कहा था कि व्रतोंकी संख्याका भंग होगा सो भी ठीक नहीं है क्योंकि विशुद्ध अहिंसाणुव्रतका सद्भाव होनेसे वध बंधन आदिका स्वयमेव अभाव हो जाता है। इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि वध बंध आदि अतिचार ही हैं॥ १६॥

आगे-इसी विषयको फिर दिखलाते हैं-

न हन्मीति व्रतं क्रुध्यन्निर्दयत्वान्न पाति न।
भनक्त्यघ्नन् देशभंगत्राणात्त्वतिचरत्यधी ॥१७॥

अर्थ-जो श्रावक क्रोध करता है वह विचाररहित पुरुष "मैं इस जीवको नहीं मारूंगा" इस व्रतका पालन नहीं कर सकता, क्योंकि क्रोध करते समय उसका हृदय करुणा रहित

हो जाता है तथा क्रोध करनेसे किसी जीवका साक्षात घात होता नहीं है इसलिये वह उस व्रतका नाश भी नहीं करता है किंतु क्रोध आदि करते समय दयारहित होनेसे अतरग व्रतका भग होजाता है और प्राणघात न होनेसे बहिरग व्रतकी रक्षा बनी रहती है इसलिये एकदेशका भग और एकदेश व्रतोंकी रक्षा करनेमे वह उस व्रतमें अतिचार लगाता है ॥१७॥

आगे–अतिचार शब्दका अर्थ कहकर "भुक्तिरोध च" पद्रहवें श्लोकमें दिये हुये च शब्दसे ग्रहण किये हुये अतिचारोंको कहते हैं–

सापेक्षस्य व्रते हि स्यादतिचारोंऽशभजन ।
मत्रतत्रप्रयोगाद्या परेऽप्यूह्यास्तथात्यया ॥१८॥

अर्थ–" मैं ग्रहण किये हुये अहिंसा व्रतका भग नहीं करूगा " ऐसी प्रतिज्ञा करनेवाले श्रावकके व्रतका एक अश भग होना अर्थात् चाहे अतरग व्रतका खडन होना अथवा बहिरग व्रतका खडन होना उसव्रतमें अतिचार कहलाता है। भावार्थ—निर्दय होने आदिसे अतरग व्रतोंका खडन होना भी अतिचार है और अतरगकी प्रवृत्तिके विना प्राणघात आदि होकर बहिरग व्रतका खडन होना भी अतिचार है। यदि अतरग बहिरग दोनों तरहसे व्रतभग हो जाय तब फिर वह अनाचार कहलाता है। जबतक अतरग अथवा बहिरग इन

दोनोंमेंसे किसी अशमें भी उसका पालन होता है तबतक वह अनाचार नहीं कहला सक्ता, अतिचार ही कहलायगा। तथा पहिले कहे हुये पाच अतिचारोंके सिवाय किसीकी गतिको रोकना, बुद्धि बिगाडना, और उच्चाटन आदि दुष्ट क्रिया-ओंके सिद्ध करनेके कारण ऐसे मत्र अर्थात् जो इष्ट कार्योंके सिद्ध करनेमें समर्थ हैं और जिसके पाठ करनेसे ही सिद्धि होती है ऐसे अक्षरोंका समुदाय तथा तत्र अर्थात् ओषधि आदिकी क्रियायें, इन सबका विधिपूर्वक प्रयोग करना अर्थात् दुष्ट क्रियाओंको सिद्ध करनेकेलिये मत्र तत्र आदिका प्रयोग करना, आदि शब्दसे इन दुष्ट क्रियाओंकेलिये ध्यान धारण करना आदि भी अतिचार है। इनके सिवाय अन्य शास्त्रोंमें भी जो ऐसे बुरे व्यापार कहे हों कि जिनमें व्रतोंका एक देश [1]भग होता हो वे सब अतिचार है। अभिप्राय यह है कि जो जो व्रतको एक देश भग करनेवाले है वे सब अतिचार हैं। अतिचारोंकी जो पाच सख्या लिखी है वह लक्षणारूप है व्रतोंके सब दोष अर्थात् एक देश भग करनेवाले अभिप्राय वा क्रियायें सब इन्हीं पाचोंमें अतर्भूत हो जाती हैं ॥ १८ ॥

१—अतिक्रमो मानसशुद्धिहानि र्व्यतिक्रमो यो विषयाभिलाषा।
तथातिचार करणालसत्व भगो ह्यनाचारमिह व्रताना ॥

आगे–मन्त्र आदिसे जो बाधना छेदना आदि व्यापार किया जाता है वह भी अतिचार है ऐसा समर्थन करते हुये व्रती श्रावकको उन अतिचारोंको छोडनेकेलिये प्रयत्न करानेका उपदेश देते हैं–

मन्त्रादिनापि बधादि कृतो रज्ज्वादिवन्मल ।

तत्तथा यतनीय स्यान्न यथा मलिन व्रत ॥१९॥

अर्थ–मन्त्र तन्त्र आदिसे किये हुये बधन ताडन आदि व्यापार भी रस्सी चाबुक आदिसे किये हुये बधन ताडन आदिके समान अतिचार होते है । क्योंकि मत्र तत्र आदिसे जो बधन ताडन आदि किया जाता है उससे अहिंसा अणुव्रतमें पहिले कहे अनुसार जैसी शुद्धि होनी चाहिये वैसी नहीं होती। इसलिये व्रतोंका एकदेश भग होनेसे अतिचार गिना जाता है। अपि शब्दसे यह सूचित होता है कि रस्सी चाबुक आदिसे किये हुये बधन ताडन आदि तो अतिचार हैं ही इसमें किसी तरहका सदेह नहीं है । इसलिये व्रती श्रावकको मैत्री प्रमोद आदि भावनाओंका चितवनकर और प्रमाद रहित अपनी चेष्टाओंसे इसप्रकार प्रयत्न करते रहना चाहिये कि जिससे उसके व्रतमें कोई किसीप्रकारका अतिचार न लगे और उसके व्रत शुद्ध रीतिसे पालन हों । भावार्थ–मैत्री प्रमोद आदि भावनाओंसे अतरग व्रतका भग नहीं हो सकता और प्रमाद रहित चेष्टासे बहिरग व्रतका भग नहीं हो सकता । इसप्रकार व्रती श्रावकको निर्दोष व्रत पालन करना चाहिये ॥१९॥

आगे—अहिंसा व्रतके स्वीकार करनेकी विधि कहते हैं—

हिंस्यहिंसकहिंसातत्फलान्यालोच्य तत्त्वत ।
हिंसा तथोज्झेन्न यथा प्रतिज्ञाभगमाप्नुयात् ॥२०॥

अर्थ— जिसकी हिंसा की जाती है उसे हिंस्य कहते है, हिंसा करनेवालेको हिंसक कहते हैं, प्राणोंके वियोग करनेको हिंसा कहते हैं और हिंसा करनेसे जो कुछ नरकादि दुख मिलते हैं उसे हिंसाका फल कहते हैं। व्रती श्रावकोंको गुरु, साधर्मी और कल्याण चाहनेवालोंके साथ हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसाके फलको यथार्थ रीतिसे विचारकर अपनी शक्तिके अनुसार हिंसाका त्याग इसप्रकार करना चाहिये कि जिसमें फिर कभी भी की हुई प्रतिज्ञाका भग न हो ॥२०॥

आगे—हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसाके फलको दिखलाते हैं—

प्रमत्तो हिंसको हिंस्या द्रव्यभावस्वभावका ।
प्राणास्तद्विच्छिदा हिंसा तत्फल पापसचय ॥ २१ ॥

अर्थ—जो पुरुष क्रोध आदि कषाय सहित है वह हिंसक कहलाता है। इसका वर्णन पहिले यत्याचारमें अहिंसा महाव्रतके कथन करते समय बहुत विस्तारके साथ कह चुके है इसलिये यहापर दुबारा लिखना व्यर्थ है। इद्रिय बल आयु और श्वासोच्छ्वास इन पुद्गलके विकारोंको द्रव्यप्राण कहते हैं और चैतन्यके परिणामोंको भावप्राण कहते हैं। द्रव्यप्राण और भावप्राण

दोनोंकी हिंसा की जाती है इसलिये ये दोनों ही हिंस्य हैं। द्रव्यप्राण और भावप्राणोंका वियोग करना ही हिंसा है और पापोंका संचय होना अर्थात् अशुभ कर्मोंका बंध होना हिंसाका फल है ॥ २१ ॥

आगे—गृहस्थोंके लिये अहिंसा अणुव्रतके निर्मल रखनेकी विधि कहते हैं—

कषायविकथानिद्राप्रणयाक्षविनिग्रहात्।
नित्योदया दयां कुर्यात्पापध्वांतरविप्रभां ॥ २२ ॥

अर्थ—क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय, भक्तकथा, स्त्रीकथा, राजकथा और देशकथा ये चार विकथा, स्नेह, निद्रा, और स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र ये पांच इंद्रिया इसप्रकार ये पंद्रह प्रमाद हैं। अहिंसाणुव्रतको निर्मल रखनेवाले श्रावकको इन पंद्रह प्रमादोंको विधिपूर्वक निरोधकर बंधन छेदन आदि अतिचाररूप पाप जोकि पुण्यरूप प्रकाशके विरोधी होनेसे अंधकारके समान हैं उन्हें दूर करनेकेलिये जो सूर्यकी [1]प्रभाके समान है और जिसका नित्य उल्लास होता रहता है ऐसी दया नित्य करना चाहिये।

१–पुण्यं तेजोमयं प्राहुः प्राहुः पापं तमोमयं। तत्पापं पुंसि किं तिष्ठेद्दयादीधितिमालिनि ॥ अर्थ–पुण्य प्रकाशमय है और पाप अंधकारस्वरूप स्वरूप है ऐसा पूर्वाचार्योंने कहा है। जो पुरुष दयारूपी प्रकाशका सूर्य है ऐसे पुरुषमें अंधकाररूप कैसे रह सकता है? अर्थात् कभी नहीं।

जो खाये हुये अन्नके परिपाक होनेमें कारण है अथवा मद खेद आदि दूर करनेकेलिये जो सोना है उसे निद्रा कहते हैं। [१]स्नेहके वशीभूत होकर 'यह मेरा है मैं इसका स्वामी हू" इत्यादि दुराग्रहको स्नेह वा प्रणय वा मोह कहते हैं। मार्गविरुद्ध कथाओंको विकथा कहते हैं, वे चार हैं। इनमेंसे "लड्डू, खाजे आदि पदार्थ खानेमें अच्छे होते है, देवदत्त इन्हें अच्छीतरह खाता है, मैं भी खाऊंगा" इसप्रकारकी खाने पीनेकी कथाको भक्तकथा वा भोजनकथा कहते हैं। स्त्रियोंके अंग, हाव, भाव, वस्त्र, आभूषण आदिका वर्णन करना, उसके नेत्र अच्छे हैं वह सुंदरी है इत्यादि कहना अथवा 'कर्णाटी सुरतोपचार चतुरा लाटी विदग्धा प्रिया' इत्यादि वर्णन करना स्त्रीकथा है। हमारा राजा शूर है, कश्मीरके राजाके पास बहुतसा धन है अमुक राज्यमें बहुतसे हाथी हैं, बहुतसी सेना है वा बहुतसे घोड़े हैं इत्यादि वर्णन

१–स्नेहानुविद्धहृदयो ज्ञानचरित्रान्वितोऽपि न श्लाघ्य। दीप इवापादयिता कज्जलमलिनस्य कार्यस्य॥ अर्थ–जिसका हृदय स्नेह अर्थात् मोहसे बंधाहुआ है ऐसा पुरुष ज्ञान अथवा चारित्रको धारण करलेनेपर भी मलिन कज्जलको उत्पन्न करनेवाले दीपके समान प्रशंसनीय नहीं है। भावार्थ–जैसे स्नेह अर्थात् तेल होनेसे दीपक कज्जल उत्पन्न करता है उसीप्रकार स्नेह मोह सहित जीव भी मल उत्पन्न करता रहता है।

करना राजकथा है और दक्षिण देशमें अन्नकी उपज अधिक है वहाके निवासी भी अधिक विलासी है, पूर्वदेशमें अनेक तरहके वस्त्र गुड, शक्कर, चावल आदि होते हैं, उत्तर देशके पुरुष शूर होते हैं, घोडे तेज होते हैं, वहा गेंहू बहुत होते हैं, कुंकुम, दाख, दाडिम आदि सुलभतासे मिलते हैं, पश्चिमदेशमें कोमल वस्त्र होते हैं, ईख बहुत और पानी स्वच्छ होता है इत्यादि वर्णन करना देशकथा है। इसप्रकार ये चार विकथायें हैं। यदि ये ही कथायें रागद्वेषरहित धर्मकथाके रूपसे केवल अर्थ और काम पुरुषार्थ दिखानेकेलिये कही जाय तो विकथा नहीं कहलातीं। इसीतरह प्रणय भी यदि धर्मका विरोधी हो तो प्रमाद होता है नहीं तो नहीं। इसप्रकार इन प्रमादोंको छोडकर प्रत्येक श्रावकको दया पालन करना उचित है ॥२२॥

आगे—अहिंसाणुव्रत पालन करना कठिन है ऐसी गृहस्थकी शकाका निराकरण करते हैं—

> विश्वग्जीवचिते लोके क्व चरन् कोऽप्यमोक्ष्यत
> भावैकसाधनौ बधमोक्षौ चेन्नाभविष्यता ॥ २३ ॥

अर्थ—यदि बध और मोक्षका उत्कृष्ट प्रधान कारण आत्माके परिणाम न होते तो त्रस स्थावर जीवोंसे चारोंओरसे भरे हुये इस लोकमें कहा निवास करता हुआ यह मोक्षकी इच्छा करनेवाला कोई भी जीव मुक्त होता? भावार्थ—आत्माके

शुभ परिणाम पुण्यबंधके कारण हैं अशुभ परिणाम पापबंधके कारण हैं और शुद्ध परिणाम (शुद्धोपयोग) मोक्षके कारण हैं यदि ऐसा न माना जाय तो किसी भी जीवको मोक्ष न हो सके, क्योंकि इस लोकमें कोई भी ऐसा प्रदेश नहीं है जहां असख्यात और अनंत जीव न मरे हों। फिर ऐसे लोकमें रहकर हलन चलन आदि क्रियायें करता हुआ हिंसासे कैसे बच सकता है ? और हिंसासे बचे विना पुण्यबंध और मोक्ष कैसे हो सकता है। इसलिये आत्माके दया क्षमारूप शुभ परिणामोंसे पुण्यबंध और शुद्ध परिणामोंसे मोक्ष होता है। दया क्षमा रूप परिणाम होते हुये उसके हलन चलन आदिमें जीवोंका घात होते हुये भी हिंसा नहीं गिनी जाती क्योंकि उसके परिणाम हिंसा करनेके नहीं है, इसप्रकार दयाधर्मको धारण करनेवाले श्रावकोंके अहिंसाणुव्रत सहज रीतिसे पल सकता है। २३ ॥

इसप्रकार अतिचारोंको छोडकर अहिंसाणुव्रतके पालन करनेका उपदेश दे चुके। अब आगे—रात्रिभोजन त्याग रूप व्रतके जोरसे अहिंसाणुव्रत पालन करना चाहिये ऐसा उपदेश देते हैं—

अहिंसाव्रतरक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये ।
नक्तं भुक्तिं चतुर्धापि सदा धीरस्त्रिधा त्यजेत् ॥ २४ ॥

अर्थ—जो परिषह और उपसर्गोंसे कभी विचलित नहीं होता अर्थात् जीवोंकी रक्षा करनेमें सदा तत्पर रहता है ऐसे धीरवीर श्रावकको मूलगुणोंको निर्मल करनेकेलिये और अहिंसाणुव्रतकी रक्षा करनेकेलिये जीवनपर्यंत मन बचन कायसे रात्रिमें रोटी, दाल, भात आदि अन्न, दूध, पानी आदि पान, पेडे, बरफी आदि खाद्य और पानसुपारी आदि लेह्य इन चारों प्रकारके आहारका त्याग कर देना चाहिये। भावार्थ—व्रती श्रावकको रात्रिमें चारों प्रकारके आहारके खानेका त्याग कर देना चाहिये ॥ २४ ॥

आगे—रात्रिभोजनमें प्रत्यक्ष परोक्ष आदि अनेक दोष होनेपर भी रात्रिभोजन करनेवालोंको वक्रोक्तिसे तिरस्कार करते हुये कहते हैं—

जलोदरादिकृद्यूकाद्यकमप्रेक्ष्यजंतुक ।
प्रेताद्युच्छिष्टमुत्सृष्टमप्यश्नन्निश्यहो सुखी ॥२५॥

अर्थ—जो जीव रात्रिमें भोजन करते हैं उन्हें जलोदर कुष्ट आदि अनेक रोग उत्पन्न करनेवाले ऐसे जु कोलिक आदि जीव जिसमें मिले हुये हैं अथवा जो ऐसे अनेक तरहके कीडोंसे कलंकित है ऐसे भोजन करने पडते हैं। भोजनके साथ जू खा जानेसे जलोदर रोग हो जाता है, कोलिक खा जानेसे कुष्ट (कोढ) रोग हो जाता है मक्खी खाजाने-

से वमन हो जाता है, मुद्रिका खा जानेसे मेदाको हानि पहुचती है, यदि बिच्छु भोजनमें मिल जाय तो उस भोजनसे तालुरोग हो जाता है। कांटा वा लकडीका टुकड़ा भोजनके साथ चले जानेसे गलेमें रोग हो जाता है। भोजनमें मिला हुआ बाल यदि गलेमें लग जाय तो उससे स्वरभंग हो जाता है इसप्रकारके अनेक दोष रात्रिमें खानेसे होते हैं जो कि प्रत्यक्ष दिखाई वा सुनाई पडते हैं। ये सब प्रत्यक्ष दोष हैं, इन्हें सब कोई मानते हैं। इसके सिवाय जो अधकारमें दिखाई नहीं पडते ऐसे बहुत सूक्ष्म जीव रात्रिमें घी पानी आदिमें पड जाते हैं, लड्डू आदि भोजनोंमें मिल जाते हैं, वह भोजन भी उन्हें खाना पडता है। इसके सिवाय रात्रिमें भोजन करनेवालोंको वह भोजन रात्रिमें ही तैयार करना पडेगा और रात्रिमें भोजन बनानेसे छहों कायके जीवोंकी हिंसा अवश्य करनी पडेगी। (यदि वह दिनमें भोजन बनाता वा खाता तो जिन जीवोंका संचार दिनमें नहीं होता है ऐसे अनेक जीवोंकी हिंसा बच जाती) तथा बर्तन आदि धोनेसे अधकार वा थोडे प्रकाशमें न दिखनेवाले जलमें रहनेवाले बहुतसे जीवोंका विनाश करना पडेगा, तथा वह धोवनका जल जहां डाला जायगा वहांके चींटी कुंथु आदि बहुतसे जीवोंकी हिंसा हो जायगी। इसके सिवाय रात्रिमें पिशाच राक्षस आदि नीच व्यंतर देव फिरा करते हैं उनके स्पर्श कर लेनेसे वह भोजन अभक्ष्य हो जाता है

और वही भोजन रात्रिमें खानेवालोंको खाना पडता है। ये सब परोक्ष दोष हैं। बाहरमें दिखाई नहीं पडते परतु लगते अवश्य है। इसके सिवाय जिस वस्तुके खानेका त्याग कर दिया है वह वस्तु भी यदि भोजनमें मिल जायगी तो रात्रिमें उसका पहिचानना असभव हो जायगा और विना पहिचाने वह वस्तु भी खानी पडेगी। इसप्रकार रात्रिमें खानेवालेको यह परोक्ष दोष भी लगता है। इसतरह रात्रिमें खानेवालोंको ऊपर लिखे हुये चारप्रकारके दोष लगते हैं। रात्रिमें खानेवाला इन चारप्रकारके दोषोंसे कलकित भोजन करता हुआ भी आपको सुखी मानता है। ग्रथकार उसकोलिये आश्चर्य और दुःख प्रकाश करते है। भावार्थ—ऊपर लिखे हुये अनेक दोषोंसे कलकित ऐसा रात्रिभोजन करनेवाला पुरुष इस लोक और परलोक दोनोंमें दुःखी होता है वह कभी सुखी नहीं हो सकता। इस लोकमें उसे अनेक तरहके रोग भोगने पडते हैं और परलोकमें अनेक जीवोंकी हिंसाके पापसे दुर्गतियोंके अनेक दुख भोगने पडते हैं॥ २५॥

आगे—वनमालाका दृष्टात देकर रात्रिभोजनके दोषका महान्पना दिखलाते हैं—

त्वा यद्युपैमि न पुन सुनिवेश्य राम
लिप्ये वधादिकृदधैस्तदिति श्रितोऽपि।
सौमित्रिरन्यशपथान् वनमालयैक
]दोषशपथ किल कारितोऽस्मिन्॥ २६॥

अर्थ—"रामचद्रको पहुचाकर यदि मै फिर लौटकर तेरे समीप न आऊ तो मैं गोवध अथवा स्त्रीवध आदि पापोंसे लिप्त होऊ" ऐसी शपथें लक्ष्मणने अनेक कीं तथापि वनमालाने इसलोकमें समस्त शपथोंको छोडकर "यदि लौटकर न आवें तो रात्रिमें भोजन करनेके समान महा पाप लगे" ऐसी शपथ कहाई थी। भावार्थ– रामायणमें यह कथा इस प्रकार है कि पिताकी आज्ञासे रामचद्र सीताके साथ जब वनको निकले थे उससमय लक्ष्मण भी भाईके अटल प्रेमसे उनके ही साथ गये थे। उन तीनोंने दक्षिण देशको गमन किया था। मार्गमें लक्ष्मणने उत्तरकूर्चन नगरके महाराज महीधरकी कन्या वनमालाके साथ विवाह किया था। जब लक्ष्मण प्रियपत्नी वनमालाको छोडकर रामचद्रके साथ जाने लगे उससमय विरहसे कातर हुई और फिर लौटनेकी असमावना करती हुई उस वनमालाने लक्ष्मणसे फिर लौट आनेके-लिये शपथ करनेको कहा। लक्ष्मणने भी कहा कि–"हे प्रिये! रामचद्रको उनके इच्छानुसार स्थानम पहुचाकर और उनकी योग्य व्यवस्थाकर यदि मै लौटकर अपने दर्शनसे तुझे प्रसन्न न करू तो मुझे हिंसादि पापोंके करनेका दोष लगे," परतु वह विदुषी वनमाला इस शपथसे सतुष्ट नहीं हुई और बोली कि–हे प्रियतम! यदि आप रात्रिभोजन करनेके समान दोष लगनेकी शपथ करते हो तो मैं यहा रह सकती हू।

उत्तरमें लक्ष्मण भी " अच्छा ऐसा ही हो " कह कर रामके साथ चले गये। इसकथासे यह अच्छीतरह समझ लेना चाहिये कि रात्रिभोजन पांच महापापोंसे भी बढकर महा पाप है ॥ २६ ॥

आगे–लौकिक कार्योंको दिखाकर रात्रिभोजनका निषेध करते हैं—

यत्र सत्पात्रदानादि किंचित्सत्कर्म नेष्यते।
कोऽद्यात्तत्रात्ययमये स्वहितैषी दिनात्यये ॥२७॥

अर्थ—अनेक दोषोंसे भरी हुई ऐसी जिस रात्रिमें मिथ्यादृष्टि लोग भी सत्पात्रदान, स्नान, देवार्चन, आहूति, श्राद्ध और विशेष भोजन आदि सत्कर्म नहीं करते हैं तो इस लोक और परलोक दोनोंमें अपना हित चाहनेवाला ऐसा कौन श्रावक है जो अनेक दोषोंसे भरी हुई रात्रिमें भोजन करे ? अ अर्थात् कोई नहीं ॥ २७ ॥

आगे–दिन रात्रिके भोजनसे मनुष्योंकी उत्तम मध्यम जघन्यता कहते हैं–

भुंजतेऽह्न सकृद्वर्या द्विर्मध्या पशुवत्परे।
रात्र्यहस्तद्व्रतगुणान् ब्रह्मोद्यान्नावगामुकाः ॥२८॥

अर्थ—मुख्यतासे शुभ कर्म करनेवाले उत्तम पुरुष दिनमें एकवार भोजन करते हैं तथा मध्यम रीतिसे शुभ कर्म

करनेवाले मध्यम पुरुष दिनमें दो वार भोजन करते हैं, और पाप कर्म करनेवाले अधम पुरुष सर्वज्ञ देवके द्वारा कहे हुये रात्रि भोजन त्यागरूप व्रतके अनेक उपकार करनेवाले गुणोंको नहीं जानते हुये गाय भैंस आदि पशुओंके समान रातदिन खाते रहते हैं ॥ २८ ॥

आगे—शास्त्रोंके उदाहरणोंके विना जो ससारमें सब लोगोंके अनुभवमें आरहा है ऐसा रात्रिभोजनत्यागका विशेष फल दिखलाते हैं—

योऽत्ति त्यजन दिनाद्यन्तमुहूर्ता रात्रिवत्सदा।
स वर्ण्येतोपवासेन स्वजन्मार्द्धं नयन् कियत् ॥ २९ ॥

अर्थ—जो गृहस्थ रात्रिके समान प्रात काल सूर्योदय के अनतर दो घडी और सायकाल सूर्यास्तके पहिले दो घडी छोडकर बाकीके बचे हुये दिनमें सदा भोजन करता है, वह अपना आधा जन्म चारों प्रकारके आहारके त्यागरूप उपवाससे व्यतीत करता है अर्थात् उसने आधे जन्मतक बराबर उपवास किया ऐसा समझा जाता है, इसलिये सज्जनपुरुष उसकी कितनी स्तुति करें ? भावार्थ—वह अपार स्तुतिके योग्य है। यहापर अर्ध शब्दका अर्थ बराबर आधा अथवा कुछ अधिक आधा समझना चाहिये। क्योंकि वह सूर्योदयसे दो घडी और सूर्यास्तके पहिले दो घडीके साथसाथ रात्रिमें भोजनका त्याग करता है इसलिये उसका आधे जन्मसे कुछ अधिक भाग उपवास सहित होता है ॥ २९ ॥

आगे—रात्रिभोजनके त्यागके भोजनके अतरायोंका त्याग करना भी मूलगुणोंको विशुद्ध करनेवाला और अहिंसाव्रतकी रक्षा करनेवाला है इसलिये चार श्लोकोंमें उन्हीं श्रावकोंके भोजनके अतरायोंको कहते हैं—

अतिप्रसगमसितु परिवर्द्धयितु तप ।
व्रतबीजवृतीर्भुक्तेरतरायान् गृही श्रयेत् ॥ ३० ॥

अर्थ—व्रती गृहस्थोंको कहे हुये अतिचारोंसे और ऊपर ऊपर होनेवाली प्रवृत्तिको रोकनेकेलिये और इच्छाका निरोध करनेरूप तपश्चरणको सबतरह बढानेकेलिये बीजके समान व्रतोंकी रक्षा करनेवाले अथवा जो रक्षाके उपायस्वरूप होनेसे अहिंसाणुव्रतके स्वभावस्वरूप है ऐसे भोजनके त्याग करनेके कारणरूप अतरायोंको पालन करना चाहिये। भावार्थ—अतरायोंका त्याग करनेसे भी व्रतोंकी रक्षा और तपश्चरणकी वृद्धि होती है इसलिये भोजन करते समय उनको भी अवश्य टालना चाहिये ॥ ३० ॥

आगे—तीन श्लोकोंमें उन्हीं अतरायोंको कहते हैं—

दृष्ट्वार्द्रचर्मास्थिसुरामांसासृक्पूयपूर्वक ।
स्पृष्ट्वा रजस्वलाशुष्कचर्मास्थिशुनकादिक ॥ ३१ ॥
श्रुत्वाति कर्कशाक्रदविड्वरप्रायनि स्वन ।
भुक्त्वा नियमित वस्तु भोज्येऽशक्य विवेचनै ॥ ३२ ॥
ससृष्टे सति जीवद्भिर्जीवैर्वा बहुभिर्मृतैः ।
इद मासमितीदृक्षसकल्पे चाशन त्यजेत् ॥ ३३ ॥

नहीं करना चाहिये, परंतु यदि वह भोजनके निषेध करनेकेलिये किसीतरहका इशारा करना चाहे तो उसमें कोई दोष नहीं है ॥ ३४ ॥

आगे—मौनव्रत तपश्चरणके बढानेवाला और कल्याणोंका संचय करनेवाला है ऐसा दो श्लोकोंसे समर्थन करते हैं —

अभिमानावने गृद्धिरोधाद्वर्धयते तपः ।
मौनं तनोति श्रेयश्च श्रुतप्रश्रयतायनात् ॥३५॥

अर्थ—[२]मौनव्रत धारण करना भोजनकी लोलुपताको दूर करनेवाल है और इसी मौनव्रतसे याचना न करनेरूप व्रतकी रक्षा होतीहै इसलिये वह तपको बढाता है। तथा मौन व्रत धारण करनेसे श्रुतज्ञानका विनय होता है इसलिये वह पुण्यको भी बढाता है। इसप्रकार मौनव्रतसे दो प्रकारके लाभ होते हैं ॥ ३५ ॥

शुद्धमौनान्मनः सिध्द्या शुक्लध्यानाय कल्पते ।
वाक्सिध्या युगपत्साधुस्त्रैलोक्यानुग्रहाय च ॥३६॥

२–सर्वदा शस्यते जोषं भोजने तु विशेषतः । रसायनं सदा श्रेष्ठं सरोगत्वे पुनर्न किं ॥ अर्थ—मौनव्रत सदा प्रशंसा करने योग्य है और फिर भोजन करनेके समय तो और भी अधिक प्रशंसनीय है। रसायन (औषध) सदा हित करनेवाला है और फिर रोग होनेपर तो पूछना ही क्या है उससमय वह अधिक हित करनेवाला है ही।

अर्थ—भोजन आदिमें अतिचार रहित शुद्ध [1]मौनव्रत पालन करनेसे मन वश हो जाता है तथा मन वश होनेसे वह साधु अर्थात् सयमी मुनि अथवा देशसयमी गृहस्थ शुक्लध्यान करने योग्य हो जाता है और उसी शुद्ध मौनव्रतसे वचनकी सिद्धि होनेसे अर्थात् एक साथ तीनों लोकोंका अनुग्रह करनेमें समर्थ ऐसी सरस्वतीकी विभूति प्राप्त हो जानेसे वह गृहस्थ वा मुनि एक साथ तीनों लोकोंके भव्य पुरुषोंका उपकार करने योग्य हो जाता है ॥ ३६ ॥

---

1 सतोष भाव्यते तेन वैराग्य तेन दर्श्यते। सयम पोष्यते तेन मौन येन विधीयते ॥ अर्थ—जो मौन धारण करता है वह अपना सतोष बढाता है वैराग्य दिखाता है और सयमको पुष्ट करता है ऐसा समझना चाहिये।

लौल्यत्यागात्तपोवृद्धिरभिमानस्य रक्षण। ततश्च समवाप्नोति मन सिद्धिं जगत्त्रये ॥ अर्थ—लोलुपताका त्याग करनेसे तपकी वृद्धि होती है, किसीसे याचना नहीं करना इस अभिमानकी रक्षा होती है और उससे तीनों लोकोंमें उसका मन वश हो जाता है।

श्रुतस्य प्रश्रयाच्छ्रेय समृद्धे स्यात्समाश्रय। ततो मनुजलोकस्य प्रसीदति सरस्वती ॥ अर्थ—मौन धारण करनेसे श्रुतज्ञानका विनय होता है और उससे पुण्यकी वृद्धि होती है और उस पुण्यके निमित्तसे मनुष्यपर सरस्वती प्रसन्न होती है।

वाणी मनोरमा तस्य शास्त्रसदर्भगर्भिता। आदेया जायते येन क्रियते मौनमुज्ज्वल ॥ अर्थ—जो गृहस्थ निर्दोष मौनव्रत पालन करता

आगे-नियतसमयतक और सदा मौनव्रतके विशेष उद्यापनके निर्णय करनेकेलिये कहते हैं—

उद्योतन महेनैकघंटादानं जिनालये ।
असार्वकालिके मौने निर्वाहः सार्वकालिके ॥ ३७ ॥

अर्थ—जो मौनव्रत अपनी शक्तिके अनुसार किसी नियमित कालपर्यंत पालन किया गया है उसका उद्यापन[1] अर्थात् विशेष फल प्राप्त होनेकेलिये उसका माहात्म्य प्रगट करना चाहिये। बड़े भारी उत्सव अथवा पूजाके साथ२ अरहंत भगवानके मंदिरमें एक घंटा समर्पण करना ही उसका उद्यापन है। तथा जो मौनव्रत जन्मपर्यंत सदाकेलिये धारण किया गया है उसको जन्मपर्यंत निराकुल रीतिसे निर्वाह करना ही उसका उद्यापन[2] है ॥ ३७ ॥

है उसकी वाणी शास्त्रकी रचनासे भरी हुई, मनोहर और सबको ग्रहण करने योग्य हो जाती है।

पदानि यानि विद्यंते वंदनीयानि कोविदैः। सर्वाणि तानि लभ्यते प्राणिना मौनकारिणा ॥ अर्थ—विद्वानोंको मान्य ऐसे जितने पद हैं वे सब मौन धारण करनेवालेको स्वयं मिलजाते हैं।

१—भव्येन शक्तितः कृत्वा मौनं नियतकालिकं। जिनेंद्रभवने देया घंटैका समहोत्सवं ॥ अर्थ—भव्य श्रावकको अपनी शक्तिके अनुसार नियतकालतक मौनव्रत पालन करके उसके उद्यापन करनेकेलिये जिनमंदिरमें उत्सवके साथ एक घंटा अर्पण करना चाहिये।

२—न सार्वकालिके मौने निर्वाहव्यतिरेकतः। उद्योतनं परं प्राहुः

आगे—आवश्यकादि कार्योंमें अपनी शक्तिके अनुसार तथा सदा मौनव्रत धारण करनेसे वाणीके सब दोष नष्ट हो जाते हैं ऐसा कहते हैं—

आवश्यके मलक्षेपे पापकार्ये च वातिवत् ।
मौन कुर्वीत शश्वद्वा भूयो वाग्दोषविच्छिदे ॥३८॥

अर्थ—जिसप्रकार वातिमें आचमन (कूरला) करने तक मौन धारण किया जाता है उसीप्रकार सामायिक आदि छह कर्मोंमें, मलमूत्र निक्षेपण करनेमें, दूसरेके द्वारा हिंसादिक पापक्रिया होनेमें, च शब्दसे स्नान मैथुन आचमन आदि करनेमें देशसयमी गृहस्थको मौनव्रत धारण करना चाहिये । मुनियोंको ऊपर लिखी क्रियाओंमें जो जो क्रियायें करनी पडती हैं उनमें तथा आहारको जातेसमय और आहार लेते समय भी मौनव्रत धारण करना चाहिये । अथवा कायदोषकी अपेक्षा कठोरवचन आदि अनेक वाणीके दोषोंसे

सिंचनादि विधीयते ॥ अर्थ—मरण पर्यंत पालन किये जानेवाले मौनव्रतमें उसके निर्वाह करनेके सिवाय और कुछ उसका उद्यापन नहीं है।

३—सामायिक वा देवपूजनमें जो सामायिकपाठ वा पूजनपाठ पढा जाता है या उसे स्वय बोलना पडता है उससे मौनव्रत भग नहीं हो जाता । वह पाठ पढना तो उसके उस आवश्यक कार्यमें ही शामिल है । उस पाठके सिवाय यदि वह कुछ लौकिक बातचीत करे या किसी लौकिक बातकेलिये इशारा कर तो उससे वह मौनव्रत भग हो जाता है ।

तीन प्रकारके वचन बोलने चाहिये और असत्यासत्य लोकव्य-वहारके विरुद्ध है इसलिये उसे कभी नहीं बोलना चाहिये ॥४०॥

आगे-सत्यसत्य आदिका स्वरुप तीन श्लोकोंमें कहते हैं—

यद्वस्तु यद्देशकालप्रमाकारं प्रतिश्रुतं ।
तस्मिंस्तथैव संवादि सत्यसत्यं वचो वदेत् ॥४१॥

अर्थ—जो पदार्थ जिस देशमें जिस कालमें कहा है, जो कुछ उसका परिमाण वा संख्या कही है तथा जो कुछ उसका रंग आकार आदि कहा है उस पदार्थको उसी देश उसी कालका कहना, वही उसका परिमाण वा संख्या बतलाना और वही उसका रंग वा आकार कहना। वह जैसा है उसे वैसा ही ज्योंका त्यों यथार्थ कहना सत्यसत्य है। श्रावकको ऐसा सत्यसत्य वचन सदा बोलना चाहिये ॥४१॥

असत्यं वय वासोऽन्धो रंधयेत्यादि सत्यगं ।
वाच्यं कालातिक्रमेण दानात्सत्यमसत्यगं ॥४२॥

अर्थ—सत्याणुव्रती श्रावकको सत्यके आश्रित वाच्य अर्थात् जो लोक व्यवहारके अनुसार सत्य माने जाते है ऐसे असत्य वचन भी बोलना चाहिये। जैसे लोकमें कहते हैं "कपडे बुन" इस वाक्यमें जो बुनना क्रिया है वह कपडेपर नहीं होती किंतु तंतुओंपर (सूतपर) होती है, सूत बुने जाते हैं कपडे नहीं। इसलिये कपडेपर बुनना क्रियाका प्रयोग करना

यद्यपि असत्य है तथापि लोकमें ऐसे वाक्य बोले जाते हैं और वे असत्य नहीं माने जाते इसलिये सत्याणुव्रती श्रावकको ऐसे वाक्य बोलनेमें सत्याणुव्रतका घात नहीं होता, इसीप्रकार रसोइयेको कहते हैं " भात पका " इस वाक्यमें भी पहिलेके समान सत्यसे मिला हुआ असत्य भाषण है क्योंकि ' भात पका ' इस वाक्यमें भात शब्दका प्रयोग चावलोंके बदलेमें किया गया है, वास्तवमें चावल पकाये जाते हैं, भात नहीं, क्योंकि जब चावल पक जाते हैं और सुगध कोमल और स्वादिष्ट हो जाते हैं तब उन्हें भात कहते हैं । परतु लोक व्यवहारमें भात पकाओ ऐसा प्रयोग होता है इसलिये लोक व्यवहारके अनुसार ऐसा प्रयोग करनेमें भी सत्याणुव्रतका घात नहीं होता । इसीप्रकार ' आटा पीसो ' ' मकान बनाओ ' आदि वाक्य जानना । ये सब असत्यसत्य वाक्य हैं क्योंकि लोकमें ये बोले जाते हैं इसलिये सत्य हैं और वास्तवमें असत्य हैं इसलिये असत्यसत्य हैं । इनके बोलनेमें सत्याणुव्रतका हानि नहीं होती । इसीप्रकार जो सत्य वचन असत्याश्रित हों अर्थात् सत्यासत्य हों उनके बोलनेसे भी सत्याणुव्रतमें कुछ हानि नहीं होती इसलिये ऐसे वाक्य भी व्रती श्रावकको बोलने चाहिये । जैसे " यह वस्तु तुझे पद्रह दिनमें दूगा " ऐसा कहकर भी उस वस्तुके न मिलनेसे अथवा अन्य किसी कारणसे पद्रह दिनके बदले छह महिने वा वर्ष दिन बाद देता है ।

इसलिये " यह वस्तु तुझे पद्रह दिनमें दूंगा " यह वाक्य सत्यासत्य है, क्योंकि उसने जिस वस्तुके देनेको कहा था वह दी इसलिये उस वाक्यमें इतना सत्य है और पद्रहदिनके बदले महिने वा वर्षदिनमें दी यह असत्य है। इसप्रकार ऐसे वाक्य सत्यासत्य कहलाते हैं। ऐसे वाक्य लोकमें बोले जाते हैं इसलिये ऐसे वाक्योंसे सत्याणुव्रतका नाश नहीं होता। अतएव अणुव्रती श्रावकको ऐसे वाक्य भी कहीं कहींपर बोलना चाहिये ॥ ४२ ॥

यत्स्वस्य नास्ति तत्कल्पे दास्यामीत्यादि संविदा।
व्यवहारं विरुंधान नासत्यासत्यमालपेत् ॥ ४३ ॥

अर्थ–जो पदार्थ अपना नहीं है उसके विषयमें ऐसी प्रतिज्ञा करना कि " तुझे मैं यह पदार्थ कल दिन अवश्य दूंगा " ऐसे वाक्योंको असत्यासत्य कहते है। क्योंकि जब वह पदार्थ अपना ही नहीं है तो कल दिन वह उसे कहांसे दे सकेगा ? अर्थात् कभी नहीं इसलिये ऐसे वाक्योंसे लोक व्यवहार रुक जाता है, उसमें अनेक तरहकी बाधायें आ जाती हैं। अतएव सत्याणुव्रती श्रावकको ऐसे असत्यासत्य वाक्य कभी नहीं बोलना चाहिये। ऐसे वाक्य सत्याणुव्रतका नाश करनेवाले हैं ॥ ४३ ॥

आगे–भोगोपभोगमें काम आनेवाले झूठके सिवाय जो

पाचप्रकारका झूठ है उसका सदा त्याग करना चाहिये ऐसा कहते हैं–

मोक्तु भोगोपभोगांगमात्र सावद्यमक्षमा ।
ये तेऽप्यन्यत्सदा सर्वं हिंसेत्युज्झतु वानृत ॥ ४४ ॥

अर्थ–जो गृहस्थ समस्त अयोग्य वचनोंके त्याग करनेमें असमर्थ हैं वे भोगोपभोगके साधन मात्र झूठको बोल सकते हैं यह बात वा शब्दसे सूचित होती है । वा अर्थात् बहुत कहनेसे क्या ? जो गृहस्थ भोजन आदि भोग और स्त्री वस्त्र आदि [1]उपभोग इन दोनोंके साधन ऐसे 'खेत जोत' इत्यादि प्राणियोंकी हिंसा करनेवाले [2]पापसहित वचनोंको छोड नहीं

१–भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्य । उपभोगोऽशनवसनप्रभृतिपचेंद्रियो विषय ॥ अर्थ–जो भोजन, गंध, माला आदि पचेंद्रियोंके ऐसे विषय हैं कि जो भोगकर छोड दिये जाते हैं जिनका भोग फिर नहीं हो सकता उन्हें भोग कहते हैं, और जो वस्त्र स्त्री आदि ऐसे विषय हैं कि जो वेही बार बार भोगनेमें आते हैं उन्हें उपभोग कहते हैं ।

२–यह भूमि मेरी है, मैं इस खेतको जोतता हूं किंवा जोतूंगा इत्यादि वाक्योंको पापसहित वचन कहते हैं । क्योंकि यह भूमि मेरी है ऐसा कहनेसे उस भूमि संबंधी होनेवाली हिंसा भी उसीको लगती है, 'मैं जोतता हूं' 'तू जोत' ऐसा कहनेमें जोतनेमें जो हिंसा होगी उसका भागी यह होगा ही और हिंसा होना वा कराना पाप है वह पाप जिन वचनोंसे सूचित होता है वे सब पापसहित वचन कहलाते हैं ।

सकते ऐसे धर्मात्मा पुरुषोंको जितने झूठ हैं वे सब हिंसाके पर्याय होनेसे [1]हिंसास्वरूप ही हैं क्योंकि जैसा प्रमत्तयोग हिंसामें है वैसा ही इन नीचे लिखे हुये असत्योंमें होता है यही समझकर भोगोपभोगोंके साधन ऐसे पापसहित वचनोंके सिवाय सदलपन आदि पाच प्रकारके जो झूठ हैं उन सबका त्याग सदाकेलिये कर देना चाहिये। यहापर इतना और समझ लेना चाहिये कि प्रमत्तयोगके विना जहा हेय उपादेयका उपदेश दिया जाता है वहापर श्रोताको बुरा लगनेपर भी असत्य नहीं है। इसपरसे किसीने जो यह कहा है कि "सा मिथ्यापि न गीर्मिथ्या या गुर्वादिप्रसादिनी" अर्थात् "जो गुरु आदिको प्रसन्न करनेवाली वाणी है वह यदि मिथ्या (झूठ) भी हो तथापि वह मिथ्या नहीं गिनी जाती" इसका भी ग्रहण कर लेना चाहिये क्योंकि उसमें भी प्रमत्तयोग नहीं है।

१—असत्य भाषणको हिंसा इसप्रकार समझना चाहिये कि असत्य और हिंसा इन दोनोंमें दूसरेके चित्तको दुःख पहुचानेवाले समान परिणाम होते हैं तथा प्रमत्तयोग अर्थात् कषायसहित मन वचन कायकी प्रवृत्ति भी दोनो भी समान है। जिसप्रकार रागद्वेषके अभाव होनेपर जीवके प्राणोंका घात होते हुये भी हिंसा नहीं गिनी जाती उसीप्रकार राग द्वेष आदि कषायोंके अभाव होनेपर झूठ वचन भी असत्य नहीं माने जाते। लिखा है—

हेतौ प्रमत्तयोगे निर्दिष्टे सकलवितथवचनानां। हेयानुष्ठानादे-रनुवदनं भवति नासत्यं॥ सब प्रकारके झूठ बोलनेमें प्रमत्तयोग ही

सदलपन, असदुद्भावन, विपरीत, अप्रिय, और गर्हित ऐसे पाच प्रकारके असत्य वचन हैं। उसमेंसे 'आत्मा कोई पदार्थ नहीं है' ऐसे वचनोंको सदलपन कहते हैं क्योंकि ऐसे वचनोंमें वास्तवमें जिसकी सत्ता है और जिसके द्वारा वह कह रहा है ऐसे आत्माका अपलपन अर्थात् निषेध किया गया है। "यह आत्मा समस्त जगतमें व्याप्त है अथवा चावलकी कणिकाके समान है" ऐसे वचनोंको असदुद्भावन कहते हैं। क्योंकि ऐसे वाक्योंमें आत्माका जो परिमाण कहा गया है वह वास्तविक नहीं है। इसलिये जिन वचनोंसे वास्तविक न होने पर भी कल्पना किया जाता है ऐसे वचनोंको असदुद्भावन कहते हैं। गायको घोडा कहना विपरीत है। कानेको काना कहना अप्रिय है। क्योंकि काने मनुष्यको काना कहना अप्रिय लगता है। और वेश्यापुत्र! विधवापुत्र! आदि कहना गर्हित वा निंद्य वचन हैं, इन्हें साक्रोश भी कहते हैं। ये पाचप्रकारके असत्य वचन व्रतीश्रावकको अवश्य छोड देने चाहिये ॥ ४४ ॥

कारण बतलाया है इसलिये हेय उपादेय आदि अनुष्ठानोंका कहना भी झूट नहीं होता। भावार्थ-झूठवचनके त्यागी महामुनि बारबार हेयोपादेयका उपदेश देते हैं उनके पापनिंदक वचन पापी जीवोंको तीरसे अप्रिय लगते हैं उन्हें सुनकर सैकडों पापी जीव दुखी होते हैं परन्तु उन मुनिराजको असत्य भाषणका दोष नहीं लगता, क्योंकि उनके वचनोंमें कषाय और प्रमाद नहीं है।

आगे—सत्याणुव्रतके पाच अतिचार छोड देनेकेलिये कहते हैं—

मिथ्यादिशं रहोभ्याख्यां कूटलेखक्रियां त्यजेत्।
न्यस्तांशविस्मर्त्रनुज्ञां मन्त्रभेदं च तद्व्रतः ॥ ४५ ॥

अर्थ—सत्याणुव्रत पालन करनेवाले श्रावकको मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्या, कूटलेखक्रिया न्यस्तांशविस्मर्त्रनुज्ञा, और मन्त्रभेद इन पाचों अतिचारोंका त्याग कर देना चाहिये ।

मिथ्यापदेशको ही मिथ्यादिक् कहते है । स्वर्गमोक्षकी साधन ऐसी विशेष विशेष क्रियाओंमें किसी दूसरे पुरुषकी विपरीत प्रवृत्ति करानेको मिथ्योपदेश कहते हैं । जैसे स्वर्ग किसतरह मिलता है, मोक्षका कारण क्या है, इत्यादि विषयमें किसीको सदेह हुआ और उसके दूर करनेकेलिये उसने पूछा तो अज्ञानसे ही स्वर्ग मोक्ष मिलता है इत्यादि विपरीत कथन करना मिथ्योपदेश है । अथवा सत्याणुव्रती श्रावकको दूसरेको दु ख पहुचानेवाले वचन कहना असत्य ही है । इसलिये प्रमादसे अथवा द्वेषसे जिनवचनोंसे दूसरोंको दु ख पहुचता हो ऐसे वचन कहना सत्याणुव्रतीकेलिये अतिचार है। जैसे ' इन घोड़े ऊटोंपर बोझा लादो ' ' चोरको मारो ' इत्यादि निष्प्रयोजन वचन कहना अथवा किसी विवादमें दूसरेको फसानेकी युक्ति स्वय कहना अथवा किसी अन्यसे कहलवाना आदि सब मिथ्योपदेश है ।

रहोभ्याख्या—जिसके प्रकाश करनेसे उन दोनों स्त्रीपुरुषोंको अथवा अन्य स्त्री पुरुषोंको तीव्र राग वा क्रोध उत्पन्न हो ऐसी किसी एकांत स्थानमें स्त्रीपुरुषोंके द्वारा की हुई गुप्त क्रियाओंको प्रकाश कर देना रहोभ्याख्या है। यदि हसी खेल आदिमें ही ये गुप्त क्रियायें प्रकाश की जाय तो अतिचार है। यदि ये ही गुप्त क्रियायें किसी दोषको प्रगट करनेके अभिप्रायसे की जाय तो फिर उसका सत्याणुव्रत ही भग हो जाता है, ऐसा समझना चाहिये।

कूटलेखक्रिया—किसी पुरुषने जो वचन नहीं कहा है अथवा जो काम नहीं किया है उसको किसी अन्य पुरुषकी प्रेरणासे फसाने वा ठगनेकेलिये " इसने ऐसा कहा है अथवा ऐसा काम किया है " ऐसे वाक्य लिखना कूटलेखक्रिया है। अथवा किसी दूसरे पुरुषके अक्षरोंके समान अक्षर लिखना वा मोहर बनाना आदि भी किसीके मतमें कूटलेखक्रिया मानी जाती है।

न्यस्तांशविस्मर्त्रनुज्ञा—किसी पुरुषके द्वारा रक्खे हुये सुवर्ण आदि द्रव्यके कुछ अश भूलजानेपर उसे देते समय वैसी ही समति वा आज्ञा देना न्यस्तांशविस्मर्त्रनुज्ञा है। जैसे जिनदत्तने धनदत्तके पास पाच हजार रुपये जमा किये थे, कुछ दिन बाद जिनदत्त अपने रुपये लेने आया परतु वह अपने रुपयोंकी सख्या भूल गया था और पाच हजारकी

जगह चार हजार स्मरण रहे थे, इसलिये उसने धवलदत्तके पास जाकर चार हजार रुपये मागे। धवलदत्तको मालूम है कि इसके पाच हजार रुपये जमा हैं तथापि " हा भाई, तू अपने सब रुपये ले जा " ऐसा कह कर उसे चार हजार रुपये ही दिलानेकी समति देना न्यस्तांशविस्मर्त्रनुज्ञा नामका अतिचार है इसीको न्यासापहार कहते हैं।

मत्रभेद—किसी शरीरके विकारसे अथवा भौंह चलाना आदिसे दूसरेके अभिप्रायको जानकर ईर्ष्या अथवा द्वेषसे उसे प्रगट करना अथवा अपनेमें विश्वास रखनेवाले मित्रोंने अपने साथ जो लज्जा आदि करनेवाली बातचीत की है उसे प्रकाश कर देना मत्रभेद है।

श्री सोमदेवने अपने यशस्तिलकचपूमें " मन्त्रभेद परीवाद. पैशुन्य कूटलेखन। मुधासाक्षिपदोक्तिश्च सत्यस्यैते विघातका " अर्थात् " मत्रभेद, निंदा, चुगली खाना, झूठे लेख लिखना और मिथ्या साक्षी देना " ऐसे पाच अतिचार कहे हैं। तथा स्वामी समतभद्राचार्यने भी इसीप्रकार कहे हैं। ये अतिचार ऊपर लिखे हुये मिथ्योपदेश आदि अतिचारोंसे भिन्न हैं तथापि वे सब " परेऽप्यूह्यास्तथात्यया " अर्थात् " इसीप्रकारके और भी अतिचार कल्पना करलेना " इस इसी अध्यायके अठारहवें श्लोकके वाक्यसे ग्रहण किये जाते हैं। भावार्थ—सत्याणुव्रतीको ये सब अतिचार छोड देने चाहिये॥४५॥

आगे-अचौर्याणुव्रतका लक्षण कहते हैं-

चौरव्यपदेशकरस्थूलस्तेयव्रतो मृतस्वधनात्।
परमुदकादेश्चाखिलभोग्यान्न हरेद्दीत न परस्वा॥४६॥

अर्थ-जिसने स्थूल चोरीका त्याग किया है अर्थात् यह चोर है, यह धर्मपातकी है, यह हिंसक है इत्यादि नाम धरानेवाली चोरीको स्थूल चोरी कहते हैं अथवा किसीकी दीवाल फोडकर वा और किसीतरह विना दिया हुआ दूसरेका धन ले लेना भी स्थूलचोरी है ऐसी स्थूलचोरीका जिसने त्याग कर दिया है ऐसे अचौर्याणुव्रती श्रावकको जिसके पुत्र पौत्र आदि कोई संतान नहीं है, जो विना संतान छोडे ही मर गया है ऐसे मेरे हुये भाई भतीजे आदि कुटुंबी पुरुषके धनको छोडकर तथा जल घास मिट्टी आदि पदार्थ जोकि सार्वजनिक हैं जिनको यहाके सबलोग अथवा दूसरी जगहसे आये हुये लोग भी अपनी इच्छानुसार काममें लाते हैं, जिन्हें काममें लानेके लिये राजा वा उसके स्वामीने सामान्य आज्ञा दे रक्खी है ऐसे पदार्थोंको छोडकर बाकी सब दूसरेका विना दिया हुआ चेतन अचेतनरूप द्रव्य न तो स्वयं ग्रहण करना चाहिये और न उठाकर किसी दूसरेको देना चाहिये। भावार्थ-अचौर्याणुव्रती श्रावक जिनका कोई और वारिस नहीं है ऐसे मरे हुये कुटुंबी पुरुषोंका धन विना दिया हुआ भी ले सकता है परंतु उनके जीवित रहते हुये उनके धनको विना

दिये नहीं ले सकता। जो द्रव्य अपने लिये दे दिया गया है वह फिर दूसरेका नहीं कहला सकता, फिर वह अपना ही कहा जाता है। इसीप्रकार पानी, घास, मिट्टी आदि साधारण सबके काममें आने योग्य पदार्थोंको भी अचौर्याणुव्रती विना दिये ले सकता है क्योंकि उस पदार्थको सबके लेनेकेलिये उसके स्वामीकी साधारण आज्ञा है और उस पदार्थको लेनेसे वह चोर वा पापी भी नहीं कहा जा सकता। इसलिये इन दो तरहके पदार्थोंको छोडकर बाकी सब तरहके दूसरेके पदार्थोंको अचौर्याणुव्रती न स्वयं लेता है और न उठाकर किसीको देता है ॥ ४६ ॥

आगे-प्रमत्तयोगसे विना दिये हुये एक तृणको भी ग्रहण करने अथवा उठाकर किसीको देनेसे अचौर्यव्रत भंग हो जाता है ऐसा कहते हैं—

संक्लेशाभिनिवेशेन तृणमप्यन्यभर्तृकं।
अदत्तमाददानो वा ददानस्तस्करो ध्रुवं ॥४७॥

अर्थ—जो पुरुष संक्लेश परिणामोंसे अर्थात् यह पदार्थ मुझे चाहिये ऐसे लोभ अथवा उसकी हानि करनेरूप द्वेषसे विना दिये हुये दूसरेके तृण आदि नकुछ पदार्थ भी ग्रहण करता है अथवा उठाकर दूसरेको दे देता है वह अवश्य ही चोर है, ऐसा करनेसे उसका अचौर्यव्रत नष्ट हो जाता है। इससे इतना और

समझ लेना चाहिये कि जब लोभ वा द्वेषसे तृण ग्रहण करता हुआ भी चोर है तब यदि वह उसी लोभ वा द्वेषसे सुवर्ण आदि कीमती पदार्थ ग्रहण करे अथवा उठाकर किसीको दे देवे तो वह अवश्य चोर है ही, इसमें कोई संदेह नहीं है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि जब वह प्रमत्तयोगसे विना दीहुई किसीकी वस्तु लेगा या किसीको देगा तो चोर है। यदि विना प्रमत्त-योगके विना दी हुई कोई वस्तु ग्रहण भी करले तथापि वह चोर नहीं है जैसे महामुनि प्रमत्तयोगके विना विना दिये हुये कर्म वर्गणाओंको ग्रहण करते हुये भी वे चोर नहीं कहलाते ॥४७॥

आगे—जो धन पृथ्वीमें गढा है या ऐसा ही कहीं पडा है वह भी राजाका है उसके भी न लेनेका नियम करना चाहिये ऐसा कहते हैं–

न स्वामिकमिति ग्राह्यं निधानादि धनं यतः ।
धनस्यास्वामिकस्येह दायादो मेदिनीपतिः ॥४८॥

अर्थ—अचौर्याणुव्रती श्रावकको इसका स्वामी कोई नहीं है इसलिये यह दूसरेका द्रव्य नहीं है ऐसा समझकर जो द्रव्य नदी, गुफा गढ्ढा वा खानि आदिमें रक्खा है उसे भी नहीं लेना चाहिये। क्योंकि जिसका कोई स्वामी नहीं है ऐसे धनका साधारण स्वामी राजा माना जाता है ॥४८॥

आगे—जो द्रव्य अपना ही है, परन्तु यदि उसके अपने

होनेमें सदेह हो तो उसके भी न लेनेका नियम करना चाहिये ऐसा कहते हैं–

स्वमपि स्व मम स्याद्वा न वेति द्वापरास्पद ।
यदा तदादीयमान व्रतभगाय जायते ॥४९॥

अर्थ—जिससमय अपने द्रव्यमें भी " यह द्रव्य मेरा है या नहीं " ऐसा सदेह हो उससमय यदि वह उस अपने द्रव्यको भी स्वय लेता है या अन्य किसीको दे देता है तो उसके अचौर्याणुव्रतका भग हो जाता है । भावार्थ—जिस द्रव्यमें मेरा है या नहीं ' ऐसा सदेह हो तो उसे भी नहीं लेना चाहिये ॥ ४९ ॥

आगे–अचौर्याणुव्रतके अतिचार छोडनेकेलिये कहते हैं–

चौरप्रयोगचौराहृतग्रहावाधिकहीनमानतुल ।
प्रतिरूपकव्यवहृतिं विरूद्धराज्येऽप्यतिक्रम जह्यात् ॥५०॥

अर्थ–अचौर्याणुव्रती श्रावकको चौरप्रयोग, चौराहृतग्रह, अधिक हीनमानतुला, प्रतिरूपकव्यवहृति और विरूद्धराज्यातिक्रम ये पांचों अतिचार छोड देने चाहिये ।

चौरप्रयोग–जो पुरुष स्वय चोरी करता है अथवा किसी अन्यकी प्रेरणासे चोरी करता है उसे ' तू चोरी कर" इसप्रकार प्रेरणा करना, अथवा जिसको चोरी करनेकी प्रेरणा की है उसे चोरी करनेमें " यह तू बहुत अच्छा करता है " ऐसी

अनुमति देना, तथा चोरी करनेके साधन कुसा, कैंची, कमद, आदि पदार्थ देना अथवा ऐसे पदार्थ बेचना आदिको चौरप्रयोग कहते हैं। यद्यपि जिसने "मैं चोरी नहीं करूगा और न कराऊंगा" ऐसा व्रत स्वीकार किया है उसका अचौर्य-व्रत ऊपर कहे हुये चौरप्रयोगसे भग हो जाता है फिर भी इसको अतिचार कहा है इसका कारण यह है कि "तुम विना व्यापारके व्यर्थ ही क्यों बैठे रहते हो ? यदि तुम्हारे पास कुछ खाने पीनेको नहीं है तो मैं देता हू, तुम्हारी लाई हुई वस्तुको खरीदनेवाला यदि कोई नहीं है तो मुझे दे जाना, मैं बेच दूगा" इसप्रकारके वचनोंसे चोरोंको चोरी करनेमें प्रेरणा करता है। उनको स्पष्ट रीतिसे नहीं कहता कि तुम चोरी करो परतु चोरको उद्देशकर ऐसे वाक्य कहता है कि जिन्हें सुनकर वे चोरी करनेमें लग जाय परन्तु वह स्वय ऐसी कल्पना करता है कि मैने व्यापार करनेकेलिये ये पदार्थ मगाये हैं' इसप्रकार अतरग व्रतका भग और बाह्यव्रतका अभग होनसे चौरप्रयोगको अतिचार कहा है।

चौराहृतग्रह—जिसको चोरी करनेकी प्रेरणा भी नहीं की है और न जिसकी अनुमोदना ही की है ऐसा चोर यदि सुवर्ण वस्त्र आदि द्रव्य लावे और वह मूल देकर खरीद लिया जाय अथवा अधिक लेलिया जाय तो उसे चौराहृतग्रह कहते हैं। चोरके द्वारा लाया हुआ पदार्थ अधिक मूल्यका होकर भी गुप्त रीतिसे

(छिपकर) थोडेसे मूल्यमें ले लिया जाता है अथवा तरजूमें पासगकर अधिक ले लिया जाता है, इसलिये लेनेवाला चोर गिना जाता है और इसतरह उसके बाह्यव्रतका भग हो जाता है। परतु लेनेवाला यह ही समझता है कि मैं यह व्यापार करता हू, चोरी नही, इसप्रकार उसके अतरग व्रतका भग नही होता। इसतरह चोराहृतग्रहमें व्रतका भग और अभग दोनों होनेसे वह अतिचार गिना जाता है।

अधिकहीनमानतुला---सेर पायली गज हाथ आदि मापनेको मान कहते है और तोलनेको उन्मान वा तुला कहते है। कोई पदार्थ दूसरेको देते समय छोटे मापसे नापना अथवा हलके बजनसे तौलना और लेतेसमय बडे मापसे नापकर लेना वा भारी बजनसे तौलकर लेना अधिक हीनमानतुला कहलाता है यह भी भगाभगस्वरूप होनेसे अतिचार होता है।

प्रतिरूपक व्यवहृति---किसी अधिक कीमती वस्तुमें उसीके सदृश कम कीमती कोई अन्य पदार्थ मिलाकर बेचना या व्यवहार करना प्रतिरूपकव्यवहृति कहलाती है। जैसे चावलोंमें पलजि, घीमें चर्बी वा तेल, हींगमें गोंद, तेलमें मूत्र, असली सोना चादीमें नकली सोना चादी आदि मिलाकर असलीके भावसे बेचना प्रतिरूपकव्यवहृति है अधिकहीनमान-

तुला और प्रतिरूपकव्यवहृति इन दोनोंसे दूसरेका अधिक द्रव्य लिया जाता है इसलिये चोरी होनेसे दोनोंसे ही व्रतका भग होता है परतु इन दोनोंको करनेवाला ऐसा समझता है कि किसीका घर फोडकर माल निकाललेना ही चोरी है, यह चोरी थोडे ही है, यह तो व्यापारकी एक कला वा चतुराई है, यह व्यापारकी चतुराई मैं करता हू, चोरी नहीं। इसप्रकार अपने परिणामोंसे अचौर्यव्रतकी रक्षा करनेकेलिये वह सदा तैयार रहता है इसलिये उसका अतरग व्रत भग नहीं होता। इसप्रकार व्रतका भग अभग दोनों होनेसे अधिकहीनमानतुला और प्रतिरूपकव्यवहृति ये दोनों ही अतिचार है।

विरुद्ध राज्यातिक्रम--किसी राजाका छत्र भग होनेपर वा राज्य नष्ट होनेपर अथवा उसपर किसी बलवान राजाका आक्रमण होनेपर उचित न्यायसे अन्यथा अर्थात् अनुचित प्रवृत्ति करना, अधिक कीमती वस्तु कम कीमतमे लेना अथवा कम किमती वस्तु अधिक किमतमें बेचना आदिको विरुद्ध राज्यातिक्रम कहते है अथवा परस्पर द्वेष करनेवाले राजाओंकी जो भूमि और सेना आदि नियमित है उसे विरुद्ध राज्य कहते हैं उसका उल्लघन करना अर्थात् उन दोनोंके परस्पर किये हुये नियमोंको तोडना वा उनके नियमोंके विपरीत चलना विरुद्ध राज्यातिक्रम है। जैसे किसी एक राज्यमें रहनेवाले मनुष्यको उसके विरुद्धवाले दूसरे

राज्यमें भेजदेना अथवा दूसरे राज्यके किसी मनुष्यको अपने राज्यमें बुला लेना। यद्यपि एक राज्यसे दूसरे राज्यमें जानेमें कोई दोष नहीं है परतु वह राजाकी आज्ञानुसार नहीं गया है। लोकमें इसप्रकार स्वामीकी आज्ञाके विना विरुद्धराले राज्यमें जानेवाले लोगोंको चोरी करनेका ही दड दिया जाता है क्योंकि स्वामीकी आज्ञा विना नियमित कामसे बाहर काम करना चोरी गिनी जाती है। इसलिये परस्पर द्वेष रखनेवाले राज्योंमेंसे विना राजाकी आज्ञाके एक दूसरेके राज्यमें जाना अथवा छत्रमग आदि होनेवाले विरुद्ध राज्यमें कीमती पदार्थ कम कीमतमें लेना वा कम कीमती अधिक कीमतमें बेचना आदि कामोंसे अचौर्यव्रतका भग होता है परतु एक राज्यसे दूसरे राज्यमें जानेवाला समझता है कि मैंने कुछ चोरी नहीं की है मैं केवल व्यापार करनेके लिये यहा आया हू चोरीके लिये नहीं, इसप्रकार वह अपने व्रतोंकी रक्षा करनेमें भी तत्पर रहता है। तथा कीमती वस्तुको कम कीमतमें लेनेवाला वा कम कीमती वस्तुको अधिक कीमतमें बेचनेवाला भी समझता है कि मैं यह व्यापार करता हू चोरी नहीं, इसप्रकार उसके परिणामोंसे व्रतोंकी रक्षा भी होती है तथा ऐसे काम करनेवालोंको ससारमें भी कोई चोर नहीं कहता इसलिये उसके अतरग व्रतोंका भग नहीं होता। इसप्रकार अचौर्यव्रतका भग और अभग होनेसे विरुद्धराज्यातिक्रम भी अतिचार ही गिना जाता है।

अथवा इसप्रकार समझना चाहिये कि चौरप्रयोग आदि पाचो ही स्पष्ट चोरी हैं परतु यदि वे किसीके सवधसे किये जाय अथवा किसी अन्य प्रकारसे किये जाय तो वे अतिचार कहलाते हैं ।

यहापर कोई कोई ऐसी शका करते हैं कि ऊपर लिखे हुये चौर्यप्रयोग आदि पाचो ही अतिचार राजा और राजसेवकोंके सभव नहीं हो सकते परतु उनका यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि पहिला और दूसरा अर्थात् चोरप्रयोग और चौराहृतग्रह ये दो तो राजाओंके तथा राजसेवकोंके सहज हो सकते है । तीसरा और चौथा अर्थात् अधिक हीनमानतुला और प्रतिरुपकव्यवहृति ये दोनों भी उनके हो सकते हैं । जब राजा अपने खजाने अथवा भडार आदिकी तौल माप करता है अथवा सेवकोंसे कराता है उससमय उससे तथा उसके सेवकोंसे अधिक हीनमानतुला अतिचार हो सकता है । तथा जब राजा अपनी किसी वस्तुके बदले दूसरी वस्तु खरीदता है अथवा और कोई वस्तु खरीदता वा बेचता है उससमय उन दोनोंके प्रतिरूपकव्यवहृति अतिचार सभव हो सकता है । इसीप्रकार विरुद्धराज्यातिक्रम भी हो सकता है । जब कोई शूर पुरुष किसी राजाकी सेवा करता है वह यदि किसीतरह अपने स्वामीके विरुद्ध राजाकी सहायता करे तो उसके विरुद्ध राज्यातिक्रम अतिचार लगता है । जब कोई माडलिक राजा

अपने सम्राट्के विरुद्ध किसी अन्य राजाकी सहायता करता है तब उसके विरुद्ध राज्यातिक्रम अतिचार होता है।

श्री सोमदेव आचार्यने अधिक तौलना वा मापना और कम तौलना वा मापना इन दोनोंको अलग अलग दो अतिचार माने हैं। उन्होंने लिखा है—" मानवन्न्यूनताधिक्ये स्तेनकर्म ततो ग्रह । विग्रहे संग्रहोऽर्थस्यास्तेयस्यैते निवर्तका ॥ " अर्थात्—" जो वस्तु तौलने वा नापने योग्य है उसे देते समय कम तौलकर वा कम नापकर देना, लेते समय अधिक तौलकर वा अधिक मापकर लेना, चोरी कराना, चोरसे चुराये हुये पदार्थको लेना वा खरीदना और युद्धके समय पदार्थोंका संग्रह करना ये पाच अचौर्यव्रतके अतिचार हैं ॥ ५० ॥

आगे—स्वदारसंतोष अणुव्रतको स्वीकार करनेकी विधि कहते हैं—

प्रतिपक्षभावनैव न रतौ रिरंसारुजि प्रतीकार ।
इत्यप्रत्ययितमना श्रयत्वहिंस्र स्वदारसंतोष ॥ ५१ ॥

अर्थ—" स्त्रीके संभोग करनेकी इच्छा होना एक प्रकारका रोग है और उसके दूर करनेका उपाय उस इच्छाके प्रतिकूल ब्रह्मचर्यकी भावना है अर्थात् चित्तमें ब्रह्मचर्यव्रतका बारबार चिंतवन करनेसे ही स्त्रीके साथ संभोग करनेकी इच्छारूप रोगका नाश हो जाता है स्त्रीके साथ संभोग करनेसे वह नष्ट नहीं होता " ऐसा दृढ निश्चय जिसके अंत करणमें नहीं हुआ है ऐसे थोडीसी हिंसा करनेवाले अणुव्रती श्रावकको स्वदारसंतोषव्रत धारण करना चाहिये, अर्थात् उसे

केवल अपनी ही स्त्रीमें अथवा केवल अपनी ही स्त्रियोंके द्वारा मैथुनरूप रोगका शांतिकर शरीर और मनका स्वास्थ्य संपादन करना चाहिये । भावार्थ–जो ब्रह्मचर्यव्रत धारण नहीं कर सकता उसे स्वदारसंतोषव्रत स्वीकार करना चाहिये ॥ ५१ ॥

आगे–स्वदारसंतोष किसके हो सकता है सो कहते हैं–

सोऽस्ति स्वदारसंतोषी योऽन्यस्त्रीप्रकटस्त्रियौ।
न गच्छत्यंहसो भीत्या नान्यैर्गमयति त्रिधा॥५२॥

अर्थ—परिगृहीत अथवा अपरिगृहीत दूसरेकी स्त्रीको अन्यस्त्री कहते हैं, जो स्त्री अपने स्वामीके साथ रहती हो उसे परिगृहीत कहते हैं और जो स्वतंत्र हो अथवा जिसका पति परदेश गया हो ऐसी कुलांगना अनाथ स्त्रीको अपरिगृहीता कहते हैं । कन्याकी गिनती भी अन्यस्त्रीमें है, क्योंकि उसका पति होनेवाला है अथवा माता पिता आदिकी परतंत्रतामें रहती है इसलिये वह सनाथ अन्यस्त्री गिनी जाती है ।

वेश्याको प्रकटस्त्री कहते हैं । जो पुरुष केवल पापके भयसे मन वचन कायसे, कृत कारितसे अथवा अनुमोदनासे भी अन्यस्त्री और वेश्याओंको सेवन नहीं करता है और न परस्त्री-लंपट पुरुषोंको सेवन करानेकी प्रेरणा करता है वह गृहस्थ स्वदारसंतोषी कहलाता है अर्थात् जो अपनी धर्मपत्नीमें ही संतोष रखता हो, मैथुनसंज्ञाके प्रतीकार करनेकी इच्छासे केवल अपनी ही स्त्रीको सेवन करनेरूप स्वदारसंतोष अणुव्रत

को धारण करता हो वही स्वदारसतोषी है। ऊपर जो केवल पापके भयसे अन्य स्त्री और वैश्याओंको सेवन नहीं करता" ऐसा लिखा है उसका अभिप्राय यह है कि यदि वह राजा आदिके भयसे परस्त्री वा वेश्याका त्याग करे तो वह स्वदार सतोषी नही हो सक्ता।

यहापर इतना और समझ लेना चाहिये कि जो मद्य मास मधु और पाचों उदबरोंके त्यागरुप अष्ट मूलगुणोंको अतिचार रहित पालन करता है और विशुद्ध सम्यग्दृष्टी है उसीकेलिये यह कथन है, जो पुरुप स्वस्त्रीके समान साधारण स्त्रियोंका (वेश्याओंका) भी त्याग नहीं कर सकता, केवल परस्त्रीका ही त्याग करता है वह भी ब्रह्मचर्याणुव्रती माना जाता है। इसका भी कारण यह है कि ब्रह्मचर्याणुव्रत दो प्रकारका है एक स्वदारसतोष और दूसरा परस्त्रीत्याग। ससारमें अपनी स्त्रीके सिवाय दो प्रकारकी स्त्रिया है एक अन्यस्त्री और दूसरी वेश्या वा प्रकटस्त्री। इन दोनोंके त्यागकी अपेक्षासे ब्रह्माचर्याणुव्रत भी दो प्रकारका हो जाता है। जो दोनोंको त्याग करता है वह स्वदारसतोषी हैं और जो केवल परस्त्रीका त्याग करता है वह परस्त्रीत्यागी [1]कहलाता

१–श्री समतभद्रस्वामीने भी कहा है–" न च परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पापभीतेर्यत्। सा परदारनिवृत्ति स्वदारसतोष नामापि ॥ " अर्थात्–" जो पापके भयसे परस्त्रीसेवन नहीं करता और न दूसरोंको सेवन करनेकी प्रेरणा करता है उसका वह परस्त्रीत्याग व्रत कहलाता है और वह स्वदार सतोषरूपसे भी होता है। "

है । उनमेंसे जिसको देशसयमका खूब अभ्यास है ऐसे नैष्ठिक श्रावकको पहिला स्वदारसतोष व्रत होता है और जो देशसयमके अभ्यास करनेकेलिये तैयार हुआ है अथवा जो उसका साधारण अभ्यास कर रहा है उसके दूसरा परस्त्रीत्याग अणुव्रत होता है । श्री सोमदेव आचार्यने भी यही बात कही है–"वधूवित्तस्त्रियो मुक्त्वा सर्वत्रान्यतज्जने। माता स्वसा तनूजेति मतिर्ब्रह्म गृहाश्रमे ॥" अर्थात्–"अपनी स्त्री और वित्तस्त्री वेश्याको छोडकर शेष समस्त स्त्रियोंमें माता बहिन और पुत्रीके समान बुद्धि रखना गृहस्थाश्रममें ब्रह्मचर्य माना जाता है" श्रीवसुनदिसैद्धातिकदेवने दर्शनप्रतिमाका स्वरूप "पचुबरसहियाइ सत्त वि वसणाइ जो विवज्जेई सम्म त्तविसुद्धमइ सो दसणसावओ भणिओ" अर्थात्–"जो पाचों उदबर सहित सप्त व्यसनोंका त्यागकर विशुद्ध सम्यग्दर्शन धारण करता है वह दर्शनिक श्रावक है" जो ऐसा कहा है उनके मतके अनुसार ब्रह्मचर्य अणुव्रतका स्वरूप इसप्रकार जानना "पव्वेसु इत्थिसेवा अणगकीडा सया विवज्जेई। थूल अड वभयारी जिणेहिं भणिदो पवयणम्मि॥" अर्थात्–"जो पर्वके दिनोंमें स्त्रीसेव नका त्याग करता है तथा अनगक्रीडाका सदा त्याग करता है उसे जिनागममें स्थूलब्रह्मचारी कहते हैं"। स्वामी समतभद्रने दर्शनिक प्रतिमाका स्वरूप जो "सम्यग्दर्शनशुद्ध ससारशरीरभोगनिर्विण्ण । पचगुरुचरणशरणो दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्य ।"

अर्थात् " जिसका सम्यग्दर्शन शुद्ध है जो ससार शरीर और भोगोंसे विरक्त है, पचपरमेष्ठीके चरणोंको ही शरण मानता है और यथार्थ मार्गको ग्रहण करता है वही दर्शनिक श्रावक है।" ऐसा कहा है उनके मतानुसार ब्रह्मचर्याणुव्रतका स्वरुप केवल अतिचार छुडानेकेलिये कहागया है ऐसा समझना चाहिये ॥ ५२ ॥

आगे—यद्यपि जो गृहस्थ श्रावक स्वीकार कियेहुये व्रतोंका पालन करता है उसके ऐसा भारी पापका बध नहीं होता है तथापि मुनिधर्म पालन करनेकेलिये जिसका अनुराग होरहा है और मुनिधर्म धारण करनेसे पहिले गृहस्थ अवस्थामें ही कामभोगोंसे विरक्त होकर श्रावकधर्मका प्रतिपालन करता है उसके वैराग्यकी उत्कृष्टता बढानेकेलिये सामान्य रीतिसे अब्रह्मके दोष दिखलाते हैं—

सतापरूपो मोहागसादतृष्णानुबधकृत् ।
स्त्रीसभोगस्तथाप्येष सुख चेत्का ज्वरेऽक्षमा ॥ ५३ ॥

अर्थ—स्त्रीसभोग सतापरूप है क्योंकि स्त्रीको स्पर्श करना चित्तको कुपित करनेका कारण है । अथवा वह सताप करनेवाला है इसलिये भी सतापरूप है, इसके सिवाय स्त्रीस-भोग करते समय हित अहितका भान नहीं रहता इसलिये वह हित अहितके विचार रहित रूप मोहको उत्पन्न करनेवाला

है, तथा शरीरको शिथिल वा कृश करता है और तृष्णाको बढाता है, क्योंकि स्त्रीसभोगसे उसकी तृष्णा दिनोंदिन बढती जाती है । यह स्त्रीसभोगका जैसा हाल है ठीक वही हाल ज्वरका है क्योंकि वह भी सतापरूप है, हित अहितके विचारको नष्ट करता है, शरीरको शिथिल वा कृश करता है और तृष्णा अर्थात् प्यासको बढाता है । इसप्रकार दोनों ही समान हैं समान दु ख देनेवाले हैं । इसलिये हे आत्मन् ! जैसे तू स्त्रीसभोगको सुख मानता है उसीप्रकार तुझे ज्वरमें भी द्वेष नहीं करना चाहिये उसमें भी सुख ही मानना चाहिये । जब दोनों ही समान दु ख देनेवाले हैं तो फिर ज्वर दूर करनेकेलिये और फिर न आनेकेलिये उपाय करना योग्य नहीं है उलटा उसमें आनद मानना चाहिये जैसा कि सभोगमें आनद मानता है । तथा यदि ज्वर जाने और फिर न आनेकेलिये उपाय करना आवश्यक है तो अपने मनसे सभोगकी इच्छा दूर करनेकेलिये और फिर उत्पन्न न होनेके लिये भी उपाय करना अत्यत आवश्यक है । इसलिये ज्वरके समान स्त्रीसभोगमें सुख नहीं है। आर्षमें लिखा भी है–स्त्रीभोगो न सुख चेत-समोहाद्गात्रसादनात् । तृष्णानुबधात्सतापरूपत्वाच्च यथा ज्वर । अर्थात्–स्त्रीसभोग ठीक ज्वरके समान है क्योंकि दोनोंसे ही चित्त मोहित हो जाता है, शरीर शिथिल हो जाता है, तृष्णा

बढती है और संताप होता है, इसलिये स्त्रीसंभोग ज्वरके समान सुख देनेवाला नहीं है । ॥ ९३ ॥

आगे—परस्त्रीसेवनमें भी सुख नहीं मिलता ऐसा उपदेश देते हैं—

समरसरसरंगोद्गममृते च काचित्क्रिया न निर्वृतये ।
स कुतः स्यादनवस्थितचित्ततया गच्छतः परकलत्रं ॥९४॥

अर्थ—समागमसमयमें परस्पर विलक्षण प्रेम होते हुये स्त्रीपुरुषोंके अंतःकरणमें परस्पर समागमकी उत्कट इच्छा उत्पन्न होती है । उस विलक्षण प्रेमसे होनेवाली उत्कट इच्छाके विना आलिंगन चुंबन आदि कोई भी क्रिया सुख देनेवाली नहीं होती तब फिर " मुझे कोई अपना या पराया मनुष्य देख न ले " इसप्रकारकी शंकारूपी रोगसे जिसका अंतःकरण चंचल हो रहा है ऐसे परस्त्रीसेवन करनेवाले पुरुषके वह अपूर्व प्रेम और वह उत्कट इच्छा कैसे उत्पन्न हो सकती है ? अर्थात् कभी नहीं, और न उसके विना उसे सुख मिल सक्ता है ॥९४॥

आगे—स्वस्त्रीसेवन करनेवाले श्रावकके भी द्रव्यहिंसा और भावहिंसा दोनों होती हैं ऐसा कहते हैं—

स्त्रियं भजन् भजत्येव रागद्वेषौ हिनस्ति च ।
योनिजन्तून् बहून् सूक्ष्मान् हिंस्रः स्वस्त्रीरतोप्यतः ॥९५॥

अर्थ—स्त्रीको उपभोग करनेवाले मनुष्यके अंत करणमें राग और द्वेष दोनों ही विकार उत्पन्न होते हैं, राग द्वेष होना ही भावहिंसा है। तथा स्त्रीकी योनिमें उत्पन्न होनेवाले अनेक सूक्ष्म जीवोंकी हिंसा भी उससे होती है यह द्रव्यहिंसा है। इसलिये स्वस्त्रीसेवन करनेवाला पुरुष दोनोंप्रकारकी हिंसा करनेसे हिंसक माना जाता है। तथा जो परस्त्रीका सेवन करता है उसके विशेष हिंसा होती है क्योंकि उसके रागद्वेषकी तीव्रता अधिक होती है। स्त्रीकी योनिमें अनेक जन्तु उत्पन्न होते रहते हैं इस बातको कामसूत्रके कर्ता वात्सायन भी मानते हैं उन्होंने अपने ग्रंथमें लिखा है—"रक्तजा कृमय सूक्ष्मा मृदुमध्याधिशक्तय । जन्मवर्त्मसु कण्डूतिं जनयति तथाविधा ।" अर्थात्—कोमल मध्यम और अधिक शक्तिवाले रक्तसे उत्पन्न हुये अनेक सूक्ष्म जीव योनिमें एक तरहकी खुजली उत्पन्न करते हैं।" इसलिये स्त्रीसभोग सदा पाप उत्पन्न करनेवाला है ॥९५॥

आगे—ब्रह्मचर्यकी महिमाकी स्तुति करते हैं—

स्वस्त्रीमात्रेण सतुष्टो नेच्छेद्योऽन्या स्त्रिय सदा ।
सोऽप्यद्भुतप्रभाव स्यात्किं वर्ण्य वर्णिन पुन ॥९६॥

अर्थ—जो पुरुष केवल अपनी विवाहित स्त्रीसे ही संतुष्ट है, कभी दूसरी स्त्रीकी इच्छा नहीं करता वह पुरुष भी

अद्भुत प्रभावशाली है अर्थात् उसकी महिमा लोगोंको आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली है। जब स्वदारसंतोषरूप एकदेश ब्रह्मचर्यकी ही इतनी महिमा है तो जो पूर्ण ब्रह्मचारी है अर्थात् स्त्रीमात्रका त्यागी है उसकी महिमाका वर्णन फिर दुवारा क्या करना? भावार्थ—उसकी अपार महिमा है, पहिले भी उसका वर्णन कर चुके है ॥ ५६ ॥

आगे—केवल अपने पतिको सेवन करनेवाली पतिव्रता स्त्रीकी पूज्यता दृष्टांतद्वारा दिखलाते हैं—

रूपैश्वर्यकलावर्यमपि सीतेव रावणं ।
परपूरुषमुज्झती स्त्री सुरैरपि पूज्यते ॥ ५७ ॥

अर्थ—जिसप्रकार सती सीताने रूप अर्थात् शरीरके आकार आदिकी सुंदरता, ऐश्वर्य अर्थात् बडप्पन, धन, आज्ञा आदिका स्वामीपना और गीत नृत्यादि रूप कला आदिसे सर्वोत्कृष्ट ऐसे रावणका त्याग किया था उसीप्रकार जो स्त्री अपने पतिसे सुंदरता, ऐश्वर्य और कला आदिसे उत्कृष्ट ऐसे भी परपुरुषका त्याग करती है वह स्त्री देवोंसे भी पूजित होती है। भावार्थ—जैसे देवोंने सीताकी पूजा की थी उसीप्रकार अन्य पतिव्रता स्त्रियां भी देवोंके द्वारा पूजी जाती हैं। जब वे देवोंके द्वारा पूजी जाती हैं तो मनुष्योंकी तो बात ही क्या है? यह अपि शब्दसे सूचित किया है। इस श्लोकमें 'परपूरुषमुज्झती' यहांपर हेतुमें शतृङ् प्रत्यय किया है उसका

यह अभिप्राय है कि स्त्री परपुरुषका त्याग करती है वह देवोंके द्वारा अवश्य पूज्य मानी जाती है। उसमें पूज्यपना पर पुरुषके त्याग करनेसे ही होता है ॥ ९७ ॥

आगे-ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतिचार कहते हैं—

इत्वरिकागमन परविवाहकरण विटत्वमतिचाराः ।
स्मरतीव्राभिनिवेशोऽनङ्गक्रीडा च पंच तुर्ययमे ॥५८॥

अर्थ—इत्वरिकागमन, परविवाहकरण, विटत्व, स्मरतीव्राभिनिवेश, और अनङ्गक्रीडा ये पांच सार्वकालिक ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतिचार है।

इत्वरिकागमन—जो दुश्चरित्रा स्त्री पति अथवा पिता आदि स्वामीके न होनेसे स्वतंत्र होनेके कारण गणिकापनेसे (द्रव्य लेकर) अथवा केवल व्यभिचारमात्रकी इच्छासे परपुरुषोंके साथ समागम करती है उसको इत्वरी कहते हैं। तथा जो प्रत्येक पुरुषके साथ समागम करनेकी इच्छा करती है या समागम करती है ऐसी वेश्या भी इत्वरी कहलाती है। यहांपर कुत्सित अर्थमें क प्रत्यय हुआ है अर्थात् कुत्सित या निंद्य इत्वरीको इत्वरिका कहते हैं। ऐसी स्त्रीको सेवन करना प्रथम अतिचार है। यह प्रकरण इसप्रकार समझना चाहिये कि ब्रह्माणुव्रती श्रावक किसी वेश्या या दासी आदि व्यभिचारिणी स्त्रीको भाड़ेरूप कुछ द्रव्य देकर किसी नियतकालपर्यंत स्वीकार करता है और उतने समयतक उसमें स्वस्त्रीकी

कल्पनाकर उसे सेवन करता है। इसलिये उसमें बुद्धिकी कल्पनासे स्वस्त्री ऐसी व्रतकी अपेक्षा होनेसे और उसे अल्पकालतक स्वीकार करनेसे सार्वकालिक व्रतका भग नहीं होता, और वास्तवमें वह स्वस्त्री नहीं है इसलिये व्रतका भग भी होता है इसप्रकार और अभग दोनों होनेसे इत्वरिकागमन भी अतिचार होता है। तथा जिसका पिता पति आदि कोई स्वामी नहीं है, जो वेश्याके समान व्यभिचारिणी है वा कोई वेश्या है ऐसी अनाथ व्यभिचारिणी स्त्री यदि स्वीकार न की हो तथापि चित्तसे उसके सेवन करनेका सकल्प करना अथवा उसके सेवन करनेकी चित्तमें लालसा रखना अतिचार है। ये ऊपर कहे हुये दोनों प्रकारके अतिचार केवल स्वदारसतोषीको ही होते हैं परस्त्री त्यागीको नहीं, क्योंकि कुछ द्रव्य लेकर ग्रहण की हुई अपरिगृहीत इत्वरिका वेश्यारूप होनेसे अथवा स्वामीके विना अनाथ होनेसे परस्त्री नहीं गिनी जाती।

तथा भाडेरूप कुछ द्रव्य देकर कुछ कालतक ग्रहण की हुई वेश्याको सेवन करनेसे व्रतका भग होता है क्योंकि वह कथचित् परस्त्री भी है और लोकमें उसे कोई परस्त्री नहीं कहना इसलिये उसके व्रतका भग नहीं भी होता है। इसप्रकार परस्त्री त्यागीके भी वेश्यासेवन अतिचार होता है। इस विषयमें कितने ही आचार्योंका ऐसा मत है कि परस्त्री त्यागी श्रावकके अपरिगृहीत कुलागना स्त्रीको सेवन करना अतिचार है क्योंकि

जिसका कोई स्वामी नहीं है ऐसी अनाथ स्त्री परस्त्री नहीं हो सकती और सेवन करनेवाला भी " यह परस्त्री नहीं है " एसी ही कल्पना करके उसे सेवन करता है इसकारण इसमें अतरग व्रतका भग नहीं होता । तथा लोकमें उसे परस्त्री कहते हैं इसकारण व्रतका भग भी हुआ इसप्रकार यह भी भग अभगरूप होनेसे अतिचार होता है । तत्त्वार्थमहाशास्त्रमें इत्वरिका परिगृहीतागमन और इत्वरिका अपरिगृहीतागमन अर्थात् सनाथ कुटिला स्त्रीको सेवन करना और अनाथ कुटिला स्त्रीको सेवन करना ऐसे दो अतिचार माने है वे भी ऊपरके कथन करनेसे सगृहीत होजाते हैं इसप्रकार परस्त्रीत्यागके अतिचार समझना । तथा परविवाहकरण आदि शेषके चार अतिचार स्वदारसतोष और परस्त्रीत्याग दोनोंमें लगते हैं । इसप्रकार प्रथम अतिचारका विवेचन जानना ।

परविवाह करण--कन्यादानके फलकी इच्छासे अथवा किसीके अनुरागसे अपनी सतानके सिवाय अन्य पुत्र पुत्रियोंके विवाह करनेको परविवाहकरण कहते है । जिसके स्वदारसतोषव्रत है उसके ऐसा नियम है कि मै अपनी स्त्रीको छोडकर अन्य जगह मन वचन कायसे मैथुन न करूगा और न कराऊगा । तथा परस्त्री त्यागवालेके स्वस्त्री और वेश्याको छोडकर दूसरी जगह मैथुन करने करानेका त्याग होता है । इसलिये दोनों प्रकारके ब्रह्माणुव्रतियोंके परविवाह करना मैथुन

करानेका कारण होनेसे पहिले ही से छूट जाता है अर्थात् व्रत लेतेसमय ही उसका त्याग हो जाता है । इसकारण अन्य पुत्र पुत्रियोंके विवाह करनेसे व्रतका भंग होता है, परंतु वे दोनों ही व्रती ऐसी कल्पना करके विवाह कराते हैं कि हम केवल इनका विवाह कराते है कुछ मैथुन नहीं कराते इसकारण व्रतका पालन भी होता है । इसप्रकार परविवाह करणसे व्रतका पालन और भंग दोनों ही होनेसे भंगाभंगरूप अतिचार होता है । जो सम्यग्दृष्टी पुरुष अव्युत्पन्न अर्थात् अल्पज्ञानी होता है जिसको हितोपदेश नहीं मिलने पाता उसको कन्यादानके फलकी इच्छा होती है । तथा जो मिथ्यादृष्टी भद्र (होनहार सम्यग्दृष्टी) होता है और अपना कल्याण करनेकेलिये जब व्रतोंको स्वीकार करता है तब उसके ऐसी इच्छा उत्पन्न हो सकती है ।

यहांपर एक शंका उत्पन्न होती है और वह यह है कि व्रती श्रावकको जिसप्रकार दूसरेके पुत्र पुत्रियोंका विवाह कर देना अतिचार होता है उसीप्रकार अपने पुत्र पुत्रियोंके विवाह करनेमें भी उसको अतिचार लगना चाहिये । परंतु इसका समाधान यह है कि यदि वह श्रावक अपनी पुत्रीका विवाह न करेगा तो उसकी पुत्री स्वच्छंदचारिणी हो जायगी और उसके स्वच्छंद होनेसे कुल, शास्त्र और लोक तीनोंमें विरोध आवेगा । यदि उसका विवाह करदिया जायगा तो वह अपने

पतिके आधीन हो जायगी और परतंत्र होनेसे फिर उससे कोई विरुद्ध कार्य नहीं हो सकेगा। इसकारण पुत्रीका विवाह करना आवश्यक है। तथा इसी न्यायसे अर्थात् इन्हीं सब कारणोंसे पुत्रका विवाह करदेना भी आवश्यक ही है। यहांपर इतना और समझलेना चाहिये कि यदि अपने कुटुंबको समालनेवाला कोई भाई आदि हो तो अपनी संतानके विवाह न करनेका नियम करलेना ही अच्छा है।

स्वदारसंतोषव्रतको धारण करनेवाला श्रावक अपनी स्त्रीसे पूर्ण संतुष्ट न होकर यदि वह अपना दूसरा विवाह करे तो भी परविवाहकरण अतिचार लगता है। क्योंकि उसने दूसरेकी कन्याका विवाह अपने साथ किया है। परकीय कन्याका विवाह करनेसे व्रतभंग और अपना विवाह करनेसे व्रतका अभंग इसप्रकार भंग अभंग दोनों होनेसे यह अपना दूसरा विवाह करना भी अतिचार होता है।

विटत्व—भंडरूप वचन कहने और रागरूप शरीरकी चेष्टा करनेको विटत्व कहते हैं।

स्मरतीव्राभिनिवेश—कामसेवनमें अत्यंत आसक्त होना अर्थात् अन्य समस्त व्यापार छोडकर केवल स्त्रीमें आसक्त होना स्मरतीव्राभिनिवेश है। इसके निमित्तसे पुरुष चिड़ियाके समान वारवार अपनी स्त्रीको आलिंगन करता है तथा और

भी अनेक कुत्सित चेष्टायें करता है, शक्तिका ह्रास होनेपर शक्तिवर्द्धक, तथा कामोद्दीपक औषधियोंका सेवन करता है और समझता है कि इन औषधियोंसे हाथी और घोडेके समान समर्थ हो जाऊगा। यह सब कामकी तीव्रता नामका चौथा अतिचार है।

अनंगक्रीडा—कामसेवन योनि मेहन अगोंसे भिन्न मुखादि अगोंमें क्रीडा करनेको अनंगक्रीडा कहते है, केश कर्षण आदिसे क्रीडा करता हुआ प्रबल रागको उत्पन्न करना, सभोग करनेके बाद भी किसी दूसरी तरह स्त्रीकी योनिको क्षुभित करना आदि कुचेष्टाओंको भी अनगक्रीडा कहते हैं। जब श्रावक महापापसे डरकर ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना चाहता है परतु चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे तज्जन्य वेदनाको सहन न कर सकनेके कारण ब्रह्मचर्य धारण कर नहीं सकता तब उस मनोविकारकी शातिके लिये स्वदारसतोष अथवा परस्त्री-त्याग व्रतको स्वीकार करता है। ऐसी दशामें जब मनो-विकारसे उत्पन्न होनेवाली वेदनाकी शाति मैथुनमात्रसे ही हो सकती है तब यह अर्थात् सिद्ध है कि विटत्व कामतीव्राभिनि-वेश और अनगक्रीडा ये तीनों ही निषिद्ध हैं अर्थात् त्याग करनेयोग्य हैं। इन तीनोंसे कुछ लाभ भी नहीं होता किंतु तत्काल अत्यत रागोद्दीपन होना, बलका नाश होना और राजयक्ष्मा आदि रोग होना इसप्रकारके अनेक दोष उत्पन्न

होजाते है । श्री सोमदेवने कहा भी है–"देह पर्यमतो मुक्त्वा भोगानाहारवद्भजेत् । देह दाहोपशात्यर्थमभिध्यानविहानये ॥" अर्थात्–"विषयोंमें लगी हुई स्पृहाको दूर करने और शरीरका सताप शात करनेकेलिये अत्यत आसक्तिको छोडकर आहारके समान भोगोंका सेवन करना चाहिये, उनका सदा चिंतवन करते रहना सर्वथा अयोग्य है" इसलिये विटत्व स्मरतीव्राभिनिवेश और अनगक्रीडा ये तीनों ही निषिद्ध है इनका आचरण करनेसे व्रतका भग होता है तथा अपने कियेहुये नियमका पालन होता है उसमें कुछ बाधा आती नहीं इसलिये व्रतका भग नहीं भी होता इसप्रकार भग अभग होनेसे ये तीनों ही अतिचार गिने जाते हैं ।

अथवा वेश्यादिके साथ विटत्व आदि करना भी अतिचार है । क्योंकि स्वदारसतोषी समझता है कि मैंने वेश्यादिमें मैथुन करनेका ही त्याग किया है और इसीलिये वह केवल मैथुनमात्रका त्याग करता है विटत्व आदिका नहीं । इसीप्रकार परस्त्रीत्यागी भी ऐसा ही समझता है कि मैंने परस्त्रीमें मैथुनमात्रका त्याग किया है उनके साथ अशिष्ट वचनोंका प्रयोग करना अथवा आलिंगन आदि करनेका त्याग नहीं किया है । इसप्रकार स्वदारसतोषी और परस्त्रीत्यागी इन दोनोंके व्रत पालन करनेकी अपेक्षा होनेसे व्रतका भग नहीं होता,

तथा वास्तवमें व्रतका भंग होता है इसलिये भंगाभंगरूप होनेसे वेश्यादिके साथ विटत्व आदि तीनों ही अतिचार होते है।

स्त्रीयोंकेलिये परविवाहकरण आदि चार अतिचार तो ऊपर लिखे अनुसार ही जानना और प्रथम अतिचार इसप्रकार समझना कि जिस दिन अपने पतिकी वारी किसी सौतके यहा हो उस दिन वह उसे सौतके यहा जानेसे रोककर उससे स्वय भोग करे तो उसके प्रथम अतिचार होता है। क्योंकि उस दिन वह अपना पति भी पर पुरुषके समान है। अथवा कारणवश जिसने ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया है ऐसा अपना पति भी उस-केलिये परपुरुषके समान है यदि उसके साथ वह भोग करे तो उसकेलिये वह अतिचार है। वह उस स्त्रीका पति है इ-सलिये बाह्य व्रतका भग नहीं होता परतु सौतकी वारीके दिन वह परपुरुषके समान है अथवा कारणवश ब्रह्मचर्य अवस्थामें भी वह परपुरुषके समान है। इसलिये उसके साथ भोग क-रनेसे उसके अतरग व्रतका भग होता है। इसप्रकार भग अभग होनेसे अतिचार होता है ॥ ५८ ॥

आगे—परिग्रहपरिमाण अणुव्रतको कहते है—

ममेदमिति सकल्पश्चिदचिन्मिश्रवस्तुषु ।
प्रथस्तत्कर्शनात्तेषा कर्शन तत्प्रमाव्रत ॥५९ ॥

अर्थ—स्त्री पुत्र आदि चेतनरूप, घर सुवर्ण आदि अचेतनरूप और जिनमें चेतन तथा अचेतन दोनों ही मिले

हों ऐसे बाह्य बगीचा गांव आदि तथा अतरग मिथ्यात्व आदि वस्तुओंमें " यह पुत्र मेरा है, यह बगीचा मेरा है, यह घर मेरा है, मैं इसका स्वामी हूं " ऐसा जो सकल्प है अर्थात् मनका अभिप्राय वा ममत्व परिणाम है उसे मूर्च्छा वा परिग्रह कहते हैं। उस ममत्वरूप परिणामोंके घटानेसे जो चेतन, अचेतन अथवा मिली हुई वस्तुओंको कम करना अर्थात् उनका परिमाण कर लेना परिग्रहपरिमाण अणुव्रत है ॥५९॥

आगे—अतरग परिग्रहके त्याग करनेका उपाय बतलाते हैं—

उद्यत्क्रोधादिहास्यादिषट्कवेदत्रयात्मक ।
अतरग जयेत्सग प्रत्यनीकप्रयोगत ॥ ६० ॥

अर्थ—जब क्रोधादिका उदय होता है तब उनका जीतना अत्यत कठिन है इसलिये उदयमें आये हुये प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन सबधी क्रोध, मान, माया, लोभ, तथा हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा और स्त्रीवेद पुवेद नपुसक वेद सबधी राग ये अतरग परिग्रह परिग्रहपरिमाणाणुव्रती श्रावकको उत्तमक्षमा आदि क्रोधादिके प्रतिकूल भावोंसे जीतने चाहिये। भावार्थ—क्षमासे क्रोध, मार्दवसे मान, आर्जवसे माया और शौचसे लोभ जीतना चाहिये। हास्य रति आदि परिग्रहोंको भी समता आदि परिणामोंसे जीतना चाहिये। अतरग परिग्रह चौदह हैं और यहापर तेरह ही गीनाये हैं

इसका कारण यह है कि यह कथन देशसयमीके लिये है। देशसयम अनतानुबधी तथा अप्रत्याख्यानावरण सबधी क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्वके निग्रह करनेसे ही होता है इसलिये देशसयम प्राप्त होनेके पूर्व ही मिथ्यात्वका विजय हो चुकनेके कारण यहापर उसका ग्रहण नहीं किया है ॥६०॥

आगे–बहिरग परिग्रहके त्याग करनेकी विधि कहते है–

अयोग्यासयमस्याग सग बाह्यमपि त्यजेत् ।
मूर्च्छाङ्गत्वादपि त्यक्तुमशक्य कृशयेच्छनै ॥६१॥

अर्थ–परिग्रहपरिमाणाणुव्रती श्रावक जिसप्रकार अतरग परिग्रहोंका त्याग करता है उसीप्रकार उनके साथ साथ जो घर खेत आदि बाह्य परिग्रह मोहनीय कर्मके उदयसे होनेवाले श्रावकके करनेके अयोग्य ऐसे अनारभी त्रस जीवोंकी हिंसा, व्यर्थ स्थावर जीवोंकी हिंसा और परस्त्रीगमन आदि असयमका कारण है उसका भी उसे त्याग कर देना चाहिये। तथा जिन बाह्य परिग्रहोंका वह त्याग नहीं कर सकता उनको शास्त्रानुसार ज्यों ज्यों समय व्यतीत होता जाय त्यों त्यों धीरे धीरे घटाते जाना चाहिये। क्योंकि परिग्रहरूप सज्ञा इस जीवके साथ अनादिकालसे लगी हुई है वह एक साथ छोडी नहीं जा सकती। कदाचित् एक साथ उसका त्याग कर भी दिया जाय तो उसकी वासनाके सबधसे उसके व्रतमें भग हो जाना

संभव है। इसलिये श्रावकको अनुक्रमसे धीरे धीरे बाह्य परिग्रहका त्याग करना चाहिये। यहांपर पहिला अपि शब्द समुच्चय अर्थमें है और सूचित करता है कि अंतरंग परिग्रहके साथ साथ त्यागने योग्य बाह्य परिग्रहका भी त्याग करे ॥६१॥

आगे—इसी विषयको स्पष्ट करते हैं—

देशसमयात्मजात्याद्यपेक्षयेच्छां नियम्य परिमायात्।
वास्त्वादिक्मामरणात्परिमितमपि शक्तितः पुनः कृशयेत् ॥६२॥

अर्थ—श्रावकको देश, काल, आत्मा, जाति और आदि शब्दसे वंश, वय तथा योग्यता इनकी अपेक्षा रखकर अर्थात् जिसमें इन सबका निर्वाह हो सके ऐसी रीतिसे परिग्रहकी तृष्णाको संतोषकी भावनासे निग्रहकर मरणपर्यंततकके लिये घर, खेत, धन, धान्य, दासीदास आदि द्विपद, गाय, घोडा आदि चतुष्पद, शय्या, आसन, रथ बग्घी आदि सवारी और बर्तन वस्त्र आदि कुप्यभांड इन दशप्रकारके बाह्य परिग्रहोंका परिमाण करना चाहिये। तथा निष्परिग्रहकी भावनासे उत्पन्न हुई अपनी शक्तिकी अपेक्षासे अर्थात् तृष्णा घट जानेपर जिनका परिमाण किया जा चुका है ऐसे घर खेत आदि परिग्रहको भी घटाते जाना चाहिये। भावार्थ—जन्मभरकेलिये तो सबका परिमाण करलेना ही चाहिये और फिर उसमेंसे भी शक्तिके अनुसार घटाते जाना चाहिये ॥६२॥

आगे—वक्रोक्तिसे परिग्रहमें दोष दिखलाते है—

अविश्वासतमोनक्तं लोभानलघृताहुतिः ।
आरम्भमकराम्भोधिरहो श्रेयः परिग्रहः ॥६३॥

अर्थ—यह परिग्रह अविश्वासरूपी अंधकारके होनेमें रात्रि है अर्थात् जैसे रात्रिमें अंधकार और अंधकारसे दुःख होता है उसीप्रकार परिग्रहसे अविश्वास और अविश्वाससे दुःख हुआ करता है। इसीतरह यह परिग्रह लोभरूपी अग्निके प्रज्वलित करनेकेलिये घीकी आहुति, अर्थात् जैसे घीकी आहुतिसे अग्नि बढती है उसीप्रकार परिग्रहसे लोभ बढता है और अग्नि जैसे संताप बढानेवाली है उसीप्रकार लोभमें भी संताप बढता है। भावार्थ—परिग्रहसे लोभ और लोभमें संताप बढता है। तथा यह परिग्रह खेती व्यापार आदि आरंभरूपी मगर मत्स्य आदिकोंका समुद्र है अर्थात् जैसे समुद्रमें मगर मत्स्य आदि उत्पन्न होते हैं उसीप्रकार परिग्रहसे खेती व्यापार आदि होते हैं और मगर मत्स्य जैसे त्रास और मृत्युके कारण हैं उसीतरह खेती व्यापार आदि भी त्रास और मृत्युके कारण हैं। भावार्थ—परिग्रहसे खेती व्यापार और खेती व्यापारसे अनेक तरहके त्रास और मृत्यु आदि दुःख उठाने पडते हैं। इसप्रकारका (सब तरहसे दुःख देनेवाला) भी परिग्रह मनुष्योंका कल्याण करनेवाला और सेवन करने योग्य है यह बडा भारी आश्चर्य है। अभिप्राय यह है कि परिग्रहसे कभी किसीका आत्मकल्याण नहीं हो सकता और न वह सेवन करने ही योग्य है ॥ ६३ ॥

आगे-परिग्रहपरिमाणके पाच अतिचार छोडनेके लिये कहते हैं-

वास्तुक्षेत्रे योगाद्धनधान्ये बंधनात्कनकरूप्ये ।
दानात्कुप्ये भावान्न गवादौ गर्भतो मितिमतियात् ॥६४॥

अर्थ-घर खेत इन दोनोंमें दूसरा घर अथवा दूसरा खेत मिलाकर कियेहुये परिमाणका अतिक्रमण नहीं करना चाहिये। तथा रज्जू आदिसे बाधकर और वचनबद्ध करके धन धान्यके परिमाणका अतिक्रमण नहीं करना चाहिये। दूसरेको देकर सोने चादीमें और परिणामोंसे ताबे, पीतल, काष्ठ, पाषाण आदिकी वस्तुओंमें अतिक्रमण नहीं करना चाहिये, और घोड़ी गाय आदि पशुओंमें गर्भके आश्रयसे अतिक्रमण नहीं करना चाहिये। भावार्थ-इनमें अतिक्रमण करना परिग्रहपरिमाणके अतिचार हैं। अब इसीको विस्तारके साथ कहते हैं।

वास्तुक्षेत्र-घर गाव नगर आदिको वास्तु कहते हैं। घर तीन प्रकारके होते हैं खात, उच्छ्रित और खातोच्छ्रित। भूमिके नीचेके तलघरको खात, भूमिपर बनायेहुये मकानको उच्छ्रित और जिसमें तलघर और ऊपर दुमजिल तिमजिल आदि मकान बने हों उसे खातोच्छ्रित कहते है। जिसमें अन्न उत्पन्न हो ऐसी भूमिको खेत कहते हैं उसके भी तीन भेद हैं- सेतु, केतु और उभय। जो खेत केवल कूप, बावडी आदिसे सींचे जाते हैं उन्हें सेतु, जो केवल वर्षाके जलसे सींचे जाते हैं

उन्हें केतु और जो दोनोंसे सींचे जाते हैं उन्हें सेतुकेतु कहते हैं। घर और खेत इन दोनोंमें दीवाल या खेतकी हद्द तोडकर दो तीनको एकमें मिलाकर परिग्रहका परिमाण करनेवाले श्रावकको अतिक्रमण नहीं करना चाहिये। जिस श्रावकने मरणपर्यंत अथवा चतुर्मास आदि किसी नियमित काल पर्यंत देव गुरु आदिकी साक्षीपूर्वक जितना परिग्रहपरिमाणरूप व्रत स्वीकार किया है उसको घरकी दीवाल हटाकर दूसरी जगह खडी करनेसे घरकी मर्यादा नहीं बढानी चाहिये अथवा घरोंकी सख्या भी नहीं बढानी चाहिये। तथा खेतकी हद्द बढाकर उसकी मर्यादा अथवा खेतोंकी सख्या भी नहीं बढाना चाहिये। मै अपना घर बड़ा करता हू या खेत बडा करता हू कुछ घर या खेतकी सख्या नहीं बढाता " ऐसा समझकर हाथ वा गजोंका परिमाण नापते समय नहीं बढा देना चाहिये। क्योंकि ऐसा करनेसे व्रतका भग होता है और बढानेवाला समझता है कि-" मैंने घर बढाया है घरोंकी सख्या नहीं बढाई तथा खेत बढाया है खेतोंकी सख्या नहीं बढाई " इसप्रकार व्रतका पालन भी होता है। इसप्रकार भग अभग रूप होनेसे यह पहिला अतिचार होता है।

धनधान्य-धनके चार भेद हैं गणिम, धरिम, मेय, और परीक्ष्य। सुपारी, जायफल आदि गिनकर देनेकी चीजोंको गणिम, केशर कपूर आदि अदाजमे देनेकी चीजोंको धरिम, तेल, घी, नमक आदि मापकर देनेकी चीजोंको मेय और रत्न वस्त्र आदि परीक्षाकर लेने देनेकी चीजोंको परीक्ष्य कहते है।

चावल जौ आदि सत्तह प्रकारके धान्य कहलाते हैं। किसीने कहा भी है—"चावल, जौ, मसूर, गेहू, मूग, उडद, तिल, चना, कोदों, मोठ, कागनी, अण, शालि, आढकि, सण, मटर, कुलथी ये सत्तह धान्य कहलाते हैं। अपने घरके धनधान्य निकजानेपर अथवा किसीतरह खर्च हो जानेपर दूसरे धनधान्य खरीदूंगा ऐसी इच्छा करना अथवा किसीको खरीदनेका वचन देकर जबतक अपने सब धान्यादिक बिक न जावें अथवा खर्च न हो सकें तबतक उनको उसीके घरमें रखना दूसरा अतिचार है। उन धनधान्यादिकोंको अपने घरमें न रखनेसे व्रतका पालन और परिणामोंसे उनका बंधन करनेमें भंग इसप्रकार भंगाभंग रूप अतिचार होता है। परिग्रहपरिमाणाणुव्रती श्रावकको ऐसा अतिचार कभी नहीं लगाना चाहिये।

कनकरूप्य—सुवर्णको कनक और चांदीको रूप्य कहते हैं। इन दोनोंके कृत्रिम अकृत्रिम आदि अनेक भेद होते हैं। किसी राजा आदिके प्रसन्न होनेपर अपने नियममें भी अधिक द्रव्य आया हो तो उसको " मेरे परिग्रहपरिमाणकी अवधि पूर्ण होनेपर वापिस लौटाऊंगा " ऐसे अभिप्रायसे किसीको देना वा धरोहर रखदेना तीसरा अतिचार है। उस सोने चांदीको घरमें न रखनेसे व्रतका पालन होता है और परिणामोंसे व्रतका भंग होता है इसप्रकार भंगाभंगरूप होनेसे अतिचार होता है। परिग्रहपरिमाणाणुव्रती श्रावकको इसप्रकार अपने परिमाणका अतिक्रमण नहीं करना चाहिये।

कुप्य—सोने चांदीके सिवाय लोहे, कांसे, तांबे, सीसे आदि धातुओंके पदार्थ, मिट्टीके बर्तन, बांसकी चीजें, ७५

रथ, गाडी, हल आदि पदार्थोंको कुप्य कहते हैं। इन पदार्थों-का परिमाण करके कारणवश अधिक होनेपर उन सबका समावेश अपनी नियमित संख्यामें करनेकेलिये समान वर्तनोंको एक जोडी मानना, अथवा छोटेछोटे अनेक वर्तन मिलाकर बडे बनाना, अथवा नियमित समयके अनंतर वापिस लेनेकी इच्छासे दूसरी जगह रखना अथवा किसीको मांगे देदेना आदि परिणामोंसे परिमितिपरिग्रहका अतिक्रमण नहीं करना चाहिये। अतिक्रमण करनेसे चौथा अतिचार होता है। इन पदार्थोंकी जो संख्या नियत की है यदि किसीतरह उनकी दूनी संख्या हो जाय तो व्रतके भंग होनेके डरसे वह अपने परिणामोंमें दो दोको मिलाकर उसे एक एक जोडी कल्पना करता है अथवा छोटे छोटे वर्तनोंके बदले बडे बडे बनवा लेता है। इसप्रकार वह अपनी संख्या उतनी ही समझता है इसलिये व्रतका भंग नहीं होता और वास्तवमें व्रतका भंग होता है इसलिये भंगाभंगरूप होनेसे अतिचार माना जाता है। अथवा भावका अर्थ अभिप्राय भी है। केवल अभिप्रायसे वर्तन वस्त्र आदि चीजोंकी संख्या बढालेना अतिचार है जैसे मनमें चाहनेकी इच्छा रखकर चीज लानेवाले आदमीसे कहदेना कि मेरे नियमकी मर्यादा पूर्ण होनेपर ले लूंगा तुम किसी दूसरेको नहीं देना। ऐसी व्यवस्था करदेना भी अतिचार है।

गवादौ गर्भतः—द्विपद चतुष्पद आदिके समूहको गवादि कहते हैं। आदि शब्दसे हाथी, घोडे, भैंस आदि चतुष्पद तथा तोता मैना आदि और दासी पहरेदार आ नौकर चाकरोंका ग्रहण इन गाय, भैंस,

आदिमें गर्भ धारण कराकर अपनी नियत की हुई सख्याका उ-
लघन कभी नहीं करना चाहिये । यहापर गर्भ धारण कराकर
यह उपलक्षण है इस उपलक्षणसे जो अपने काम नहीं आते
ऐसे यथायोग्य गाय भैंस आदि रखकर अथवा मनमें अधिक
रखनेकी इच्छा रखकर नियत सख्याका उलघन कभी नहीं
करना चाहिये । जिसके एक वर्षके लिये चार पशु रखनेका
परिमाण है और उसके दो घोडे तथा दो गाय है । यदि वह
अभी उन गायोंके गर्भ धारण करावेगा तो वर्षके भीतर ही
पाच या छह सख्या हो जायगी और व्रत भग हो जायगा ऐसा
समझकर तीन या चार महीने बाद गर्भ धारण कराना कि जिससे
नियत मर्यादाके बाहर प्रसूति हो । यह पांचवा अतिचार है
क्योंकि बाहरमें चार ही पशु दिखाई पडते हैं इसलिये व्रतका
भग नहीं होता तथा उदरमें पाचवीं वा छट्टी सख्या होनेसे
व्रतका भग होता है इसप्रकार भगाभगारूप अतिचार होता है।

ये अतिचार "क्षेत्रवास्तु हिरण्यसुवर्ण धनधान्य दा-
सीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमा" इस तत्त्वार्थ महाशास्त्रके अनु
सार कहे गये है। स्वामी समतभद्राचार्यने "अतिवाहनाति
सग्रहविस्मयलोभातिभारवहनानि । परिमितपरिग्रहस्य च
विक्षेपा' पच लक्ष्यते ॥" अर्थात्–"अतिवाहन, अतिसग्रह,
विस्मय, लाभ, और अतिभारवहन ये पाच अतिचार माने हैं ।
लोभके वशीभूत होकर मनुष्य अथवा पशुओंको शक्तिसे
अधिक जबर्दस्ती चलाना अतिवाहन है । आगे इन धान्योंमें
बहुत लाभ होगा यही समझकर लोभके वशसे उनका अधिक
सग्रह करना अतिसग्रह है । जो धान्य अथवा दूसरा पदार्थ

थोडे नफेसे वेच दिया हो अथवा जिसका सग्रह भी स्वय न किया हो ऐसे पदार्थको बेचकर किसी दूसरेने अधिक नफा उठाया हो उसे देखकर विषाद करना विस्मय है। योग्य लाभ होने पर भी और अधिक लाभ होनेकी आकाक्षा करना लोभ है। लोभके वशसे शक्तिसे अधिक बोझा लादनेको अतिभारारोपण कहते हैं।

श्री सोमदेवने " कृतप्रमाणो लोभेन धान्याद्यधिक सग्रह । पचमाणुव्रतज्यानिं करोति गृहमेधिना ॥ " अर्थात्– लोभसे किये हुये परिमाणसे धान्यादिका अधिक सग्रह करना गृहस्थोंके पाचवें अणुव्रतकी हानि करता है। " ऐसा कहा है। स्वामी समतभद्राचार्य और श्री सोमदेवने जो अतिचार कहे हैं वे ऊपर लिखेहुये अतिचारोंसे भिन्न है तथापि " परेऽप्यूह्यास्तथात्यया " अर्थात् " ऐसे और भी अतिचार कल्पना कर लेना " इसप्रकार ग्रथकारके कहनेसे सबका सग्रह हो जाता है। भावार्थ–ये सब अतिचार माने जाते हैं ॥ ६४ ॥

आगे–इसप्रकार निर्दोष परिग्रहपरिमाण व्रत पालन करनेवालेको कैसा फल मिलता है सो दृष्टान्त देकर बतलाते हैं–

य परिग्रहसख्यानव्रत पालयतेऽमल ।
जयवञ्जितलोभोऽसौ पूजातिशयमश्नुते ॥ ६५ ॥

अर्थ–जो मनुष्य परिग्रहपरिमाण व्रतको निरतिचार पालन करता है वह लोभको जीतनेवाला निर्लोभी मनुष्य कुरुराजा मेघेश्वर (जयकुमार)के समान उत्तम पूजा अर्थात् आदर सत्कारको प्राप्त होता है। भावार्थ– इद्रादि देव भी उसकी पूजा करते हैं ॥ ६५ ॥

आगे-इसप्रकार वर्णन किये हुये पांचों अणुव्रतोंको निरतिचार पालन करनेवाले श्रावकको निर्मल सातों शील पालन करनेकेलिये उत्तेजित करनेको उसका प्रभाव वर्णन करते हैं-

पञ्चाप्येव मणुव्रतानि समतापीयूषपानोन्मुखे
सामान्येतरभावनाभिरमलीकृत्यार्पितान्यात्मनि ।
त्रातु निर्मलशीलसप्तकमिदं ये पालयन्त्यादरात्
ते सन्यासविधिप्रमुक्ततनव सौर्वी श्रियो भुंजते ॥६६॥

अर्थ-जो भव्य इसप्रकार मैत्री प्रमोद आदि सामान्य भावना और प्रत्येक व्रतकी पांच पांच विशेष भावनाओंसे अतिचारोंको निवारण कर समतारूप अमृतके पान करनेकेलिये सन्मुख ऐसे आत्मामें परिणत किये गये पांचों अणुव्रतों अथवा एक दो चार आदि अणुव्रतोंकी रक्षा करनेकेलिये आगे कहेहुये सातों शीलोंको बडे आदरसे पालन करते हैं वे निर्मल अणुव्रत और शीलव्रत पालन करनेवाले जीव इस ग्रंथके अंतिम अध्यायमें कही हुई समाधिमरणकी विधिसे शरीर छोडकर सौधर्मादि सोलह स्वर्गोंमें प्राप्त होनेवाली अनुल संपदाका अनुभव करते हैं।

ऊपर जो "भावनाओंसे अतिचारोंको निवारण कर" ऐसा लिखा है उससे ग्रंथकारने व्रतोंके उद्योतन करनेकी सूचना दी है तथा "आत्मामें परिणत कियेगये" यह जो लिखा है उससे ग्रंथकारने व्रतोंके उद्यापन करनेको प्रगट किया है ॥ ६६ ॥

इसप्रकार पंडितप्रवर आशाधर विरचित स्वोपज्ञ (निज विरचित)
सागरधर्मामृतको प्रगट करनेवाली भव्यकुमुदचन्द्रिका
टीकाके अनुसार नवीन हिंदी भाषानुवादमें धर्मामृतका
तेरहवां और सागरधर्मामृतका चौथा
अध्याय समाप्त हुआ ।